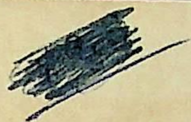
[illegible]





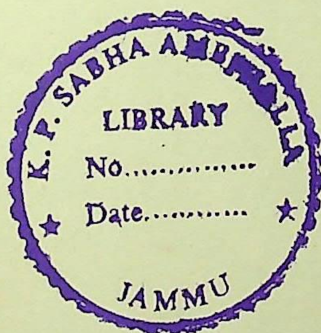


प्रेमचन्द

चिन्तन और कला

सम्पादक

डा० इन्द्रनाथ मदान



प्रकाशक

सरस्वती प्रेस, बनारस

मूल्य :
पाँच रुपया



मुद्रक :
पं० बिशेश्वर नाथ भार्गव,
भार्गव प्रेस, प्रयाग।

प्रेमचन्द : चिन्तन और कला

प्रेमचन्द चिन्तन और कला
प्रेमचन्द चिन्तन और कला

सूची

प्रेमचन्द : एक सामाजिक अनुशीलन

[डा० इन्द्रनाथ मदान]

कलाकार के दर्शन या जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को उसकी कृतियों से अलग करना अनुचित है। विचारक प्रेमचन्द को कलाकार प्रेमचन्द से अलग नहीं किया जा सकता। प्रेमचन्द यदि महान हैं तो इसलिए कि उन्होंने किसानों के मानसिक-गठन और मध्यवर्ग के दृष्टिकोण को अपनी कृतियों में पूरे विश्वास और उत्साह के साथ वाणी दी। यह वाणी उस समय दी जिस समय इस देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। उनके ग्रन्थों में किसानों की पुंजीभूत घृणा और कटुता की झलक मिलती है। उनमें उस पूँजीवाद या पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध निम्न तथा मध्यवर्ग के विरोध और घृणा के भी दर्शन होते हैं, जो इस युग में देश में व्याप्त हो रही थी। प्रेमचन्द ने १६०५ से लेकर १६३६ तक अपने साहित्य का सृजन किया। यह युग सामन्तशाही के आभिजात्य में बदलने का संक्रान्ति काल था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'आत्मकथा' में इस युग का स्पष्ट चित्र अंकित किया है। वे कहते हैं—"असल में सारी राजनीति मध्यवर्ग तक ही सीमित थी और नरमदली और गरमदली दोनों समान रूप से उसमें भाग लेकर विकास के लिए अलग-अलग मार्ग बताते थे। नरम-दली नेता विशेष रूप से उन मुट्ठी भर उच्च वर्ग के लोगों का नेतृत्व करते थे जो ब्रिटिश-शासन में खूब फलेफूले थे और कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं चाहते थे, क्योंकि इससे उन्हें भय था कि कहीं उनकी वर्तमान स्थिति और स्वार्थ खतरे में न पड़ जाय। गरम-दली नेता भी मध्यवर्ग के निचले भाग के प्रतिनिधि थे। कारखानों में काम करनेवाले वे मज़दूर, जिनका बहुत-सा भाग युद्ध की भेंट चढ़ चुका था, कुछ स्थानों में सामान्य रूप से संगठित थे और उनका प्रभाव भी बहुत कम था। किसानवर्ग मूढ़, गरीबी में फँसा हुआ और अपने दुर्भाग्य को रोनेवाला था। वह हाथ धरे बैठा हुआ सरकार, ज़मींदार, साहूकार, छोटे

सरकारी अफ़सर, पुलिस, वकील और पण्डे-पुजारियों द्वारा शोषित हो रहा था।" यह विशद चित्र पण्डित नेहरू ने उस संक्रान्तिकाल का दिया है जब एक ओर ज़मीदारी प्रथा के विरुद्ध देहात में वह पुराना और निरन्तर बढ़ने वाला असन्तोष था, जिसने १६२०-२२ और १६३०-३२ के राष्ट्रीय आन्दोलन में ज़ोर पकड़ा और दूसरी ओर उस मज़दूरवर्ग का आकस्मिक उत्थान था, जो पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ नवीन शक्ति लेकर जागा था। देहात में रहने वाले प्रेमचन्द उन सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों से भली भाँति परिचित थे, जो जनता के जीवन में हो रहे थे। वह जानते थे कि किसानों पर लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ रहा है और उसके कारण उनकी कमर टूटी जा रही है। उन्होंने यह भी देखा था कि कैसे किसान दिन-भर कठिन परिश्रम करते हैं और इस प्रकार जो पैदा करते हैं उस पर उनका कोई अधिकार नहीं होता। 'गोदान' का होरी ऐसे किसान का जीता-जागता चित्र है, जो भूख, बीमारी, उपेक्षा, पीड़ा और मृत्यु के साथ संघर्ष करता है।

प्रेमचन्द ने जिस अनेक समस्याओं को अपने उपन्यासों और कहानियों में उठाया है, उनको समझने के लिए ज़मीदारी प्रथा का पूरा-पूरा ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान के आधार पर उनके ग्रन्थों का अध्ययन अधिक सुगमता से किया जा सकता है और इससे उनके चरित्रों तथा सामाजिक उद्देश्य को भी अधिक अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। कहानियों के बहुत से पात्र, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया, गरीब किसानों और मध्यवर्ग के जमीदारों से लिये गये हैं। बड़े ज़मीदारों ने अपने को संघर्ष से अलग रखा। जहाँ तक उनके वर्ग का सम्बन्ध है वे भौतिक और मानसिक रूप से पतित हो चुके थे। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि उनके दिन बीत चुके थे। कृषक-वर्ग युगों की तन्द्रा से जाग रहा था और नवीन चेतना पा रहा था। इसका कुछ श्रेय एक विशिष्ट व्यक्ति के नेतृत्व को था जिसने उत्तर प्रदेश के उन ज़िलों में किसानों को आन्दोलन के लिए संगठित किया, जिनमें दरिद्रता असह्य हो उठी थी। रामचन्द्र ने, यह कहा जाता है, ज़मीदारों और पुलिस की मिली-जुली शक्ति का पूरे साल भर तक डट कर मुक़ाबला किया। इस आन्दोलन में किसानों ने पूरा-पूरा भाग लिया। प्रेमचन्द ने गाँव में रह कर इस आन्दोलन को अपनी आँखों से देखा था और

इसे पूरी तरह सोचा समझा था। यह १६२१ के पहले की बात है।

इसी तरह १६२६ में कीमतों के गिरने से दुनियाँ में निराशा की जो लहर आयी उसने कृषि-सम्बन्धी एक भारी संकट पैदा कर दिया। पण्डित नेहरू के शब्दों में १६२६ का वर्ष ऐसा था, जिसमें सारे देश भर में निरन्तर राजनीतिक हलचल बनी रही। इस समय मज़दूरों का आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ रहा था। किसान भी आन्दोलित थे। इस युग की प्रमुख राजनीतिक घटनाएँ—उत्तर प्रदेश का १६३० का करबंदी आन्दोलन और १६३१ का दिल्ली पैक्ट महत्व-पूर्ण थे। इस पैक्ट में सरकार के साथ समझौते की नीति का स्पष्टीकरण है। पण्डित गोविन्दवल्लभ पंत को प्रान्तीय सरकार के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए विशेष अफ़सर नियुक्त किया गया। इस काल की परिस्थिति का विस्तृत विवेचन हमें 'कर्मभूमि' के समझने और अध्ययन करने में सहायक होगा। 'कर्मभूमि' इस युग के बाद १६३२ में लिखा गया। वह ऐसा ग्रन्थ है जिसमें इस काल में घटनेवाली छोटी-से-छोटी घटना का भी उल्लेख मिलता है। यह उपन्यास इस युग की घटनाओं पर ही नहीं लिखा गया, वरन् इसमें उन व्यक्तियों का भी दर्शन होता है जिन्होंने इस संघर्ष काल में विशेष काम किया। ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यास के नायक अमरकान्त की प्रेरणा का स्रोत पण्डित पंत ही हैं। अमरकान्त उपन्यास में वही काम करता है जो इस संकट-काल में इस राजनीतिक नेता ने किया। कृषि-सम्बन्धी वस्तुओं के मूल्य में जो सहसा कमी १६२६ में हो गयी, और जिसने किसानों की स्थिति को बड़ी तेज़ी से बिगाड़ दिया, वह इस कहानी के सामान्य ढाँचे का प्राण है। इस आर्थिक मन्दी के कारण कृषि-सम्बन्धी ऋण बढ़ने लगा और भूमि की आय पर रहने-वाले सभी वर्ग उन महाजनों के शिकार हो गये जिनका अस्तित्व गाँव की व्यव-स्था को स्थिर रखने के लिए आवश्यक था। किसान भूखों मरने लगा, महाजन और अधिक शक्तिशाली हो गया और उसने परिस्थिति से पूरा-पूरा लाभ उठाया। इसकी एक झलक 'गोदान' में मिलती है। इस उपन्यास में महाजनों द्वारा किसानों के उस क्रूर शोषण की कहानी है, जिसमें किसान की बोटी-बोटी महा-जन के भेंट चढ़ जाती है। परिणाम-स्वरूप वह किसान जो अब तक अपनी ज़मीन का मालिक था, अब महाजन का नौकर बन गया।

प्रेमचन्द ने इस युग को ठीक-ठीक चित्रित किया है। उन्होंने इसे एक भावुक कलाकार की आँखों और एक गंभीर विचारक के मस्तिष्क से देखा और अनुभव किया। उन्होंने युग की गूढ़ समस्याओं का तो चित्रण किया; परन्तु वे उसकी उलझनों को पूरी तरह से समझ नहीं पाये। वे महान् हैं क्योंकि उन्होंने अपने समय के आधारभूत वर्णों को समझा था। उन्होंने जनता की जीवन-प्रणाली को भी समझा और उसे अपनी कृतियों में व्यक्त किया। वे और भी महान् बने होते, यदि उन्होंने विकास के मार्गों को भी समझा होता। यह ठीक है कि प्रेमचन्द ने पूँजीवाद के विरुद्ध, शहर के विरुद्ध, विदेशी शासक के विरुद्ध और उस सबके विरुद्ध जो प्राचीन परम्परा को नष्ट कर रहा था क्रोध और घृणा दोनों को जाग्रत किया। 'रंगभूमि' का सूरदास इस परम्परा का प्रतीक है। इस उपन्यास में लेखक का विरोध उस पूँजीवाद और औद्योगीकरण के विरुद्ध व्यक्त हुआ है जिसने आपस के सहयोग पर आधारित गाँव की व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि टाल्स्टाय और गांधी ने उनके दृष्टिकोण को निश्चित किया है और मस्तिष्क को प्रभावित किया है। गांधीवाद की विचारधारा ने जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को इस सीमा तक निर्मित किया है कि वह पूर्ण रूप से अपने को अपने गुरु से प्रभावित पाता है। कोई भी लेखक चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो अपने युग की उपज होता है। वह प्रकृति और समाज का अध्ययन और अनुशीलन करते समय जीवन और उसकी समस्याओं के सम्बन्ध में पहले से निश्चित दृष्टिकोण को ही आधार बनाता है। ठोस सामग्री के प्रति उसका दृष्टिकोण, पात्रों के एक विशिष्ट संप्रदाय को स्पष्ट या अस्पष्ट करने की प्रवृत्ति का रहस्य उसके जीवन के प्रति दृष्टिकोण में ही निहित रहता है। कलाकार की दृष्टि का प्रभाव उसकी कृति पर सीधा पड़ता है। यदि गहराई से देखा जाय, तो पता चलेगा कि प्रेमचन्द का पूर्ण रूप से आदर्शात्मक दृष्टिकोण काल्पनिक है, लेकिन फिर भी इसमें ऐसा तत्त्व है जो निश्चित मूल्य और महत्व रखता है। उनकी कलात्मक कृतियों में निकट भूत की सभी बातें मिल जाती हैं। जिस समय वे मध्यवर्ग और किसानों का चित्र चित्रित करते हैं उस समय उसका रूप विशेष रूप से निखर उठता है। उनके श्रेष्ठतम उपन्यासों की पृष्ठ-भूमि किसानों का जीवन है। लेखक

किसानों की वेदना को इतनी तीव्रता से अनुभव करता है कि ज़मींदारों और धनियों के अत्याचार पर वह काँपता हुआ-सा जान पड़ता है। इसके साथ कलात्मक वर्णन में संयम और दृढ़ता को बनाये रखने में वह बहुत कुशल है।

प्रेमचन्द लेखकों के उस वर्ग से सम्बन्धित हैं, जो नैतिक उपदेशों के एक विशेष स्वर को स्वीकार करता है और उपन्यास का उपयोग सामाजिक उपदेश और सामाजिक आलोचना के लिए करता है। वे सामयिक जीवन का चित्रण इसलिए करते हैं कि अपने वर्ग के सामाजिक और नैतिक आदर्शों की दृष्टि से उसके गुण-दोष का निर्णय हो सके। उनके उपन्यासों की केन्द्रीय भावना प्रमुख रूप से सामाजिक है। प्रेमचन्द प्रथम भारतीय उपन्यासकार हैं जिन्होंने किसानों और निम्न-मध्यवर्ग का चित्रण बड़ी तत्परता और निष्पक्षता के साथ किया है। उन्होंने उनका अध्ययन एक तटस्थ दर्शक की भाँति नहीं किया बल्कि वे स्वयं उनका अंग बन गये हैं। उनके यथार्थवाद के मूल में किसानों की आत्मा को नष्ट करनेवाली यंत्रणा के दर्शन होते हैं। इस कारण उनकी कला में गम्भीर मानवीय विशेषता है और प्रेम का संदेश है। उनकी कलात्मक कृतियाँ हमारे लिए इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उन्होंने केवल किसानों और निम्नवर्ग का चित्रण किया है। वे इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने अपने युग की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों के विरोध में लिखा है। वे महान् हैं क्योंकि उन्होंने ऐसे संकटकालीन युग में लाखों किसानों की मन की स्थिति और विचारों को व्यक्त किया जब कि पूँजीवादी सभ्यता पुरानी ग्रामीण-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर रही थी और किसानों का गला घोंट कर उनको मार रही थी। इस ऐतिहासिक युग में प्रेमचन्द ने उन मूल सामाजिक समस्याओं को समझा, जो कि समाधान चाहती थीं। समस्त सामाजिक वर्गों से इन समस्याओं का जो सम्बन्ध था उसका स्पष्टीकरण भी उन्होंने किया और अपने उपन्यासों और कहानियों में उनका ठोस विवेचन किया।

२

प्रेमचन्द वास्तव में एक प्रगतिशील लेखक थे। वह अपने युग के साथ-साथ चले और कभी-कभी उसके साथ दौड़े भी। मध्यवर्ग जीवन के प्राचीन और नवीन आदर्शों के संघर्ष के बीच से गुजर रहा था। पूँजीवादी या

पश्चिमी सभ्यता के आघात ने जीवन के मध्यकालीन और आधुनिक दृष्टिकोण के बीच एक गहरी खाई खोद दी थी। प्रेमचन्द की आरम्भिक कृतियों का सम्बन्ध विशेष रूप से मध्यवर्गीय समाज के इसी संघर्ष से है। वह सुधार करने के लिए कटि-बद्ध थे। १६०५, १६२०-२२ और १६३०-३२ के राजनीतिक आन्दोलनों ने उनके कोमल मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला। आरम्भ का सुधारवादी आन्दोलन, उदारतावाद से आरम्भ होकर असहयोग में समाप्त होने वाला राजनीतिक संघर्ष और सविनय अवज्ञा भंग आन्दोलन और अन्त में समाजवाद और साम्यवाद की विचारधारा ने उनके मस्तिष्क का निर्माण किया और उनकी कला को आकार दिया। प्रेमचन्द ने जो कि मध्यवर्ग के व्यक्ति थे, नैतिकता के एक विशेष स्तर की स्थापना की, और जैसा कि पहले कहा जा चुका है—सामाजिक ध्येय और सामाजिक आलोचना के लिए उपन्यास का उपयोग किया। सामाजिक उपन्यास की कला के वे अग्रदूत थे। वे रोचक कथा में सामाजिकता और मनोरंजन का ऐसा मिश्रण करते थे कि वह पाठकों का ध्यान खींच लेती थी। उन्होंने स्वयं अपने पाठक पैदा किये। पाप के ऊपर पुण्य और असत्य के ऊपर सत्य की विजय में उनका दृढ़ विश्वास था। यह सत्य है कि उन्हें पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक शक्तिशाली दिखायी देता था; लेकिन फिर भी वे कहा करते थे कि जीवन की असत्य और निन्दनीय शक्तियों पर अन्तिम विजय सत्य की होगी। जैसे ही उन्हें सत्य पर असत्य की विजय की सम्भावना दिखाई देती थी वे उनमें समझौता, जो कि मध्यवर्ग की विचारधारा के लिए आवश्यक है, करा देते थे। १६३१ का गान्धी-इरविन पैक्ट उनके जीवन-दर्शन या दृष्टिकोण की राजनीतिक आधार शिला थी। यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय, समाजवाद और पूँजीवाद का समन्वय, किसान और जमींदार का समन्वय और क्रान्ति और रूढ़िवाद का समन्वय ऐसे मौलिक तत्व थे जिनसे उनका मस्तिष्क और कला अनुप्राणित थे।

'सेवासदन' (१६१४) उनका पहला उपन्यास है जिसमें मध्यवर्ग की समस्याओं पर सुन्दरता से प्रकाश डाला गया है। उसमें अनेक चरित्रों का विकसित स्वरूप भी है। इस उपन्यास में एक ऐसी लड़की की करुण-कथा है, जिसकी शादी एक क्रूर, संकीर्ण हृदय रखनेवाले, कंजूस, शंकालु और ईर्ष्यालु

युवक से हुई थी। वह उसे एक रात को देर से आने के साधारण-से अपराध पर घर से निकाल देता है। एक छोटी सी नाव तूफानी समुद्र में बहने के लिए छोड़ दी जाती है। एक परित्यक्त लड़की के लिए हिन्दू समाज में कोई स्थान नहीं है। सुमन वेश्या होने को विवश हो जाती है। समस्त पात्र और घटनाएँ इसी समस्या के आसपास घूमती हैं। सुमन उपन्यास का केन्द्र है। उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र मध्यवर्ग के हैं और उनका चरित्र-चित्रण जीवन के सुधारवादी दृष्टिकोण से किया गया है। लड़की के पिता, कृष्णचन्द्र में इस वर्ग के सब गुण और अवगुण विद्यमान हैं। उपन्यास में समाज के सुधारक विठलदास, जिसने सुमन के पति गजाधर को उसे घर से निकालने को उकसाया था, सुमन के सुधार करने की सोचने लगता है। पद्मसिंह, जो कि समाज का स्तम्भ है, सुमन के नैतिक पतन के लिए अपने को जिम्मेदार समझता है और पश्चात्ताप करता है। वह पुराने विचारों का है और अपने व्यवहार में नैतिकता का आग्रह रखता है। उसके चरित्र में आदर्श का भी पुट है। उसकी निजी मान्यताओं और सामाजिक व्यवहार के बीच भारी असंगतियाँ हैं। उसका मस्तिष्क कमजोर है; इस कारण वह सरलता से दूसरों के कहने में आकर वेश्याओं को नाच के लिए बुला लेता है। उसके चरित्र में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि एक समाज सुधारक को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कितनी बाधाएँ पार करनी पड़ती हैं। इस सुधार के युग में मध्यवर्ग की जनता के लिए इसका मूल्य बहुत अधिक था। लेखक, जो कि सुधारवादी विचारधारा से प्रभावित था, अपने पात्र का चरित्र सामयिक प्रभाव और सामाजिक प्रगति के अनुकूल प्रस्तुत करने के लिए बाध्य था। सुमन उपन्यास की नायिका है। कहानी उसके चरित्र के यथार्थवादी चित्रण से आरम्भ होती है परन्तु उसका अन्त आदर्शवादी विचार-धारा में होता है। भले ही इस आदर्शवाद से उसका चरित्र निर्जीव-सा हो गया हो, परन्तु इतना मानना पड़ेगा कि जीवन की रक्षा इसी आदर्शवाद ने की। प्रेमचन्द ने बताया है कि कैसे एक कमजोर दिल का व्यक्ति अपनी परि-स्थितियों का शिकार हो जाता है। सुमन का पालन-पोषण विश्वास और सुख में हुआ था; वह आनन्दमय जीवन की अभ्यस्त थी। उसके घर के सामने रहने वाली वेश्या ने उसके मन को लुभा लिया। प्रेमचन्द ने सुमन के हृदय की

दुविधा और उसके मस्तिष्क की हलचल का चित्रण नहीं किया है, ऐसा इसलिए हुआ है कि लेखक चरित्र-चित्रण से अधिक सामाजिक समस्याओं में अभिरुचि रखते हैं। उपन्यास का सामाजिक ध्येय नितान्त स्पष्ट है। कई युगों से चली आती हुई वेश्या-परम्परा पर नैतिक और भावुकता पूर्ण दृष्टिकोण से हमला किया गया है। अपने वर्ग के पवित्रतावादी दृष्टिकोण को लेकर चलनेवाले इस लेखक की सम्मति में इस बुराई की जड़ें मानव-प्रकृति में नहीं हैं, बल्कि इसके अंकुर तत्कालीन वातावरण में मिलते हैं। स्त्रियाँ आश्वासन और सहानुभूति पाकर पाप और घृणा के जीवन से बच सकती हैं। जिस बहुविवाह प्रथा की उपज यह वेश्या-वृत्ति है उसकी लेखक ने बिलकुल अवहेलना कर दी है। इस सामाजिक दोष का उसने जो विश्लेषण किया है वह भी उथला है और जो उपचार सुझाया है, वह भी वैसा ही प्रभावहीन है। लेकिन प्रेमचन्द सब से पहले लेखक थे, जिन्होंने बड़े उत्साह के साथ इस समस्या पर लेखनी उठायी। 'सेवासदन' वह प्रथम यथार्थवादी आधुनिक और साहित्यिक उपन्यास था, जिसने हिन्दी-भाषी जनता में हलचल मचा दी। हरेक व्यक्ति ने अनुभव किया कि साहित्य-गगन में एक नये नक्षत्र का उदय हो रहा है। पुराने ढंग की काल्पनिक जासूसी और प्रेम की कहानियों और दूसरी भाषा से अनुवादित और उधार ली गयी कहानियों के बाद यह नवीन कृति अधिक ताजगी देनेवाली थी।

'वरदान' भी ऐसी ही रचना है जिसका सम्बन्ध मध्यवर्ग के जीवन से है। यह उपन्यास कृषि-सम्बन्धी महाकाव्य (प्रेमाश्रम) के बाद प्रकाशित हुआ था। प्रेमचन्द ने अपनी वर्णन-शक्ति, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और कथोपकथन की स्वाभाविकता का दर्शन इस उपन्यास में दिया है; लेकिन कथावस्तु इतनी प्रधान हो गयी है कि चरित्र-चित्रण की ओर कम ध्यान जा सका है। चूँकि इसका उद्देश्य सनसनी पैदा करना है, विश्वसनीय कथनों का उद्घाटन नहीं, इसलिए कथावस्तु के संगठन में सजीवता की अपेक्षा घटनाओं का घटाटोप ही प्रधान रूप से मिलता है। सनसनी के इन उपन्यासों से अपनी भूख मिटानेवाला लेखक उनके प्रभाव को नहीं छोड़ सका है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह उपन्यास उनके प्रारम्भिक प्रयत्नों में से है, जिनमें कथावस्तु का संगठन

सामान्य कोटि का मिलता है। उपन्यास की मूलकथा प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व पर आधारित है। इसके लिए वह एक युवक और युवती को प्रस्तुत करता है। वे बचपन से साथ पले हैं। यह स्वाभाविक है कि उन दोनों में गहरा अनुराग हो; लेकिन भाग्य उनका साथ नहीं देता। प्रेम और कर्तव्य से पीड़ित लड़की की शादी एक कमजोर मस्तिष्क रखनेवाले युवक कमलाचरण से हो जाती है। कमलाचरण का प्रेम अपने माली की लड़की से कराया जाता है। एक समालोचक इस पात्र के प्रति बड़ी सहानुभूति रखते हैं, क्योंकि इसमें मानवीय कमजोरी है। दूसरे पात्र रक्त-मांस के नहीं हैं। उपन्यास निर्जीव चरित्रों में ही एक मात्र अपवाद है।

'प्रतिज्ञा' जो ऐसा ही उपन्यास है, १९०५ में लिखे गये 'प्रेमा' का परिवर्धित संस्करण है। यह विधवाओं के पुनर्विवाह की समस्या को लेकर चला है। सुधारक प्रेमचन्द ने विधवाओं के जीवन को नष्ट करनेवाली इस सामाजिक कुरीति की बुराई का भण्डाफोड़ किया है। अमृतराय जो स्वयं एक सक्रिय सुधारक है, एक लड़की से सगाई होने पर, एक विधवा से शादी करने का निश्चय करता है। उसे वह चाहता है और प्यार करता है। वह उसकी साली है। उसने एक सार्वजनिक सभा में प्रतिज्ञा की है कि वह विधवा से शादी करेगा। इसी बीच प्रेमचन्द उसके लिए रंगमंच तैयार करता है। कथावस्तु के लिए एक विधवा की आवश्यकता पड़ती है। पूर्णा इसके लिए प्रस्तुत की जाती है। हाल ही में उसका पति नदी में डूब चुका है। अमृतराय विधवाओं की स्थिति सुधारने के कार्य में लगा रहता है। जिस लड़की से उसकी शादी होनेवाली थी उससे उसका मित्र शादी कर लेता है। इधर पूर्णा अपने स्वामी की सेवा में लग जाती है। अमृतराय इस तरह एक विधवा से शादी करने की अपेक्षा विधवाओं की समस्याओं को सुलझाने का व्रत लेकर ही अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता है।

समाज के संतप्त प्राणियों को आश्रय देना प्रेमचन्द को अत्यन्त प्रिय है। 'सेवासदन' ऐसी पतित नारियों को आश्रय देने का प्रारम्भिक प्रयत्न था, जिनके नैतिक पतन की पूरी ज़िम्मेदारी उन्हीं पर नहीं है। 'प्रतिज्ञा' में विधवाओं के लिए वनिता-आश्रम की स्थापना की गयी है। प्रेमचन्द समाज-सुधारक के

नाते अपने पाठकों में केवल सामाजिक चेतना उत्पन्न करके ही संतुष्ट नहीं होते, सामाजिक बुराइयों के लिए क्रियात्मक हल सुलझाने को भी उत्सुक रहते है। यदि प्रेमचन्द की शरच्चन्द्र से तुलना की जाय तो सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण में शरच्चन्द्र अधिक संयत जान पड़ेंगे। विधवा का जीवन भी उनकी कला का मूल है; लेकिन उनमें समाज-सुधार के लिए उत्साह नहीं है। उनके उपन्यासों में विधवाओं के जो बड़े-बड़े चरित्र हैं वे अपने रंगों के लिए प्रसिद्ध हैं। वे सबसे अधिक रुचि चरित्र-चित्रण में रखते हैं। प्रेमचन्द का सम्बन्ध विशेष रूप से सामाजिक समस्या से रहता है। उनका उद्देश्य एक सामाजिक समस्या के आस-पास पात्रों का जमघट खड़ा करना है। 'प्रतिज्ञा' रक्त-मांस के पात्रोंवाले उपन्यास की अपेक्षा विधवाओं के उद्धार की समस्या से अधिक सन्बन्ध रखता है। इस उपन्यास में घटनाओं का अधिक होना इस बात का सूचक है कि यह उनकी आरम्भिक रचना है। पात्र और कथावस्तु दोनों ही सामाजिक ध्येय और सुधार-भावना के आश्रित हैं।

'निर्मला' भी इसी कोटि का उपन्यास है। इसमें एक साथ दो समस्याओं पर विचार किया गया है। एक तो दहेज की प्रथा और दूसरी एक जवान लड़की की एक ऐसे बूढ़े से शादी जिसकी पत्नी मर चुकी हो। इसमें अलग-अलग तीन मध्यवर्ग के परिवार फँसे हुए हैं। एक परिवार बाबू उदयभानु का है, दूसरा बाबू तोताराम का और तीसरा सिन्हा साहिब का। उदयभानु के दो लड़कियाँ हैं, निर्मला शादी के लायक है। सिन्हा के पुत्र को इसके लिए खोजा गया है, सिन्हा शादी में खूब दहेज मिलने की आशा करते हैं। लड़की का पिता इसके लिए पचीस हजार रुपया नहीं दे सकता। वह अपनी पत्नी से झगड़ता है और क्रोध में घर छोड़ कर चला जाता है। यहाँ तक कहानी सीधे-सादे ढंग से चलती है। अब वह अचानक एक गुण्डे के हमले का शिकार होता है जिसे उसने तीन साल के लिए जेल भिजवाया था। बाबू उदयभानु चल बसते हैं, इस कारण निर्मला की सगाई सिन्हा के पुत्र से नहीं हो पाती। वह निर्दयत से एक बूढ़े के हवाले कर दी जाती है, जिसके पहली पत्नी से तीन बड़े-बड़े लड़के हैं, युवती पत्नी को अपने युवक बेटों की देख-भाल करनी पड़ती है। इस तरह प्रेमचन्द्र ने निर्मल की दुःखभरी कहानी कहकर दहेज की घातक प्रथा

का भंडाफोड़ किया है। दहेज ही इस दुःखान्त कथा का मूल कारण है। निर्मला मरती हुई कहती है—'मेरी लड़की की शादी किसी उचित व्यक्ति से की जानी चाहिए।' लेखक का मत है कि यह कोई व्यक्तिगत समस्या नहीं है; यह तो एक सामाजिक रोग है जिसका स्थायी उपचार होना चाहिए।

इस उपन्यास के चरित्रों का विकास पूरे रूप से नहीं हुआ। उपन्यासकार का उद्देश्य चरित्र-चित्रण नहीं है; परन्तु एक सामाजिक समस्या का अध्ययन सामने रखना है। लेखक ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण स्थूल रूप से ही किया है और उनको अपनी कला की कूची से केवल छूकर ही छोड़ दिया है। निर्मला एक ऐसी स्त्री है जो दहेज-प्रथा की वेदी पर बलिदान हो जाती है। तोताराम एक विशेष प्रकार का ईर्ष्यालु और शंकालु बूढ़ा है, जो अपनी युवती पत्नी और युवक पुत्र के मिलने में भी संदेह करता है। मंशाराम का चरित्र विश्वसनीय नहीं है। वह ऐसे परिवार के कष्ट और संताप के बढ़ाने के लिए ही अतिरंजित ढंग से चित्रित किया गया है, जो अन्त में पूरी तरह नष्ट हो जाता है। जिन पात्रों का लेखक विकास नहीं कर पाता, उनके लिए आत्म-हत्या और आकस्मिक मृत्यु ये दो ऐसे उपाय हैं जिन्हें वह बहुधा काम में लाता है। निर्मला में घटना और वस्तु का संगठन सुन्दर है। सारी घटनाएँ एक ऐसी अभागी लड़की के जीवन के आस-पास केन्द्रित हैं, जो एक ऐसे धनी बूढ़े के साथ बेच दी जाती है जो आयु की दृष्टि से उसका पिता होने योग्य है। प्रेमचन्द ने वासना को शान्त करने के लिए शादी करनेवाले बूढ़ों को और अपनी लड़कियों के भाग्य का सौदा करनेवाले पिताओं को कड़ी चेतावनी दी है।

'ग़बन' (१९३०) में एक ऐसी अत्यन्त रोचक समस्या को उठाया गया है, जो निचले मध्यवर्ग की जनता के जीवन को प्रभावित करती है। एक ओर धन का निरन्तर अभाव और दूसरी ओर उच्च श्रेणी का रहन-सहन उनकी प्रसन्नता को नष्ट कर देता है। प्रेमचन्द ने एक ऐसे युवक की कथा लिखी है जो अपनी नवविवाहिता पत्नी के लिए कीमती हार खरीदता है और उसकी बिना जानकारी के कर्ज़ में फँस जाता है। अपने कर्ज़ को अदा करने के लिए वह 'ग़बन' करता है। अपने अभिमान के कारण वह कर्ज़

और ग़बन का रहस्य अपनी पत्नी को नहीं बताता। यदि उसने उससे कहा होता तो पत्नी ने उस घातक आभूषण को लौटाकर आसानी से उसे बचा लिया होता। इस तरह उनका जीवन ऐसे संकट से व्यतीत होता है, जो पति-पत्नी की प्रसन्नता के लिए हानिकारक है। पत्नी की निस्संदेह आभूषणों के लिए उत्कट अभिलाषा है। पति एक साधारण क्लर्क होने के कारण उसकी माँग को पूरा नहीं कर सकता; फिर भी वह उसे मना नहीं कर सकता। ऋण से बुरी तरह दबने के कारण वह अपने दफ्तर से रुपये का ग़बन करता है और घर से भाग जाता है। वह अपने को दलदल में फँसा हुआ पाता है और ज्यूँ-ज्यूँ वह निकलने की कोशिश करता है त्यूँ-त्यूँ उससे निकलना कठिन हो जाता है। रमाकान्त का पूरी तरह नैतिक पतन हो जाता है। वह चाहे जितना झूठ बोल सकता है, माँग सकता है, अपनी रक्षा के लिए मुखबरी तक कर सकता है। भोली-भाली स्त्रियों के स्त्रीत्व के साथ खिलवाड़ कर सकता है और वेश्याओं के यहाँ भी आ-जा सकता है। परिस्थितियों की विषमता उसे जीवन के निम्न मार्ग पर चलने को बाध्य करती हैं। यह उसके व्यक्तित्व का पूरा विश्लेषण है। उसकी पत्नी जालपा ही अकेली उसका सुधार करने और उसके मान को बचाने के लिए बच रहती है। जैसे ही उसे उसकी आर्थिक स्थिति का पता चलता है वह अपने सोने के कड़े बेच कर ऋण चुका देती है। यह उसके त्याग का आरम्भ है। कहानी में वह भारतीय नारी की प्रतिनिधि है। वेश्या को जब उसके त्याग का पता चलता है तो उसके पति को उसे सौंपकर स्वयं नदी में डूब जाती है। उपन्यास में एक छोटी सी कथा ऐसी भी है जो एक युवती विधवा की व्यथा का दिग्दर्शन कराती है। इस विधवा का ब्याह एक बूढ़े और धनी-मानी वकील से होता है। उसका जीवन भी वैसा ही दुःखपूर्ण है; परन्तु वह अपनी कथा का अन्त आत्म-हत्या द्वारा कर लेती है। जिन पात्रों से लेखक किसी तरह भी छुटकारा नहीं पा सकता उनके लिए यह उपाय रामबाण है।

उपन्यास की कथावस्तु को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले भाग का सम्बन्ध इलाहाबाद से अधिक है और दूसरे का कलकत्ते से। दोनों भागों का केन्द्र बिन्दु रमाकान्त है। वही दोनों के बीच की कड़ी है। इस

उपन्यास में प्रेमचन्द का वस्तु-कौशल निश्चय ही विकास को पा सका है। उन्होंने वस्तु-संघटन की कला पर अधिकार पा लिया है। पहले की तरह अब वह ऐसी घटनाओं का समावेश नहीं करते जो पाठक को आश्चर्य में डाल दे, या जो उसकी भावनाओं में तूफान ला दें।

यह सच है कि प्रेमचन्द इस उपन्यास में मध्यवर्ग का चित्रण करते हैं, लेकिन अपने आरम्भिक काल में वे मध्यवर्ग का जैसा चित्रण करते थे उससे यह चित्रण सर्वथा भिन्न कोटि का है। उदाहरण के लिए 'सेवासदन' में एक सामाजिक समस्या है। इस उपन्यास के पात्र इस समस्या का स्पष्टीकरण करने के लिए ही आते हैं। यद्यपि उपन्यास का प्रमुख पात्र सुमन है, तथापि वह कहानी के सामाजिक ध्येय की सहायक बनकर ही आती है। 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' में भी मध्यवर्ग के परिवारों में अनमेल विवाह की समस्या है और चरित्रों का महत्व उनके सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित होने के नाते ही है। कृषक-जीवन सम्बन्धी रचनाओं के बाद प्रेमचन्द सामूहिक संघर्ष और हलचल से अवकाश पाकर इस उपन्यास में व्यक्ति के संघर्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए जान पड़ते हैं। वे उस व्यक्ति पर अधिक जोर देते हैं, जो धीरे-धीरे अपने वर्ग से अलग हो गया है और सामाजिक वातावरण की दृष्टि से अध्ययन की वस्तु बन गया है। यही वह वस्तु है जिसे लेखक ने इस उपन्यास में दिखाया है। रमाकान्त इतना निर्बल है कि जिस सामाजिक वातावरण की वह उपज है और जिसका वह शिकार है, उसी शत्रु के साथ वह लड़ नहीं सकता। उसके मुकाबिले में वह दया का पात्र बन जाता है। यदि 'सेवासदन' मध्यवर्ग के जीवन का चित्रण करनेवाला पहला उपन्यास है तो 'ग़बन' अन्तिम रचना है, जो उनकी कला के रूप को विशेष रूप से स्पष्ट करती है। सोलह साल के समय में लेखक ने अपनी कला को प्रौढ़ता दी है और अपने शिल्पविधान को विकसित किया है।

प्रेमचन्द का एक और उपन्यास 'कायाकल्प' (१९२८) इस उपन्यास से दो वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। 'कायाकल्प' में अनेक प्रकार की कथाओं का संमिश्रण है। उपन्यास को दो अलग-अलग भागों में बाँटा जा सकता है। एक का सम्बन्ध सामाजिक समस्या से है और दूसरे का सम्बन्ध आध्यात्मिक और रहस्यमय शक्तियों से है। इसकी कथावस्तु के निर्माण में छः कथासूत्रों का समा-

वेश किया गया है। परिणाम यह हुआ है कि कथा में बहुत पेचीदगी आ गयी है। इन विभिन्न कथाओं को अलग करना बड़ा कठिन है। वे कहीं-कहीं एक दूसरे के समानान्तर चलती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि प्रेमचन्द ने यह उपन्यास उन पाठकों की दृष्टि से लिखा है जो कहानी में अद्भुत तत्व के लिए बेचैन रहते हैं। जिस भाग में सामाजिक समस्या का समावेश है, उसमें भी कई ऐसी अद्भुत घटनाएँ हैं जो सनसनी पैदा करती हैं—जैसे गो-वध, सांप्रदायिक दंगे, जेलर के साथ झगड़ा आदि। दूसरा भाग, जो स्वतन्त्र रूप से विकसित होता है और जो अन्त में एक आकस्मिक झटके के साथ पहले भाग से मिल जाता है, उत्तेजित करनेवाली घटनाओं और रोमाञ्चित करनेवाली कहानियों से भरा है। घटनाएँ और कहानियाँ, प्रेम, रोमांस, आत्माओं के दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाने और एक स्त्री के सदा युवती बने रहने की अद्भुत बातों से पूर्ण हैं। नितान्त असंभव और रोमांचक घटनाओं के सम्मिश्रण के कारण पाठकों का शिथिल मन कुछ समय के लिए उत्तेजित हो जाता है। चक्रधर-मनोरमा पहली कहानी के केन्द्र हैं, दूसरी कहानी का विषय रूप-परिवर्तन है। पहली का निर्माण और निर्वाह यथार्थवादी ढंग पर हुआ है, दूसरी का रहस्यवादी और आदर्शवादी ढंग पर। तीसरी कहानी अहल्या-चक्रधर की कथा लौकिक प्रेम से सम्बन्ध रखती है। चौथी मनोरमा-विशालसिंह की कहानी खण्डित प्रेम की कहानी है। रोहिणी-विशालसिंह की कथा शिशु-हीन और असफल प्रेम की है। महेन्द्रसिंह-देवप्रिया की कहानी रहस्यमय प्रेम की है और हरिसेवक-लौंगी की कथा का आधार आध्यात्मिक प्रेम है। प्रेमचन्द ने इस तरह उपन्यास में प्रेम के विभिन्न रूपों और उनके उद्देश्यों की व्याख्या करने की चेष्टा की है।

यहाँ प्रेमचन्द के उन सभी उपन्यासों का विवेचन प्राप्त होता है, जिनमें उन्होंने केवल मध्यवर्ग के जीवन और उसकी समस्याओं का विश्लेषण किया है। वास्तव में वह पहिले हिन्दी उपन्यासकार हैं जिन्होंने उत्साह और निष्पक्षता के साथ सामाजिक समस्याओं पर लिखा है। वे इन समस्याओं पर लिखकर संतुष्ट होनेवाले नहीं हैं, वे हृदय से उन दोषों को दूर करना चाहते हैं जिन्होंने मध्यवर्ग को रोगी और पतित बना दिया है। इन दोषों को दूर करने के जो

उपाय उन्होंने सुझाये हैं वह उनकी सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ उस विचारधारा को स्पष्ट करती हैं, जो उन्होंने इस मध्यवर्ग के सदस्य के नाते बना ली थीं। इस पर उनके जन्म और शिक्षा सम्बन्धी विशेष परिस्थितियों ने भी प्रभाव डाला था। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति उनकी सुधारवादी भावना ने ही उनके दृष्टिकोण और विचारधारा का निर्माण किया था। यही दृष्टिकोण जमीदारों, पूँजीपतियों, किसानों और मज़दूरों के प्रति उनकी भावना का स्पष्टीकरण करता है।

ग्राम्यजीवन का चित्रण करने में प्रेमचन्द अग्रदूत हैं; और उन्होंने इस जीवन का चित्र चित्रण करते समय अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया है। गाँवों को आदर्श बनाने की बात उन्होंने अपने उपन्यासों में बार-बार कही है। 'प्रेमाश्रम' (१६२२) एक कृषि-सम्बन्धी महाकाव्य है, जिसमें औद्योगिक सभ्यता से पहले गाँव की सामाजिक और आर्थिक दशा का पूरा चित्रण मिलता है। सरकारी अफसरों और उनके पिट्ठुओं के बल पर जमींदार, गाँव के किसानों से झगड़ते हैं। ये सभी घटनाएँ लखनपुर नामक गाँव में होती हैं। एक विस्तृत चित्रपट पर समाज के दो दलों के पारस्परिक संघर्ष का चित्रण किया गया है। मनोहर और उसका लड़का ज़मीदारों और सरकारी अफसरों द्वारा किसानों के शोषण के विरुद्ध विद्रोह की भावना का प्रतिनिधि है। उपन्यास में उस सामन्ती संसार का वर्णन है, जो नवीन आर्थिक शक्तियों के प्रभाव से धीरे-धीरे पूँजीवादी समाज में बदल रहा है। बड़े और छोटे ज़मीदार अपने को नये वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए आभिजात्य को ग्रहण करने जा रहे हैं। प्रभाशंकर सामान्ती समाज के प्राचीन रूप को याद दिलाता है। ज्ञानशंकर इस वर्ग का आधुनिक रूप है। पहला प्राचीन सभ्यता के स्वप्नों में खोया है। दूसरा पूँजीवादी सभ्यता से प्रभावित है। उनके पुरखों का घर उन की भ्रष्ट-व्यवस्था का प्रतीक है। वह जर्जर अवस्था में है, जिसकी मरम्मत भी नहीं हो सकती। प्रभाशंकर इसे प्यार करता है, ज्ञानशंकर इसे दोबारा बनवाने की इच्छा प्रकट करता है। दोनों में संघर्ष स्वाभाविक है। चाचा नष्ट होती हुई व्यवस्था से सम्बन्ध रखता है, भतीजा जीने का निश्चय कर चुका है। वह अपना सम्बन्ध उठते हुए पूँजीवाद से स्थापित करता है।

प्रेमचन्द ने बूढ़े ज़मीदार का बहुत स्पष्ट और सहानुभूतिपूर्ण चित्र खींचा है। प्रभाशंकर दया और करुणा का पात्र हो जाता है। ज्ञानशंकर का चरित्र वर्तमान सभ्यता की व्यंगपूर्ण आलोचना है। उसका जीवन ईर्ष्या-द्वेष, छल कपट और लोभ-लालच से पूर्ण है। उसने दोनों लोकों के सुख का प्रबन्ध कर लिया है। वह किसानों का शोषण करता है, अपने श्वसुर की हत्या का प्रयत्न करता है, अपने चाचा को ठगता है, अपने भाई की जायदाद को हड़पने के लिए उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचता है और अपनी विधवा साली को फँसाता है। ज्ञानशंकर की सफलता उसकी व्यक्तिगत सफलता नहीं है, बल्कि उसका श्रेय समस्त नौकरशाही के प्रयत्नों को है। ज्ञानशंकर का श्वसुर कमलानन्द भी उसी थैली का चट्टा-बट्टा है। एक दूसरे प्रकार के ज़मीदारों का नमूना प्रेमशंकर के चरित्र में मिलता है। वह ज़मीदारों के वर्ग का सदस्य होते हुए भी किसानों के शोषण का समर्थन नहीं करता। वह ऐसा आर्थिक कारणों से नहीं, नैतिक और मानवीय कारणों से करता है। गाँव में विदेश से लौटने पर वह किसानों का अगुआ बन जाता है। वह पश्चात्ताप-ग्रस्त व्यक्ति है और वह उस राष्ट्रीय आन्दोलन की उपज है, जिसने सैकड़ों धनी युवकों को अपने अधिकारों की प्रेरणा देकर उस पीड़ित जनता का साथ देने को बाधित कर दिया, जिसका शोषण वे युगों से करते चले आ रहे थे। प्रेमशंकर जैसे भले लोगों ने, जो अपराध की तीव्र भावना से पीड़ित थे, एक सुधारक, एक परोपकारी और एक क्रान्तिकारी का काम किया।

'प्रेमाश्रम' में ज़मीदार स्त्री-पुरुषों के विभिन्न प्रकार के चित्र ही नहीं हैं, उसमें जैसा कि पहले कहा गया है, सामाजिक अन्याय और आर्थिक शोषण के विरुद्ध किसानों के संघर्ष की कथा भी है। मनोहर, जो कि किसानों की नयी चेतना का प्रतिनिधि भी है, इस शोषण के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है, लेकिन नौकरशाही की चक्की की धड़धड़ में उसकी आवाज़ खो जाती है। उसका लड़का बलराज आदर्शवादी और उत्साही है। मनोहर वर्तमान चेतना का प्रतिनिधि है, बलराज भावी चेतना का। समस्त सामन्ती संसार के चित्र को पूरा बनाने के लिए इन किसानों का समावेश आवश्यक है। प्रेमचन्द इस शक्तिशाली नाटक का अन्त इन शब्दों में करते हैं—'इस अन्याय के विरुद्ध कौन

लड़ेगा ?' ग़रीबों के शोषण का अन्त करने के लिए सत्याग्रह एक निरर्थक शस्त्र सिद्ध हो चुका है। दमन की ताक़तों द्वारा पैदा की गयी परिस्थिति का सामना न कर सकने पर लेखक एक ऐसी आदर्श और कल्पनामयी सृष्टि का निर्माण करता है, जिसमें किसान सुखी और संपन्न दिखायी देते हैं। यह यथार्थ से पलायन है। हाजीपुर एक आदर्श गाँव में बदल जाता है, जो संपन्नता और सुख में डूबा हुआ है। प्रेमचन्द की इच्छा देहात को हँसते हुए देखने की इतनी अधिक है कि वे इस गाँव का पूरा वर्णन भी नहीं करते।

समाज की सामन्ती व्यवस्था में इस तरह ज़मीदारों और किसानों के अनेक प्रकार हैं। ज़मीदारों को स्थूल रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—एक तो वे जो प्राचीन सामन्ती प्रथा से चिपटे हैं और जो अवनति की ओर जा रहे हैं; और दूसरे वे जिन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था से समझौता कर लिया है और जो समृद्ध होते जा रहे हैं। बदलती हुई समाज-व्यवस्था के अनुकूल अपने को ढालने के कारण उन्होंने एक नयी तरह का जीवन आरम्भ किया है। उन्होंने धर्म, राष्ट्रीयता और समाजवाद की, जिसकी वे केवल बातें कर सकते हैं, सहायता से अपनी स्थिति को दृढ़ कर लिया है। रायसाहब कमलानन्द इस दूसरे वर्ग के उदाहरण हैं। जिन उपन्यासों में ग़रीब जनता के शोषण का वर्णन है, उन सब में ऐसे जमीदार बिखरे हुए हैं; लेकिन प्रस्तुत उपन्यास में उनको विशेष रूप से केन्द्रित कर दिया गया है। भेड़ के रूप में अपने को छिपानेवाले इन भेड़ियों का प्रेमचन्द ने खूब भंडाफोड़ किया है। सड़ी-गली और कुरूप सामन्ती दुनिया की बुराइयाँ दिखाने में प्रेमचन्द ने अपनी आत्मा की सारी शक्ति लगा दी है। उनकी कला का उद्देश्य शुद्ध रूप से सामाजिक है, क्योंकि वे ज़मीदारों के शोषण के विरुद्ध जनता की चेतना को जाग्रत करती है। 'प्रेमाश्रम' भारतीय साहित्य में पहला उपन्यास है, जो ग्राम्य जीवन और उसकी आधारभूत समस्याओं का वर्णन करता है। अब तक के उपन्यासों में मध्यवर्ग की सामाजिक समस्याओं का ही समावेश था। शरच्चन्द्र अभी तक मैदान में नहीं आये थे। इसीलिए 'प्रेमाश्रम' भारतीय कथा साहित्य के इतिहास की युग प्रवर्तक कृति कही जा सकती है।

प्रेमचन्द ने देहात में रहकर देखा और अनुभव किया कि पश्चिमी सभ्यता

ने पुरानी ग्राम्य-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है। 'रंगभूमि' (१९२४) में इस मौलिक संघर्ष को एक विस्तृत और व्यापक रूप में चित्रित किया गया है, जैसे 'प्रेमाश्रम' में लखनपुर सामन्ती शोषण का गढ़ है, वैसे ही 'रंगभूमि' में पाण्डेपुर औद्योगिक शोषण का केन्द्र है। दोनों ही उपन्यासों में दमन और संघर्ष के युग की मरती हुई सामन्ती प्रथा और विकसित होती हुई औद्योगिक व्यवस्था का चित्र है। उपन्यास बताता है कि प्रेमचन्द का जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण है और इस विशाल जीवन-नाटक में मनुष्य का क्या काम है। जीवन एक खेल है, जिसमें खिलाड़ियों को कुछ नैतिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर खेलना चाहिए। उपन्यास का प्रमुख पात्र एक अन्धा भिखारी सूरदास है, जिसे वह जीवन के खेल का आदर्श खिलाड़ी समझता है। दूसरे खिलाड़ियों में अनेक स्त्री और पुरुष हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार की विचार-धाराएँ रखते हैं। उनमें किसान और राजकुमार हैं, पूँजीपति और मजदूर हैं, देशभक्त और ग़द्दार हैं। रंगमंच की स्थापना बड़े पैमाने पर तीन भिन्न-भिन्न स्थानों पर की गयी है। पाण्डेपुर किसानों का गाँव है, काशी मध्यवर्ग के लोगों का निवास स्थान है, जसवन्तनगर ज़मीदारों और उनके वर्ग के लोगों की जागीर है। घटनाओं का प्रमुख केन्द्र पाण्डेपुर है।

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में पूँजीवादी सभ्यता के दुष्परिणामों का दिग्दर्शन कराया है। जैसे 'प्रेमाश्रम' सामन्ती जीवन का महाकाव्य है वैसे ही 'रंगभूमि' औद्योगिक सभ्यता का, जिसने गाँव के सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों को नष्ट करना आरम्भ कर दिया था। नयी सभ्यता से प्रभावित ज्ञानशंकर ने ज़मीदारों और किसानों के बीच के बन्धनों को पहले ही जड़ से उखाड़ फेंका था। वह सामन्तवाद से पूँजीवाद के बीच की स्थिति का द्योतक है। प्रेमचन्द पुरानी सामन्ती व्यवस्था को अधिक रुचि के साथ चित्रित करते हैं। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था उससे कहीं अधिक क्रूर है। नयी सभ्यता का परिणाम कारखानों का शोर, मज़दूरों की हलचल और नैतिक पतन है। इस दृष्टिकोण में गान्धीवाद की झलक दीख पड़ती है। उपन्यास की मूल कथा में दो सभ्यताओं का संघर्ष है। एक तो लाभ और प्रतियोगिता पर आधारित औद्योगीकरण की नयी शक्तियों की प्रतिनिधि है और दूसरी सहयोग पर आधारित पुराने जीवन का

प्रतीक है। 'रंगभूमि' देहाती जीवन के नाश की कहानी है, उसका कारण पश्चिमी सभ्यता है जिसे पूँजीवादी सभ्यता भी कहते हैं। ज्ञानसेवक उत्पादन की नयी शक्तियों का प्रतिनिधि है; जबकि सूरदास प्राचीन ग्राम्य-व्यवस्था का प्रतीक है। इस तरह उपन्यास में गान्धीवादी दर्शन का प्रभाव जीवन पर परिलक्षित होता है। उपन्यास का नायक एक सत्याग्रही की तरह अन्याय का विरोध करने में सभी हिंसात्मक उपायों का परित्याग करता है और हार जाता है। इस तरह प्रेमचन्द विद्रोही और प्रतिगामी दोनों हैं—विद्रोही तो इसलिए कि उनका अनुमान और अनुभव ठीक है और प्रतिगामी इसलिए कि रोग का उपचार काल्पनिक है। इतना होते हुए भी वे अपने युग के सबसे बड़े प्रगतिशील लेखक थे; क्योंकि उन्होंने पूँजीवाद से उत्पन्न दोषों की घोर निन्दा की।

जिस तरह 'रंगभूमि' की मूल कथा में दो सभ्यताओं का संघर्ष है उसी तरह 'कर्मभूमि' (१९३२) का मूल विषय १९२९ का लगान-बंदी आन्दोलन है। जैसा कि उपन्यास के नाम से स्पष्ट है, उसमें जीवन में कर्म के महत्व पर विचार किया गया है। पात्र कर्मशीलता में ही आँखें खोलते हैं और विकसित होते हैं। कथा एक मध्यवर्गीय परिवार के जीवन से आरम्भ होती है। लाला समरकान्त ऐसे व्यापारी और सौदागर हैं, जिन्होंने दूसरे महाजनों की तरह उचित-अनुचित तरीकों से धन इकट्ठा किया है। समरकान्त के पुत्र अमरकान्त, जो उपन्यास के नायक हैं, कानून के आधार पर टिकी हुई सरकार का विरोध करने के लिए जनता की तमाम ताकतों को इकट्ठा करता है। उसकी पत्नी, सुखदा, हड़तालों में भाग लेती है। पुलिस उसके सारे परिवार को गिरफ्तार कर लेती है। उसकी बहन शहीद हो जाती है। जनता की प्रथम विजय होती है लेकिन अहिंसक नाटक का अन्त समझौते में हो जाता है। उपन्यास की प्रधान कथा दूसरे रूप में १९३०–३१ के सविनय अवज्ञा-भंग आन्दोलन से सम्बन्ध रखती है। इसको चित्रित करते हुए लेखक १९२९ की उस आर्थिक मन्दी को भी नहीं भूलता, जिसने भारतीय किसानों को बुरी तरह प्रभावित किया था। इसके कारण धरती-पुत्रों को आर्थिक मुक्ति दिलाने के लिए सारे देश में राजनीतिक हलचल आरम्भ हो गयी थी। उपन्यास ग्राम्य-जीवन और ग्राम्य-संपत्ति के नाश और ध्वंस का भी ऐसा विशाल चित्र है, जिसमें भयानक दृश्यों की

अधिकता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'कर्मभूमि' का प्रेमचन्द के उपन्यासों में श्रेष्ठ स्थान समझा जाता है। समरकान्त, अमरकान्त, सुखदा, सकीना, सुन्नी, नैना और सलीम उपन्यास के महत्व के पात्र हैं। अमरकान्त साँचे में ढला नायक है जो प्रेमचन्द के प्रमुख पात्रों के आदर्श के अनुकूल है। जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय पाने की मनुष्य में अद्भुत शक्ति है। इसी आदर्श को लेखक ने उपन्यास में रखने की चेष्टा की है। प्रेमचन्द उस प्रगतिशील मध्य-वर्ग के व्यक्ति थे, जो उथल-पुथल के असाधारण युग में सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति को बदलने के लिए संघर्ष कर रहा था। यही कारण है कि प्रेमचन्द में इस वर्ग की विचारधारा अपनी समस्त सीमाओं के साथ विद्यमान है। यही विचारधारा है, जिसने उनकी चरित्र-सम्बन्धी धारणा का निर्माण किया और समाज में मनुष्य के स्थान का निर्णय करवाया। प्रेमशंकर, सूरदास, चक्रधर और अमरकान्त सब एक ही साँचे में ढले हुए हैं। छोटे-छोटे पात्रों पर भी उनके आदर्शवाद की छाप है। 'कर्मभूमि' में जीवन को युद्ध-क्षेत्र का रूप दिया गया है। 'रंगभूमि' का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण एक कवि का है; जब कि 'कर्मभूमि' का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण एक योद्धा और कर्मयोगी का है। इस उपन्यास में लेखक ने एक महान सत्य की खोज कर ली है कि विचारों और कार्यों में सामंजस्य होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो मनुष्य द्वन्द्व और संघर्ष से, जो कि जीवन का मूल आधार है, दूर जा पड़ेगा और उसका जीवन व्यर्थ हो जायगा।

४

पूर्व के जिन उपन्यासों में प्रेमचन्द ने किसानों की समस्याओं पर विचार किया है उन सब में किसानों का चित्रण दैवी प्रकोप और मानवीय अत्याचार के विरुद्ध लड़नेवाले वर्ग के रूप में किया है। किसान, जालिम नौकरशाही, विलासी जमींदारों, क्रूर पूँजीपतियों और पाखण्डी पुजारियों के शिकार रहे हैं। असहाय किसान को जीता निगल जाने के लिए ये सभी वर्ग संघटित हो गये हैं। उनके कृषि सम्बन्धी सभी उपन्यासों का संघर्ष सामाजिक और आर्थिक है।

किसानों, जमींदारों और मध्यवर्गों ने बराबर अपने अलग समूहों का निर्माण किया है। निस्संदेह मध्यवर्ग के व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण व्यक्ति विशेष के रूप में हुआ है, लेकिन उनमें भी बहुत सी कमियाँ हैं। पात्र सामाजिक समस्या पर प्रकाश डालने के लिए उसके आस पास घूमते रहते हैं।

'गोदान' (१९३६) एक ऐसा उपन्यास है जिसमें भारतीय किसान पहली बार व्यक्ति और समष्टि रूप में आता है। उसका वर्तमान भूख, बीमारी, जड़ता, वेदना और मृत्यु से पूर्ण है, और उसका भविष्य वर्तमान से कहीं अधिक अंधकारमय और भयंकर है। उपन्यास का प्रमुख पात्र होरी उपन्यासकार की अमर सृष्टि है। उसके चरित्र का चित्रण करने में प्रेमचन्द ने अपनी समस्त कला उंडेल दी है। लेखक स्वयं होरी है और लेखक का बड़ा पुत्र इस बात का प्रमाण देता है कि इस पात्र में महत्वपूर्ण आत्मकथा के तत्व विद्यमान हैं। यह एक ऐसे व्यक्ति की जीवन-गाथा है, जिसने जीवन में दुःखों और कठिनाइयों का तो अनुभव किया है, परन्तु इतना होने पर भी वह मानवता और उदारता को सुरक्षित रखने में सफल हुआ है। वह शक्तिहीन होकर मरने के पहले तक संकट-पर संकट झेलता है। उसकी मृत्यु जीवन-संग्राम का अन्त कर देती है। वह ऋण के बोझ से बुरी तरह दबा रहता है। जीविका चलाने के लिए वह तीन अलग-अलग साहूकारों से रुपया उधार लेने पर विवश होता है। ऋण दिन-पर-दिन बढ़ता चला जाता है। इसे चुकाने के लिए वह अपनी शक्ति से भी अधिक काम करता है। बहुत दिनों तक अध-भुखा रहने के बाद वह सड़क पर गिर पड़ता है और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। डाक्टर को बुलाने के लिए घर में पैसा नहीं है। उसकी मृत्यु के समय साहूकार आता है लेकिन इस समय वह क्रूर ब्राह्मण के रूप में उसकी लाश से रुपया माँगता है। पण्डित दातादीन कहता है—'अन्तिम समय है। होरी को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने हाथ से गोदान करने दो।' घर में न गाय है। और न उसे खरीदने के लिए पैसा। घर में मुश्किल से बीस आने हैं, जो पिछले दिन की मजदूरी है। होरी की पत्नी इन पैसों को लाती है और ब्राह्मण के पवित्र हाथों पर रख कर कहती है—'महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।' वह मूर्छित होकर गिर पड़ती है।

होरी मर जाता है। इस तरह के वक्तव्य और दृश्य के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है। होरी का जीवन थोड़े शब्दों में यही है कि वह पैदा हुआ, कष्ट भोगता रहा और मर गया। भारतीय किसान के जीवन में जीवन और मृत्यु का कोई महत्व नहीं है। उसके जीवन में तो कष्ट का ही ताना-बाना अधिक रहता है।

'गोदान' में समाज के संपन्न और विपन्न वर्गों का विरोध पूरी तरह दिखाया गया है। गरीबों के जीवन का चित्रण करने में लेखक को निपुणता प्राप्त है। यद्यपि दो विभिन्न सामाजिक वर्गों से सम्बन्ध रखनेवाली अलग-अलग कथाएँ परपस्पर आगे बढ़ाने में कोई विशेष योग नहीं देतीं, फिर भी वह लेखक की इस पुरानी धारणा को स्पष्ट करती है कि हरेक वस्तु के दो पहलू होते हैं। छोटे-छोटे सरकारी नौकरों, महाजनों, ज़मींदारों, उद्योगपतियों और पुलिसादि शोषण के ठेकेदारों का हवाला दिये बिना किसानों की गरीबी का चित्रण नहीं किया जा सकता। कथा की कीली किसान है जिसके चारों ओर मध्यवर्ग का जीवन चक्कर लगाता है। इसलिए होरी और धनिया के पात्रों के साथ प्रेमचन्द ने उपन्यास में मध्यवर्ग के स्त्री-पुरुषों के पूर्ण चित्र अंकित किये हैं। मिस मालती पश्चिमी सभ्यता की विशेष देन है; मिस्टर मेहता लेखक के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं; मिस्टर खन्ना एक मिल-मालिक हैं जो गरीबों का शोषण करते हैं। मध्यवर्ग की कहानी किसान की कहानी के बराबर चलती है, लेकिन वह इसके किनारों को बहुत ही कम छूती है। मध्यवर्ग की इस कहानी से प्रेमचन्द का पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से उत्पन्न समस्याओं के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण है उसका स्पष्टीकरण होता है। इस उपन्यास में असंभव घटनाओं और प्रसंगों को कोई स्थान नहीं है। जहाँ तक किसानों के जीवन का सम्बन्ध है, यह उपन्यासकला का श्रेष्ठतम उदाहरण है और यह सदैव अमर-कृति के रूप में प्रशंसित होता रहेगा।

५

प्रेमचन्द ने पाठकों के मनोरंजन के लिए या उनकी वासना तथा प्रेम-भावना को शान्त करने के लिए उपन्यासों की रचना नहीं की। वे कला को जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार

व्यक्त करने का साधन मानते थे। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में सामाजिक उद्देश्य और सामाजिक आलोचना का समावेश है। वे एक ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे, जिसमें न जरूरतें पूरी करने में कठिनाइयाँ होंगी और ना ही किसी प्रकार का भय होगा। वे कुछ-कुछ समाजवादी हैं; लेकिन उनका समाजवाद कुछ बौद्धिक विश्वास पर टिका है और कुछ ऊँचे प्रकार की भावना पर। वे इसमें विश्वास करते हैं कि सबको समान अवसर मिले। उन्होंने एक पत्र में मुझे लिखा 'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है कि हरएक को समान अवसर मिले। इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह संदेह की बात है। हो सकता है कि यह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीनकर तानाशाही के घृणित रूप में हमारे सामने आ खड़ा हो। मैं शुद्धीकरण के पक्ष में तो हूँ, उसे नष्ट करने के पक्ष में नहीं। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वंस से हमें स्वर्ग मिलेगा तो मैं ध्वंस की भी चिन्ता न करता।' इस तरह प्रेमचन्द एक विकास-वादी समाजवादी हैं। वे गान्धीवादी नीति के अनुयायी हैं। वे क्रान्ति से भय खाते हैं। इस भय के कारण वे क्रान्ति की अपेक्षा शान्तिपूर्ण विकास के मार्ग पर चलना अधिक पसन्द करते हैं।

जहाँ तक प्रगतिवाद का सम्बन्ध है, वे स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करते हैं कि अच्छा साहित्य सदैव प्रगतिशील होता है। साहित्य जीवन की गम्भीर समस्याओं के सम्बन्ध में जनमत तैयार करने का शक्तिशाली साधन है। यह जीवन की व्याख्या करता है और उसे बदलता है। इसलिए प्रेमचन्द केवल उन फूलों को प्यार करते हैं, जो फल लाते हैं, और उन बादलों को प्यार करते हैं, जो पानी बरसाते हैं। वे सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य को प्रेम नहीं करते। सौन्दर्य वह है जो जीवन को ऊँचा उठाये। मनुष्य मनुष्य का शोषण करने के लिए पैदा नहीं हुआ, बल्कि उसे ऐसा बना दिया गया है। दोनो में कोई प्राकृतिक विरोध नहीं है। इसके विपरीत उसका जीवन समाज के विकास पर

आधारित है। इसलिए प्रगतिशील लेखक मनुष्य को समाज से अलग करके नहीं देखता। वह मनुष्य और समाज के बीच और भी गहरे नाते की कल्पना करता है।

प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखक के नाते जीवन का चित्रण करते समय अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है। लेखक दो कामों में से एक ही काम कर सकता है। या तो वह ज़मींदारों और पूँजीपतियों के विलासी जीवन को अपना आदर्श बना ले या किसानों और मज़दूरों के दुखी जीवन के चित्र अंकित करे। प्रेमचन्द ने देहात की ग़रीबी का सच्चा और करुण चित्र अंकित किया है। उनका कहना है कि आज का किसान दुखी है, परन्तु भूतकाल में ऐसा नहीं था। 'प्रेमाश्रम' का किसान इतना दुखी नहीं जितना 'गोदान' का। आज के किसान के घर में न बर्तन है, न बिस्तर है और न खाट। गाँव को आदर्श बनाने की बात प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में बार-बार कही है।

ग्राम्य-जीवन का चित्रण करते हुए लेखक ने लोगों को दो वर्गों में बाँटा है—शोषक और शोषित। वह उन सब की गणना करते हैं, जो किसानों और भूमिहीन मज़दूरों का शोषण करते हैं। ज़मींदार सब से पहले आता है। पुराने ढंग का ज़मींदार अदृश्य हो रहा है और उसके स्थान पर एक नये ढंग का ज़मींदार वर्ग बन रहा है, जो ग़रीब जनता के ऊपर अत्याचार करने में बहुत अधिक निर्दय है। ज्ञानशंकर ज़मींदारों के इस नये वर्ग का प्रतिनिधि है। इसी तरह इनके उपन्यासों में ग़रीब किसानों का भला करनेवाला चरित्र है जो नये-नये सुझाव प्रस्तुत करता है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर, ज्वालासिंह, डाक्टर प्रियनाथ और इरफान अली, 'रंगभूमि' में विनयसिंह और रानी जाह्नवी, 'कर्मभूमि' में समरकान्त, प्रोफेसर शान्तिकुमार और सलीम ग़रीबों की सहायता के लिए कष्ट उठाते हैं। उन ग़रीबों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए लेखक गाँवों के औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं है। अपने उपन्यासों में वे मौलिक, आर्थिक समस्याओं के हल के लिए इधर-उधर भटकते दिखायी देते हैं। बीस और तीस के राष्ट्रीय आन्दोलनों के समय वे गान्धीवादी विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित थे, लेकिन एक ईमानदार कलाकार के नाते उन्होंने इस विचारधारा की सामर्थ्य की जाँच की और पाया कि भयंकर बीमारी के लिए

यह एक साधारण-सा इलाज है। भारतीय किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलनों में जो-जो प्रयत्न हुए, उन सब का वर्णन प्रेमचन्द ने सचाई के साथ किया। होरी जैसा पहले दुखी था वैसा अब भी है। इन वर्षों में उसकी स्थिति इतनी बिगड़ गयी है कि वह अन्त में उन शक्तिशाली आर्थिक परिस्थितियों का शिकार हो जाता है जो और भी अधिक क्रूर हो उठती हैं। इस तरह लेखक ने अपनी कला का उपयोग ग्रामीण जीवन और उसकी समस्याओं के चित्रण के लिए किया। उन्होंने मध्यवर्ग पर भी लिखा जो कि प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों था। प्रगतिशील तो इसलिए कि वे अतीत की कटु आलोचना करते थे; और प्रतिक्रियावादी इसलिए कि वे क्रूर वर्तमान के विरुद्ध अतीत को आदर्श मानते थे और उसके पुनर्निर्माण की आशा रखते थे। उन्होंने भयभीत किसानों के सम्बन्ध में लिखा; राष्ट्रीय संग्राम में भाग ले कर अपने युग के विषाद को नष्ट करने वाले मध्यवर्ग के लोगों का चित्रण किया; मरती हुई सामन्ती व्यवस्था और तेज़ी से आती हुई पूँजीवादी सभ्यता का वर्णन किया। वे निश्चय ही एक ऐसे मानवतावादी थे जिनका मनुष्य की गरिमा में अगाध विश्वास था। तीस साल तक साहित्य रचना करने का आशय यह था कि वे इस बात की उत्कट अभिलाषा रखते थे कि पाठकों में जीवन के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण रखने की भावना उत्पन्न हो जाय। इसी सामाजिक उद्देश्य से उनका मस्तिष्क व्याप्त था और इसी से उनकी कला अनुप्राणित थी।

—:o:—

सेवासदन

[डा० मुंशीराम शर्मा]

रीतिकाल में भारतीय विचार-धारा कुछ ऐसी स्थिर हो गयी थी कि उसमें परिवर्तन उत्पन्न करना प्रायः असम्भव था। एक-से-एक उच्च कोटि के कलाकार अपनी दैवी प्रतिभा का प्रयोग नख-शिख, नायिका-भेद और अलंकार-वर्णन में ही करते थे। यह अवस्था साहित्यिक स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं थी। अनेक वर्षों से जो भावनाएँ चली आ रही थीं, उनका प्रवाह, उनकी गति एक प्रकार से अवरुद्ध हो गयी थी और उनमें रोग के कीटाणु घर करने लगे थे। यद्यपि इस दशा में राममोहनराय, दयानन्द आदि सुधारकों द्वारा कुछ संशोधन हुआ था; फिर भी परिवर्तन की वेगवती धारा की अभी आवश्यकता बनी थी। हमारा एक वर्ग इसी अवस्था से चिपटा हुआ था; दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग भी उत्पन्न हो चला था, जो पश्चिम की शैली और पश्चिम के विचारों से प्रवाहित हो रहा था। आवश्यकता थी एक ऐसे कुशल कलाकार की, जो पश्चिम की इस शैली में भारतीय आत्मा को भर सके और साथ ही शताब्दियों से चले आये विचारों को परिवर्तित कर सके। इन दोनों बातों का सामंजस्य हमें अमर कलाकर स्व० प्रेमचन्दजी की कृतियों में दिखायी दिया।

प्रेमचन्दजी ने भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा की। 'प्रेमद्वादशी' में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—'मैंने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। पश्चिमी आदर्शों से एकदम भिन्न भारतवर्ष की यह आत्मा पातिव्रत धर्म, एक स्त्री-व्रत की भावना, धार्मिकता, परलोक में विश्वास (भाग्यवाद) आदि आदर्शों में प्रकट हुई है। इन भावनाओं पर भारतवर्ष की छाप लगी हुई है। प्रेमचन्दजी के ग्रंथों में किसी-न-किसी रूप में इन आदर्शों का अभिव्यंजन हुआ है। इसके साथ ही उनके ग्रंथों में गांधीवाद की भी छाप है; परन्तु सबसे बढ़कर उनकी रचनाओं में कदाचित् यह भावना है कि पापी जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति भी पवित्र होने की संभावना रखता है।

प्रेमचन्दजी के हृदय में समाज के उस अंग के प्रति भी स्थान है, जो किसी कारणवश हेय दृष्टि से देखा जाता है। वेश्याओं का समुदाय और अछूतों का जीवन उनके निकट त्याज्य नहीं है। ये अंग भी समाज के लिए उपयोगी बन सकते हैं। पापी-से-पापी जीवन के अन्दर भी पवित्रता के अंकुर निहित हैं। ये अंकुर उचित परिस्थिति को पाकर सदाचार के महान् वृक्ष में परिवर्तित हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रेमचन्दजी भारतीय आदर्शों के अनुकूल आत्मा की अनवरत परिशुद्धि में विश्वास रखते हैं।

('सेवासदन' इसी मंगल आदर्श को सम्मुख रखता है। सुमन जो 'सेवासदन' की मुख्य पात्री है, और जिसका जीवन सेवासदन की समस्त घटनाओं का केन्द्र है, यद्यपि बीच में पथ से विचलित हो जाती है, पर अन्त में वेश्याओं की छोटी लड़कियों के सुकुमार हृदयों का संस्कार करने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देती है।)

'प्रसाद' ने जहाँ अपने उपन्यासों में दानव में मानव और मानव में दानव छिपा हुआ दिखलाया है, बड़े-से-बड़े पापी को पवित्र और पवित्र को पापी के रूप में अंकित किया है—एक प्रकार से हमारे आजकल के जीवन का नग्न रूप उपस्थित किया है, वहाँ प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों द्वारा हमारे जीवन को परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है। संस्कृत का समग्र साहित्य और हिन्दी का प्राचीन साहित्य जिस क्षेत्र में पैर न रख सका, उस क्षेत्र में प्रेमचन्द ने अवतीर्ण होकर यह प्रदर्शित किया कि हम इस बाँध को तोड़ सकते हैं—अपने सामाजिक जीवन को उन्नत बना सकते हैं। रूढ़ियों और अंधविश्वासों के लिए उन्होंने समाज को दोषी ठहराया। पृष्ठ ३०३ में सदन के शब्दों में उन्होंने समाज की रूढ़िबद्धता इस प्रकार प्रकट की है—'इस अन्याय को मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन यह अन्याय हमने नहीं किया; वरन् उस समाज ने किया है, जिसमें हम लोग रहते हैं।' यदि समाज परिवर्तित हो जाय, तो उसके साथ यह अन्याय भी दूर हो सकता है और समाज का परिवर्तन कोई दुष्कर कार्य नहीं है।

(साथ-साथ प्रेमचन्दजी ने स्त्रियों के सम्मान की भी भावना प्रकट की है। गजानन्द सुमन को निकाल देने पर पाश्चात्ताप करते हैं और अनुभव करते हैं कि समाज में स्त्रियों का आदर अवश्य होना चाहिए। पृष्ठ ३७२ में वे कहते

हैं—'आदर या प्रेम-विहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती। स्त्री फटे-पुराने वस्त्र पहनकर, आधे पेट सूखी रोटी खाकर, मिहनत-मजूरी कर, झोपड़ी में रहकर आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है—केवल घर में उसका आदर होना चाहिए; उससे प्रेम होना चाहिए।' प्रेमचन्दजी ने राष्ट्र की उठती हुई भावनाओं को भी 'सेवासदन' में स्थान दिया है। देश-प्रेम, मातृ-भाषा-प्रेम, हिंदू-मुसलिम-ऐक्य आदि कई ऐसे भाव हैं, जो 'सेवासदन' में स्थान-स्थान पर अपना प्रकाश कर रहे हैं। यदि हमारे व्यावहारिक जीवन में कहीं त्रुटि है, तो उस पर भी इस कलाकार का ध्यान गया है। पृष्ठ ३४६ में सुधारकों को चेतावनी देते हुए वे लिखते हैं—'जब तक अन्तःकरण दिव्य और उज्ज्वल न हो, वह प्रकाश का प्रतिबिंब दूसरों पर नहीं डाल सकता।' आगे उन्होंने लिखा है—'हम वह काम करना चाहते हैं जिससे हमारा नाम प्राणि-मात्र की जिह्वा पर हो। कोई ऐसा लेख अथवा ग्रंथ लिखना चाहते हैं जिसकी लोग मुक्त-कंठ से प्रशंसा करें और प्रायः हमारे इस स्वार्थ-प्रेम का कुछ-न-कुछ बदला मिल भी जाता है; लेकिन जनता के हृदय में हम घर नहीं कर सकते।' हमारे आजकल के नेताओं का इन वाक्यों में कैसा चित्र खींच दिया गया है!

'सेवासदन' के लेखक में अतुलनीय अनुभव-शक्ति है। उसका हृदय जीवन की नाना प्रकार की परिस्थितियों के साथ तादात्म्य रखता है। ग्रामीण जीवन का वर्णन करते हुए प्रेमचन्दजी एक चित्र-सा खड़ा कर देते हैं, जिसमें स्वाभाविकता के साथ मार्मिकता का समावेश रहता है। उनकी कृतियों में जीवन का सच्चा रूप प्रकट हुआ है। गंगाजली और उनकी दोनों बेटियाँ पुलिस के पंजे में फँसे हुए कृष्णचन्द्र को चलते समय जब पकड़ने की चेष्टा करती हैं, उस समय करुणा का मूर्तिमान रूप पाठकों के सामने खड़ा हो जाता है। गंगाजली अपने भाई के घर पर बीमार पड़ती है और उमानाथ उसकी दशा पर शोक प्रकट करते हुए वैद्य को लिवाने जाते हैं तो उनकी स्त्री जाह्नवी उनपर टूट पड़ती है और कहती है—'हाँ, हाँ दौड़ो, वैद्य को बुलाओ, नहीं तो अनर्थ हो जायगा। अभी पिछले दिनों महीनों मुझे ज्वर आता रहा तब वैद्य के पास न दौड़े। मैं भी ओढ़कर पड़ रहती तो तुम्हें मालूम होता कि इसे कुछ हुआ है;

लेकिन मैं कैसे पड़ रहती, घर की चक्की कौन पीसता ?'

इन वाक्यों में एक साधारण स्त्री का वैमनस्यपूर्ण हृदय प्रकट हुआ है। न केवल हिंदुओं की पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओं को प्रेमचन्दजी ने सुलझे हुए रूप में रखा है, प्रत्युत् मुसलमानों के हृदय की बातों का भी अत्यन्त स्पष्टता और सहृदयतापूर्वक वर्णन किया है। म्युनिसिपैलिटी के कई मुसलमान सदस्य पं० पद्मसिंह शर्मा के प्रस्ताव के साथ हैं। ये मुसलमानों के उस दल के प्रतिनिधि हैं, जिनके दिल में सचाई है, और जो देश के उत्थान में हिंदुओं के कंधे से कंधा मिलाकर काम करना चाहते हैं। अबुलवफा और उनके साथी मुसलमानों के दूसरे दल के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। डाक्टर श्यामाचरण और उनकी पुत्री के शतरंज खेलने का वर्णन, अध्यापिका के दिये हुए प्रमाणपत्र दिखलाने का भाव तथा उसकी अँग्रेजी में निपुणता की बात हमारे आजकल के अँग्रेजी शिक्षा-दीक्षा में पले हुए परिवार की-सी गाथा प्रतीत होती है। स्थान-स्थान पर प्रेमचन्दजी ने जीवन-संबंधी अपने इस अनुभव को प्रकट किया है। प्रसंगों के वर्णन में तो वह है ही, साथ ही ऐसी उक्तियों द्वारा भी प्रकट हुआ है, जो किसी घटना पर सिंहावलोकन करते समय उनके मुख से निकल पड़ी हैं—सदन नाव लेने के लिए रुपयों का प्रबंध सोच रहा है, नाव मिल जाने पर वह किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करेगा, इसे कल्पना की दृष्टि से निश्चित करता जाता है। परन्तु, अकस्मात् रुपए प्राप्त न होने का विचार उसके सब मनसूबों पर पानी फेर देता है। प्रेमचंद इस प्रसंग की समालोचना करते हुए बड़े सुन्दर शब्दों में अपना अनुभव प्रकट करते हैं—'युवाकाल की आशा पुआल की आग है, जिसके जलने और बुझने में देर नहीं लगती।' एक अन्य स्थान पर सुख-दुःख-मिश्रित जीवन की वास्तविकता को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—'लहर यदि मीठे स्वरों में गाती है, तो भयंकर ध्वनि से गरजती भी है। हवा अगर लहरों को थपकियाँ देती है, तो कभी-कभी उन्हें उछाल भी देती है।' किसी काम के करने में हम बहुत आगा-पीछा करते हैं, परंतु जब एक भाव दृढ़ता को प्राप्त होता है अथवा परिपक्व हो जाता तो हम किसी के कहने से नहीं रुकते—अपने आप उस ओर चल पड़ते हैं। प्रेमचन्दजी इस तथ्य को इन शब्दों में लिखते

हैं—'कच्चा फल पत्थर मारने पर भी नहीं मिलता; किंतु पककर वह अपने आप धरती की ओर आकर्षित हो जाता है।'

अपने ग्रामीण जीवन के अनुभव द्वारा सदन के अपनाने पर शांता की अवस्था का वर्णन प्रेमचन्दजी ने इस प्रकार किया है—'जैसे जेठ-बैसाख के तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गयी है—प्रेम में मग्न है।' ऐसे स्थल जिनमें प्रेमचन्दजी का गहरा अनुभव छिपा हुआ है 'सेवासदन' में एक नहीं, अनेक हैं। प्रसंगों के वर्णन में भी, चाहे सदन का चरित्र देखिए और चाहे सुमनबाई का; चाहे दालमंडी का चित्र देखिए और चाहे किसी पार्क की सैर का, चाहे मल्लाहों की स्त्रियों का और चाहे अपने कुटुम्बियों और उनके व्यावहारिक जीवन का—प्रत्येक क्षेत्र में प्रेमचन्दजी का जीवन-अनुभव खरा और सच्चा उतरेगा।

भाव-जगत् में भी हमारे इस कलाकार का गहरा प्रवेश है। जिस परिस्थिति में, जिस प्रकार के विचार उद्भूत होते हैं वैसे ही विचार प्रेमचन्दजी ने अपने पात्रों के द्वारा सम-विषम परिस्थितियों में प्रकट कराये हैं। दारोगा कृष्णचन्द्र का जीवन पवित्र था और रिश्वतखोरी से एकदम पृथक् था। कन्या के विवाह की भीषण समस्या उन्हें इस दलदल की ओर ले गयी, और वे बेचारे उसमें बुरी तरह फँस गये—यहाँ तक कि उनके जीवन का अन्त भी इसी के कारण हुआ। यह परिवर्तन उनके पारिवारिक जीवन के लिए घातक सिद्ध हुआ और सेवासदन की समग्र घटनाओं का मूल कारण।

जाह्नवी के रूप में हमें एक ऐसी स्त्री के दर्शन होते हैं जो केवल अपने परिवार को ही सब कुछ समझती है, सुमन और शांता उसे एक आँख अच्छी नहीं लगतीं। भावधारा की गंभीरता नीचे लिखे प्रसंगों में स्पष्ट दिखलाई दे रही है। (१) कृष्णचन्द्रजी का सुमन के संबंध में अपवाद सुनना और अन्त में भागीरथी में मग्न हो जाना। (२) सुमन के अन्दर घर से निकलने पर, दालमंडी से हटने के पूर्व और फिर सदन के घर में मदनसिंह, पद्मसिंह आदि पारिवारिक व्यक्तियों के आ जाने पर गंगा की ओर चल देने पर जो भाव प्रकट हुए हैं, वे बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। (३) एक जगह में प्रेमचन्दजी ने

माँ का हृदय भामा के इन शब्दों में प्रकट किया है—'मेरे तो वह एक अन्धे की लकड़ी है, अच्छा है तो बुरा है तो अपना ही है। संसार की लाज से आँखों से चाहे दूर कर दूँ; पर मन से थोड़े ही दूर कर सकती हूँ।' दूसरी जगह पिता के प्रेम को प्रकट करते हुए प्रेमचन्दजी मदनसिंह के शब्दों में लिखते हैं—'मूर्ख, मुझसे रूठने चला है। तब नहीं रूठा था जब पूजा के समय पोथी पर लार टपकाता था। खाने की थाली के पास पेशाब करता था। उसके मारे उजले कपड़ों को तरस के रह जाता था।' मनुष्य दूसरे के साथ अपने संबंध की अनेक बातें सोचता है, परन्तु उसका सम्बन्ध पशुओं के साथ भी उतना ही सहानुभूतिपूर्ण होता है जितना पुरुषों के साथ। कालिदास की शकुन्तला आश्रम से दुष्यन्त के यहाँ जाने पर अपने सींचे हुए पौधों को देखकर प्यार करती है और हिरण के बच्चों को पुचकारती है। इससे वन्य जीवन एवं पशु-जगत् के साथ उसके हृदय की अभिन्नता सूचित होती है। प्रेमचन्दजी का हृदय भी बड़ा विशाल था। शांता जब पद्मसिंह और विट्ठलदास के साथ अपने ससुराल जाने को उद्यत हुई, तो वह मुन्नी गाय के गले से लिपटकर रोने लगी। वह सोचने लगी कि अब भविष्य में किसके लिए भूसी लेकर दौड़ेगी, किसके गले में काले डोरे में कौड़ियों की माला गूँथकर पहनावेगी ? मुन्नी गाय भी सिर झुकाये उसके हाथों को चाटने लगी। कष्टों की अवस्था में दुःख-द्रवित हृदय के विस्तार का कितना सुन्दर चित्र इन पंक्तियों में है !

प्रेमचन्दजी ने इस भाव-जगत् में भारतीय पद्धति के अनुसार भाग्यवाद का सम्मिश्रण किया है। 'सेवासदन' में कई स्थानों पर पात्रों के कार्य भाग्य द्वारा ही संचलित हुए हैं। जैसे कुँवर अनिरुद्धसिंह अपने जीवन की वर्तमान घटनाओं को पूर्व जन्म के कुकर्मों का फल मानते हैं। प्रेमचन्दजी पश्चात्ताप को भाग्यवाद के अनुसार आत्म-सुधार के लिए अंतिम चेतावनी समझते हैं जो ईश्वर की ओर से मिलती है। सुमनबाई के शब्दों में भी इसी बात का समर्थन करते हैं—'वह अवस्था भी तो मेरे पूर्व जन्मों के कर्मों का ही फल थी।'

प्रेमचन्दजी में वर्णन की अनुपम शक्ति है। जब वे किसी दृश्य अथवा

व्यापार का वर्णन करते हैं तो उसका चित्र-सा अंकित कर देते हैं। इस वर्णन में वे प्रायः कुछ स्वयंसिद्ध उक्तियों का प्रयोग करते हैं और व्यापारो के संबंध में मनोवैज्ञानिक रूप से भावों का उत्थान और पतन (अंतर्द्वन्द्व) बड़ी अच्छी तरह चित्रित करते हैं। साधारणतया प्रेमचन्द की रचनाओं में घटना का प्रधान वर्णन मिलता है; परन्तु कतिपय स्थानों पर यह वर्णन चमत्कारयुक्त भी हो जाता है। इनकी रचनाओं में उपमाएँ भरी पड़ी हैं। ये उपमाएँ हमारे दैनिक व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं से संबंध रखती हैं। ऊहा (कल्पना) के बल पर मस्तिष्क खरोच-खरोचकर नहीं निकाली गयीं। जैसे 'आत्मवेदना ने सुमन के हृदय पर वही काम किया जो साबुन मैल के साथ करता है, अथवा जिस प्रकार कोई रोगी क्लोरोफार्म लेने के पश्चात् होश में आकर अपने चीरे हुए फोड़े के गहरे घाव को देखता है और पीड़ा तथा भय से फिर मूर्च्छित हो जाता है—वही दशा इस समय सुमन की थी।'

प्रेमचन्दजी की शैली में सर्वत्र सरलता है। मनुष्य की कठिन-से-कठिन आन्तरिक परिस्थिति को चित्रित करने में भी प्रेमचन्दजी सरलता को नहीं छोड़ते। सदन ने घाट के निकट जब सुमन को देखा, उस समय सुमन की परिस्थिति का वे इन शब्दों में चित्रण करते हैं—

'यह सुमन थी; किन्तु कितनी बदली हुई—न वह लंबे केश थे, न वह कोमल गात, न वह हँसते हुए गुलाब से होंठ, न वह चंचल ज्योति से चमकती आँखें; न बनाव-शृंगार, न वह रत्न-जटित आभूषणों की छटा—वह केवल सफेद साड़ी पहिने थी, उसकी चाल में गंभीरता थी और मुख से नैराश्य और वैराग्य का भाव झलकता था।' फिर संक्षेप में उसकी अवस्था का वर्णन वे इन शब्दों में करते हैं—'काव्य वही था; पर अलंकारविहीन और इसीलिए सरल एवं मार्मिक।' यदि हम इसी उक्ति को प्रेमचन्दजी की शैली पर घटित करें तो कदाचित् अनुपयुक्त न होगा।

सेवासदन में कहीं-कहीं शैली की सूक्ष्मता भी प्रदर्शित होती है। यह सूक्ष्मता ध्वनि और व्यंग्य, इन दो शक्तियों के द्वारा प्रकट की जाती है। जब उमानाथ शांता के लिए वर ढूँढ़ने को निकले और संध्या के समय नाव के द्वारा

नदी पार करने की बात सोचने लगे, तो शीघ्र ही उन्होंने मल्लाहों को आवाज दी। नावें दूसरी ओर थीं, इसलिए उनके शब्द मल्लाहों के कानों तक न पहुँचते थे। इस घटना को प्रेमचन्दजी ध्वनि के आधार पर इस प्रकार लिखते हैं—'उनकी करुण ध्वनि को मल्लाहों के कानों में पहुँचने की आकांक्षा नहीं थी। वह लहरों से खेलती हुई उन्हीं में समा गयी!'

प्रेमचन्दजी ने पृष्ठ २४३ में करुण रस का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है। कृष्णचन्द्र और शांता में उस समय जो वार्त्तालाप हुआ है, वह बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। पृष्ठ २०० में हास्य का बड़ा सुन्दर छींटा है—जब जनता ने सदन की बारात और शामियाने पर पत्थर फेंकने शुरू किये, मुन्शी बैजनाथ उठकर छोलदारी में भागे। इसी प्रकार का हास्य सुमन के दालमंडी छोड़ने के समय का है जब चिम्मनलाल कुर्सी से गिरे, अबुलवफा की दाढ़ी जल गयी और दीनानाथ के ऊपर वार्निश गिरी—यद्यपि यह हास्य सुमन की उस समय की हार्दिक अवस्था के अनुकूल नहीं है। मनुष्य की आंतरिक मनोवृत्तियों के चित्रण में प्रेमचन्दजी भली-भाँति सफल हुए हैं। परिस्थिति-विशेष के अनुकूल जो भावनाएँ किसी मनुष्य के मन में उत्पन्न होती हैं, उनका यथातथ्य चित्रण इनकी रचनाओं में मिलता है। सुमन, कृष्णचन्द्र, मदनसिंह आदि कई पात्रों के चरित्र में उत्थान और पतन की अनेक मनोवृत्तियों का समावेश हुआ है। पृष्ठ ३३४ में लेखक अपने पात्रों की जीवन-क्रियाओं के साथ इतना तल्लीन हुआ है कि वह स्वयं उपन्यास के कथानक में भाग लेने लगा है। सुभद्रा और सदन में वार्त्तालाप हो रहा था। उसमें प्रेमचन्दजी अपनी तटस्थता छोड़कर सुभद्रा की बातों की समालोचना करने लगते हैं, मानों वे स्वयं उपन्यास के अंदर एक पात्र हों। वे लिखते हैं—'सुभद्रा, यदि यही बातें तुमने पवित्र भाव से कही होतीं, तो हम तुम्हारा कितना आदर करते।' कहा नहीं जा सकता कि प्रेमचन्दजी का कथा में भाग लेना कहाँ तक उचित होगा। उपन्यासकार को यह अधिकार है कि वह छूटी बातों को प्रसंग से संबंधित करने के लिए अपनी ओर से कह दे; परन्तु वह कथानक के अंदर स्वयं एक पात्र बन जाय, ऐसा कदाचित् उचित नहीं होगा। हम इसका समाधान यही कर सकते हैं कि लेखक अपने पात्रों के वार्त्तालाप में इतना तल्लीन हो गया है कि उसे लेखक

के रूप में अपने स्थिति का स्मरण ही नहीं रहा। लेखक की आत्म-तल्लीनता ही इसका एकमात्र कारण है। 'सेवासदन' में लोकोक्तियाँ तथा अनुभूत बातों को लेकर विषय को हृदयंगम कराने की भी सुन्दर चेष्टा की गयी है।

—:o:—

प्रेमाश्रम

[डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी]

'प्रेमाश्रम' में वे सभी विशेषताएँ मौजूद हैं जो प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों में हैं और यद्यपि स्वर्गीय रामदास गौड़ के बहुत-से मित्र 'सेवासदन' की उत्तमता के कारण डर रहे थे कि प्रेमचन्द की दूसरी कृति इतनी चोखी न हो सकेगी; परन्तु 'प्रेमाश्रम' को देखकर उनका डर निर्मूल सिद्ध हुआ था; क्योंकि 'हिंदी माता के सुपुत्र ने मौलिकता-सागर से मथकर यह दूसरा रत्न पेश किया, जो पहले से कहीं ज्यादा कीमती और सुन्दर है'; तथापि मैं यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि सुन्दर और कीमती चाहे जितना हो, इस उपन्यास में प्रेमचन्द की वह मौलिक विशेषता गौण हो गयी है जो उनकी अन्य समस्त रचनाओं में पायी जाती है।

नाम—से अनुमान होता है कि उपन्यास के अंत में वर्णित 'प्रेमाश्रम' की परिणति ही इस ग्रंथ का प्रधान प्रतिपाद्य है और उक्त आश्रम के नेता ही ग्रंथ के वास्तविक नायक हैं। परन्तु, यह बात ठीक नहीं है। ग्रंथकार की इच्छा यह जरूर रही है कि 'प्रेमाश्रम' की परिणति ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य हो और प्रेमशंकर ही इसके प्रधान पात्र हों; परन्तु सब मिला के उसकी इच्छा सफल नहीं हुई है। ग्रंथ का प्रतिपाद्य कुछ और हो गया है तथा उपन्यास का नायक भी वस्तुतः कोई और ही हो गया है। किसी-किसी समीक्षक ने कहा है कि यह उपन्यास 'कृषक जीवन की दयनीय दशाओं तथा मानवीय प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाला' और 'किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध की करुण कथा का कलात्मक रूप ही है।' परन्तु, विचारपूर्वक देखा जाय तो दोनों ही बातें 'प्रेमाश्रम' में गौण हो गयी हैं। मुख्य बात कुछ और ही है। देखा जाय, वह क्या है?

प्राचीन आचार्यों ने किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य को समझने के छः उपाय बताये हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य-निर्णये ।।

अर्थात् (१) उपक्रम (आरंभ) और उपसंहार, (२) बार-बार किसी बात की चर्चा, (३) अपूर्वता, (४) फल या प्रयोजन, (५) अर्थवाद या किसी बात की स्तुति-निंदा और (६) उपपत्ति या मुक्ति। ये छः बातें किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य-निर्णय में कारण होती हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में सैकड़ों ग्रंथों का तात्पर्य इसी नियम के अनुसार निर्णय किया गया है और इन प्रकार इस नियम की प्रामाणिकता हजारों वर्षों से अनुभूत और परीक्षित हो चुकी है।

उपक्रम और उपसंहार—पुस्तक खोलते ही लखनपुर गाँव के किसान साँझ के समय बैठे बातें करते हुए दिखायी देते हैं। इनकी बातचीत का विषय शुरू में तो अँग्रेजों की प्रशंसा और अपने देशी हाकिमों और जमींदारों की निंदा होती है; पर बाद में जमींदार के चपरासी गिरधर महराज का आगमन होता है जो 'जबान से सबके दोस्त और दिल से सबके दुश्मन' हैं। ये महाशय असामियों को घी के लिए रुपये बाँटने आये हैं। घी रुपये सेर का कटेगा, जब कि बाजार-भाव दस छटाँक का है और जिन्हें रुपये दिये जायँगे उनके पास या तो घी है ही नहीं, या है भी तो बहुत कम। मनोहर रुपये लेने से इनकार करता है और चपरासी के साथ उसका बत-बढ़ाव हो जाता है। गिरधर कहते हैं 'मनोहर, घी तो तुम दोगे दौड़ते हुए; पर चार बातें सुनकर। जमींदार के गाँव में रहकर उससे हेकड़ी नहीं चल सकती। अभी कारिंदा साहब बुलायेंगे, तो रुपये भी दोगे, हाथ पैर भी पड़ोगे, मैं सीधे कहता हूँ तो तेवर बदलते हो।' इस पर मनोहर गर्म होकर कहता है—'न कारिंदा कोई काटू है, न जमींदार कोई हौवा है। यहाँ कोई दबैल नहीं है, जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं, धौंस क्यों सहें।'

परन्तु आगे की कथा बताती है कि कारिंदा सचमुच काटू है और जमींदार हौवा है। सारा गाँव दबैल भी है और लगान ही नहीं, लगान के कई गुना बेगार चुकाने पर भी धौंस सहना ही उनका कार्य है। सारा गाँव जमींदार की कोपाग्नि में भस्म हो जाता है; परन्तु जमींदारी-प्रथा के नष्ट होते ही,

उपसंहार में फिर इसी लखनपुर गाँव में हम देखते हैं कि सारा दुःख-दर्द दूर हो गया है, लोग बड़े आराम से रहने लगे हैं। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार में यद्यपि 'किसानों के जीवन की सच्ची फोटो' खींची गयी है, पर उसका उद्देश्य जमींदारी प्रथा की अनिष्टता दिखाना ही है।

लेकिन, यद्यपि ग्रंथकार आदि और अंत में लखनपुर का यह वर्णन देता है तथापि यह मूल कथा का न तो उपक्रम ही है और न उपसंहार ही। मूल कथा का जन्मस्थान बनारस है, कर्म-स्थान लखनऊ और गोरखपुर है और अन्तस्थान गंगा की धारा है। लखनपुर की मनोरंजक कहानी—उसका आदि उत्तेजक, करुण मध्य और सुखकर अन्त—सभी उसी मूल कथा के रंग को गाढ़ा कर देने के लिए हैं। इसके उत्तेजक आदि के नेता ज़मीदार और उसके चपरासी हैं, करुण मध्य के संचालक मनोहर, विलासी और बलराज हैं, और सुखकर अन्त के स्रष्टा प्रेमशंकर और मायाशंकर हैं, जिनमें से कोई भी मूल कथा के रंग को गाढ़ा या स्पष्ट कर देने के सिवाय और कोई कार्य नहीं करता। इसी से यह स्पष्ट है कि प्रेमशंकर इस कथा के नायक नहीं हैं।

मूल कथा के नायक हैं ज्ञानशंकर, जिनके चरित्र की पृष्ठ-भूमिका में प्रभाशंकर शुरू से आखिर तक प्रकाश्य-प्रकाशक भाव से वर्तमान है। प्रभाशंकर को इस ग्रंथ में से अगर निकाल दिया जाय तो मूल कथा बिना रीढ़ की हो जायगी; जब कि ज्ञानशंकर को निकाल देने से वह निर्जीव हो जायगी। दूसरे परिच्छेद में ही ग्रन्थकार ज्ञानशंकर के उस स्वभाव का परिचय करा देता है जो सारी कथा को अग्रसर करने के लिए नितान्त आवश्यक है। ज्ञानशंकर के हृदय में भावी उन्नति की बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ थीं। वह अपने परिवार को फिर समृद्धि और सम्मान के शिखर पर ले जाना चाहते थे। घोड़े और फिटन की उन्हें बड़ी आकांक्षा थी। शान से फिटन पर बैठकर निकलना चाहते थे कि हठात् लोगों की आँखें उनकी तरफ आकृष्ट हो जायँ। चैन से जीवन व्यतीत हो, यही उनका ध्येय था। आराम को अनायास ही पा जाने की आकांक्षा और दारुण अधिकार-लिप्सा ज्ञानशंकर की प्रकृतिगत विशेषता थी। यही स्वभाव कहानी का वास्तविक उपक्रम है। इस स्वभाव ने लखनपुर को विपत्ति के भाड़ में झोंक दिया, उनके हाथों श्वशुर को विष दिलाया, पतिव्रता गायत्री को

नियम-भ्रष्ट किया, अपनी ही पत्नी विद्या के आत्मघात का कारण बना और ऐसा मन, वचन और कर्म संबंधी कोई अन्यायाचरण नहीं है जिसे नहीं कराया और अन्त में उन्हें भी ले डूबा। सारी कथा अधिकार-लिप्सा—तथापि जमींदारी-वृत्ति—की दारुण तृष्णा का परिणाम है। जो कोई भी थोड़ा या बहुत इस काजल की कोठरी के संपर्क में आया है वही कलंकित हुआ है। उबर गये हैं वे जिन्होंने इसे शुरू से ही प्रणाम कर दिया है। प्रेमशंकर ऐसे ही हैं, मायाशंकर ऐसे ही हैं, विद्या ऐसी ही है। इस प्रकार मूल कथा के उपक्रम और उपसंहार में भी ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा जमींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता दिखाना ही जान पड़ती है। किसानों की दयनीय दशा और मानवीय प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण, इसी प्रतिज्ञा के प्रतिपादन के साधन हैं।

अभ्यास—सारी पुस्तक में बार-बार घूम-फिरकर ग्रन्थकार स्मरण दिला देता है कि जमींदारी-प्रथा ही समस्त अनर्थों की जड़ है। साधारण भाव से वह समस्त अधिकारी के विरुद्ध है, पर इस ग्रंथ का विशेष प्रतिपाद्य जमींदारी-प्रजा की अनिष्टता सिद्ध करता चलता है। गायत्री और राय कमलानन्द पाठकों के सहानुभूति और आदर के पात्र हैं। गायत्री विद्या से कहती है—'तुम बाबूजी (राय कमलानंद) पर अन्याय करती हो, आखिर रुपये कैसे वसूल होते? निर्दयता अच्छी बात नहीं, पर इसके बिना काम ही न चले तो क्या किया जाय? तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे···लेकिन उन्हें भी असामियों पर सख्ती करनी पड़ती थी। मैंने स्वयं उन्हें असामियों को मुश्कें कस के पिटवाते देखा था। जब कोई और उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और अब मुझे भी वही करना पड़ता है। उस समय मैं समझती थी कि ये व्यर्थ इतना जुल्म करते हैं। उन्हें समझाया करती थी पर जब अपने माथे पड़ गयी तो अनुभव हुआ कि ये नीच बिना मार खाये रुपये नहीं देते। घर में रुपये रखे रहते हैं, पर जब तक दो-चार लात घूँसे न खा लें या गालियाँ न सुन लें, देने का नाम नहीं लेते। यह उनकी आदत है।' स्वयं राय कमलानन्द अपने दामाद ज्ञानशंकर से, जिसने उन्हें विष दिया था, कहते हैं—'मैं जानता हूँ कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यह हमारे वर्तमान लोक-व्यवहार का दोष है। यह सारी बिडंबना इसी जायदाद का फल है। इसी जायदाद के कारण

हम और तुम एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं।' फिर, इस जायदाद की वास्तविकता क्या है?—'इसे रियासत कहना भूल है, यह निरी दलाली है। नवाबों के जमाने में किसी सूबेदार ने इस इलाके की आमदनी वसूल करने के लिए मेरे दादा को नियुक्त किया था।....अँग्रेजों का जमाना आया और यह अधिकार पिताजी के हाथ से निकल गया, लेकिन राज-विद्रोह के समय पिताजी ने तन-मन से अँग्रेजों की सहायता की। शांति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार मिल गया। यही इस रियासत की हकीकत है। हम केवल लगान वसूल करने के लिए रखे गये हैं। इसी दलाली के लिए हम एक दूसरे के खून से हाथ रँगते हैं, इसी दीन-हत्या को हम रोब कहते हैं, इसी कारिंदागिरी पर हम फूले नहीं समाते। सरकार अपना मतलब निकालने के लिए हमें मालिक कहती है, लेकिन जब साल में दो बार हमसे मालगुजारी वसूल की जाती है तब हम मालिक कहाँ रहे? यह सब धोखे की टट्टी है। तुम कहोगे, यह सब कोरी बकवाद है, रियासत इतनी बुरी चीज है, तो छोड़ क्यों नहीं देते? हाँ, यही तो रोना है कि इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया, हम किसी काम के नहीं रहे। हम पालतू चिड़ियाँ हैं, हमारे पंख शक्ति-हीन हो गये हैं। हममें अब उड़ने की सामर्थ्य नहीं है। हमारी दृष्टि सदैव अपने पिंजरे के कुल्हिये और प्याली पर रहती है, हमने अपनी स्वाधीनता को मीठे टुकड़ों पर बेच दिया है।'

अर्थवाद—उपन्यास में प्रधान कथा के उन्नायक चरित्रों के सिवा जितने भी व्यक्ति हैं, जितनी भी घटनाएँ हैं, जितने भी वार्त्तालाप हैं वे सभी इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए आते हैं। कभी-कभी वे सरकार की बदनीयती का सबूत लेकर भी उपस्थित होते हैं; पर ऐसा एक भी गौण चरित्र नहीं है जो जमींदारी-प्रथा के काले चित्र को और भी गाढ़ा न कर देता हो। डाक्टर प्रियनाथ चौपड़ा बैरिस्टर इर्फानअली, तहसीलदार ज्वालासिंह—सभी इस कम्बख्त प्रथा के झपेटे में आ जाते हैं। जब कभी वे न्याय का पक्ष लेना चाहते हैं, जमींदार की मोटी रकम का वादा उनके सामने आ खड़ा होता है। सनातन-धर्म-सभा का भड़कीला अधिवेशन, सैयद ईजाद हुसेन के यतीमखाने का हास्यास्पद स्वाँग, ग्रामीणों का सरल अभिनय और रासमंडली की शानदार सफलता—प्रत्येक

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस काले धब्बे को और भी काला कर देते हैं। ग्रंथ में जहाँ कहीं भी अनावश्यक वाग्विस्तार वा घटना-योजना हुई है वह सिर्फ ग्रंथ-कार के उक्त अभिमत की पुष्टि के लिए हुई है। समीक्षकों ने ठीक ही कहा है कि कथा की रोचकता की दृष्टि से सनातन-धर्म-सभा का भड़कीला अधिवेशन व्यर्थ है; परन्तु इस व्यर्थ योजना का उद्देश्य भी स्पष्ट ही जमींदारी-प्रथा की कलंक-रेखा और भी स्पष्ट कर देना है। तेजशंकर और पद्मशंकर के भैरव-विश्वास और बलिदान की कहानी एकदम अनावश्यक है, फिर भी ग्रंथ में उसे जोड़ने का बहाना ग्रंथकार को यही मिला है कि मायाशंकर की अनायास संपत्ति-प्राप्ति इस दारुण बलिदान का कारण थी।

उपपत्ति—जब कभी और जहाँ कहीं भी ग्रंथकार को अवसर मिला है वहाँ अत्यन्त आप्त-पात्रों के मुख से वह यह कहलाने में नहीं चूकता कि जमींदारी-प्रथा का मूलोच्छेद हुए बिना कृषकों की दीनता और अकृषकों की चरित्र-भ्रष्टता नहीं दूर हो सकती। इस बात को कहनेवाले वे होते हैं जो बड़े-बड़े ताल्लुकेदार हैं, जैसे राय कमलानन्द और गायत्री, जो कानून और अर्थ-शास्त्र का ज्ञान रखते हैं, जैसे इर्फानअली, जो इस प्रथा के रथ-घर्घर से अपनी आत्मा का पिस जाना अनुभव कर चुके हैं, जैसे ज्वालासिंह, दयाशंकर और डाक्टर प्रियनाथ और अन्त में अपने सबसे निर्दोष, सबसे समृद्ध, सबसे होनहार पात्र मायाशंकर से उपसंहार कराते हुए ग्रंथकार ने मानो समस्त ग्रंथ का अभीष्ट प्रतिपाद्य कहलवा दिया है—'जमींदार इसलिए नहीं है कि प्रजा के पसीने की कमाई को भोग-विलास और विषय में उड़ाये, उनके टूटे-फूटे झोंपड़ों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उनकी नग्नता को अपने रत्न-जटित वस्त्रों से अपमानित करे, उनकी सन्तोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वाद-लिप्सा से उनकी क्षुधा-पीड़ा का उपहास करे। अपने स्वत्वों पर जान देता हो, पर अपने कर्तव्यों से अनभिज्ञ हो। ऐसे निरंकुश प्राणियों से प्रजा की जितनी जल्द मुक्ति हो, उनका भार प्रजा के सिर से जितनी ही जल्द दूर हो, उतना ही अच्छा है।' यह केवल कल्पना नहीं है। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर लखनपुर के सर्वाधिक विश्वसनीय कादिर के मुँह से हम सुनते हैं—'मुझी को देखो। पहले बीस बीघे का काश्तकार था, १००) लगान देने पड़ते

थे। दस-बीस रुपये साल में नजराने निकल जाते थे। अब जुमला २०) लगान है, नजराना नहीं लगता। पहले अनाज खलिहान से घर तक न आता था। आपके चपरासी, कारिन्दे वहीं गला दबाकर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन-चार सौ बचे होंगे। डेढ़ सौ की एक जोड़ी बैल लाये, घर की मरम्मत करायी, सायबान डाला। हाँड़ियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिये और सबसे बड़ी बात यह कि अब किसी की धौंस नहीं, मालगुजारी दाखिल करके चुपके घर चले आते हैं। नहीं तो हरदम जान सूली पर चढ़ी रहती थी। अब अल्लाह की इबादत में जी लगता है, नहीं तो नमाज भी बोझ मालूम होती थी।' इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय जमींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता है।

प्रश्न हो सकता है कि 'तो क्या प्रेमशंकर की सारी तपस्या व्यर्थ है ? क्या प्रेम और भ्रातृभाव का महान आदर्श इस उपन्यास में अत्यन्त उपेक्षणीय होकर ही आया है ?' या फिर साधारण भाव से आप पूछ सकते हैं कि सारा ग्रंथ एक नकारात्मक उद्देश्य से ही लिखा गया है। निवेदन है कि प्रेमशंकर की तपस्या उपेक्षणीय भी नहीं है, उसने अपना महत्त्वपूर्ण प्रभाव भी डाला है और कहानी को गति देने में मूल कारणों के साथ भी रहा है। परन्तु, उसका क्षेत्र एक गौण कथानक होने के कारण वह मूल कहानी का मुख्य उपादान नहीं हो सका है। लखनपुरवाली कहानी केवल उपर्युक्त उद्देश्य (जमींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता) दिखाने के लिए है और उक्त ग्राम की दुःख-दुर्दशा को दूर करने में प्रेमशंकर के प्रेम का आदर्श बहुत कुछ सहायता करता है—क्योंकि उसी आदर्श के कारण इर्फानअली, ज्वालासिंह और प्रियनाथ किसानों के पक्ष में आ जाते हैं—परन्तु मूल कथानक में उस आदर्श का प्रभाव बहुत ही कम है। इसलिए जहाँ तक प्रेमाश्रम का सम्बन्ध है प्रेमचन्दजी अपने भावात्मक आदर्शों को प्रधानता नहीं दे सके हैं और अभावात्मक आदर्श प्रधान हो गये हैं।

'रंगभूमि' पर नयी दृष्टि

[श्री मन्मथनाथ गुप्त]

'रंगभूमि' प्रेमचन्द का सबसे बड़ा उपन्यास है। इस उपन्यास के नाम से ही यह स्पष्ट है कि लेखक ने यह समझ कर ही इसका नाम 'रंगभूमि' रखा था कि समसामयिक भारतीय समाज का विस्तृत प्रतिफलन हो। यह उपन्यास १९२४ के लगभग प्रकाशित हुआ था। १९२१ का असहयोग आन्दोलन भारत को एक साल के अन्दर स्वराज्य दिलाने में तो असमर्थ रहा, पर किसी असहयोगी के मन में इस असफलता का अवसाद नहीं था। लोगों के मन में अभी यह सुनहरी आशा बाकी थी कि चोरीचोरा के कारण गान्धीजी ने जो आन्दोलन का एकाएक स्विच बन्द कर दिया था उससे उसको पूरा मौका ही नहीं मिला था। स्वयं प्रेमचन्दजी भी इधर कई वर्षों से असहयोग के प्रवाह में बह रहे थे। उन्होंने अत्यन्त त्याग स्वीकार कर सरकारी नौकरी छोड़ दी थी, और अब व्यावहारिक रूप से असहयोग तथा कांग्रेस में भाग लेने की बात सोच रहे थे।

इस सामाजिक और मानसिक वातावरण में जो उपन्यास लिखा गया होगा, उसमें गांधीवाद के नये तरीके पर विश्वास का आधिक्य प्रतीत होगा इसमें आश्चर्य ही क्या है ! श्री अनुसूयाप्रसाद पाठक ऐसे बुद्धिमान पाठक इसलिए गद्गद होकर यह लिखते हैं कि 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' दो-दो बार पढ़ीं। उस जेल में वह साथी थीं। पात्रों के चरित्र वहाँ बलदात थे। उस समय प्रेमचन्द जी दूर नहीं, बल्कि पास उपदेशदाता के रूप में वर्तमान से मालूम देते हैं।' इन मन्तव्यों की यह बात विशेष दृष्टव्य है कि 'रंगभूमि' के चरित्र जेल में बल देने की सामर्थ्य रखते हैं, अर्थात् एक असहयोगी को जेल में रहते समय बल देते थे। प्रेमचन्द का यह वृहत्काय उपन्यास बहुतों की दृष्टि में इसी कारण बहुत उपादेय है कि वह उन्हें बल देता है। दूसरे शब्दों में उनके निकट यह उपन्यास इसलिए एक शाहकार है कि यह आदर्शवादी है। हम न तो आशावाद के विरुद्ध हैं और न हम उसमें निर्दिष्टता के ही विरोधी हैं, सच तो यह है कि इस प्रकार के सन्देश की अव्यक्त तथा सूक्ष्म मौजूदगी पर ही कला चरम

सार्थकता प्राप्त कर सकती है, और अपने क्रान्तिकारी कर्त्तव्यों को अंजाम देकर जीवन को सुन्दर तथा सार्थकतर बना सकती है, पर ऐसा जो सन्देश हो उसके लिए सबसे बड़ी शर्त यह होनी चाहिए कि वह हो तो वास्तविकता के चट्टानी आधार पर स्थित, वह आशा होने के साथ-साथ ऐसी आशा तो हो कि अपने को वास्तविक प्रमाणित कर सके।

श्री हरिभाऊ उपाध्याय 'रंगभूमि' की प्रशंसा में शतमुख होकर कहते हैं कि 'रंगभूमि का सूरदास मेरे हृदय में बैठ गया था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों वह हिन्दुस्तान के स्वराज्य की कुंजी लेकर आया है। उसे पाकर ऐसा ज्ञात होता था मानों कोई खोयी हुई चीज़ मिल गयी हो। मैंने उनका 'कर्मभूमि' और 'गोदान' भी पढ़ा है परन्तु दोनों 'रंगभूमि' की होड़ के नहीं जँचे। 'गोदान' मैंने उनकी अन्तिम कृति के योग्य आदर के साथ पढ़ा पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु नहीं मिली जो 'रंगभूमि' में मिली थी। 'रंगभूमि' में एक गरीब अन्धे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण आन्दोलन खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता है इसका वह एक नमूना था। 'गोदान' में ऐसा कोई धीरोदात्त पात्र नहीं मिलता।

ये एक भक्त के उद्गार हैं, पर एक समीक्षक का काम बहुत ही कठिन है। उसे नीरक्षीर विवेक कर यह दिखाना पड़ता है कि अमुक रचना कहाँ तक कला की कसौटी पर ठीक उतरती है। श्री हरिभाऊ के अनुसार सूरदास भारत के स्वराज्य की जो कुंजी लाया है वह सचमुच कोई कुंजी है, या कुंजी का कागज़ी अक्स मात्र है जिससे ताला खुलना तो असम्भव है, पर जिसे जेब में रखकर कोई चाहे तो अपने को धोखा दे सकता है। आपात दृष्टि से देखने पर तो यही ज्ञात होता है कि यह कुंजी जिसको पाकर हरिभाऊजी समझते हैं कि उन्होंने सब कुछ पा लिया, वह तो पाँडेपुर गाँव को भी सरकार द्वारा पृष्ठ-पोषित स्वदेशी पूँजीवाद के चंगुल से नहीं बचा सका, यहाँ तक कि सूरदास की झोपड़ी भी नहीं बची और घलुवे में उसकी जान तथा सैकड़ों दूसरे लोगों की जानें गयीं।

हरिभाऊजी यह जो कहते हैं कि 'रंगभूमि' उपन्यास यह बतलाता है कि आत्मबल से क्या प्राप्त हो सकता है, पर हम तो 'रंगभूमि' में आत्मबल को कुछ

प्राप्त करते नहीं देखते। जिस जमीन के लिए सारा झगड़ा था वह तो बची नहीं, यदि बचती तो हम कहते कि हाँ, आत्मबल ने कुछ प्राप्त किया, पर प्रेमचन्दजी उपन्यास के अन्तिम अध्यायों में यह दिखलाते हैं कि सब-के-सब गाँव वाले बिखर गये हैं। कोई कहीं गया, कोई कहीं। नायकराम शहर का रास्ता लेता है, बजरंगी किसी अन्य गाँव में जाकर बसता है, भैरो कहीं और। मैं यह नहीं कहता कि हार हर क्षेत्र में बुरी चीज़ है। पराजय के बाद यदि लड़नेवाले लोग थककर बैठ जायें या बिखर जायें, तो अवश्य ही वह पराजय किसी प्रकार अच्छी नहीं कही जा सकती। जहाँ पराजय का अर्थ है नये ढंग से कार्य करने के लिए स्फूर्ति तथा प्रोत्साहन की प्राप्ति, वहाँ पराजय का अर्थ संग्राम के जीवन में एक नया पन्ना उलटना होता है। ऐसी पराजय पर हमें ग्लानि की आवश्यकता नहीं। ऐसी पराजय तो विजय की सूचक तथा उसकी कृष्णवर्णा अग्रदूती मात्र है।

आखिर क्या बात है कि सब-के-सब पाठकों तथा समालोचकों ने एक विशेष प्रकार के रंगीन चश्मे से 'रंगभूमि' को देखा, और इस मोटी बात को भी न देखा कि पाँडेपुर की ज़मीन जो सारे झगड़े या प्रयोग का केन्द्र थी, उसका तथा उसके निकाले हुए लोगों का क्या हुआ? ऐसी क्या बात हुई जिससे सभी लोगों ने 'रंगभूमि' में एक असाधारण चीज़ देखी? इन सभी भ्रमों के लिए स्वयं प्रेमचन्द ही ज़िम्मेदार हैं। 'रंगभूमि' के लेखक प्रेमचन्द असहयोग के आदर्शों से ओतप्रोत हैं। 'गोदान' में उन्होंने जो संहत समाहित पूर्ण वस्तुवादी दृष्टिकोण का प्रदर्शन किया है, अभी उसके विकसित होने में विलम्ब है। उस परिष्कृत दृष्टि को प्राप्त करने के लिए अभी गान्धीवाद के और प्रयोगों की व्यर्थताओं को प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता है। अभी तो प्रेमचन्द की आँखों में गान्धीवाद के खुमार की लाली अवशिष्ट है, बल्कि सच कहा जाये तो 'रंगभूमि' उसके भरपूर नशे में विभोर अवस्था में लिखित उपन्यास है।

दृष्टिगत (Subjective) रूप में 'रंगभूमि' के कलाकार अभी गान्धीवाद के मन्दिर में पुजारी हैं। सूरदास की सृष्टि उन्होंने गान्धीवादी आदर्श के नमूने पर ही की है। इसी कारण वे उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय का ऐसा समावेश करते हैं कि वह आदर्श का मूर्त रूप हो जाता है। भैरो यह समझता है

कि उसकी बीबी सुभागी सूरदास से फँसी है। वह बस इसी सन्देह पर उसके घर में आग लगा देता है, साथ ही सूरे की जन्म भर की कमाई जिसे उसने सार्वजनिक कल्याण के लिए कुएँ आदि खुदवाने के लिए रखा है लेकर चलता हो जाता है। सूरदास को विश्वस्तसूत्र से मालूम हो जाता है कि यह कुकृत्य किसने किया है, पर वह चुप रहता है। यहाँ तक कि जब भैरो के यहाँ से सुभागी उस थैली को फिर से चुराकर उसके हवाले करती है, तो वह उसे लेने से इनकार करता है। यही नहीं, वह खुद अपनी इस थैली को चोर के घर पहुँचा देता है। यह अस्तेय ही नहीं, उससे एक कदम आगे की बात हुई। जब सूरे को छूटकर भैरो के सर्वस्व के अग्निकांड में स्वाहा हो जाने की बात मालूम हुई तो उसने इन तीन सौ रुपयों को भैरो के हवाले कर दिया। इससे लेखक ने दिखलाया है कि भैरो का मलिन हृदय इस आन्तरिक निर्मलता से प्रतिबिम्बित हो गया। आज पहली बार उसे सूरदास की नेकनीयती पर विश्वास हो गया। अन्त तक भैरो ने सूरे से कहा 'अब तक मैंने तुम्हारे साथ जो बुराई-भलाई की, उसे माफ करो। आज से अगर तुमसे कोई बुराई करूँ तो भगवान समझे।' भैरो ने अपनी स्त्री को निरपाप जानकर उसे ग्रहण कर लिया।

राजा महेन्द्रकुमार सूरदास से अदावत इस प्रकार मानते थे कि जब ईसाई पूँजीपति जॉनसेवक ने अपने सिगरेट के कारखाने के लिए सूरदास वाली ज़मीन माँगी तो कई कारणों से महेन्द्रकुमार ने इस ज़मीन को प्राप्त कराने में जॉनसेवक की मदद की। यह ज़मीन जॉनसेवक को दे दी गयी पर इसके बाद सूरे ने इतना कुहराम मचाया कि राजा साहब बदनाम हो गये। राजा साहब थे यशोलिप्सु, और अब जिधर देखो उधर उनकी थुड़ी-थुड़ी होने लगी। फिर कई कारणों से ज़मीन देने का आर्डर भी मंसूख हो गया। यहीं से राजा और सूरे की लागडाट शुरू हुई। राजा की स्त्री इन्दु सूरे का पक्ष करती थी इससे भी राजा का क्रोध बढ़ता गया। भैरो ने जब आकर राजा से कहा कि वह सूरे के विरुद्ध सुभागी को रख लेने का मुकदमा चलाना चाहता है, तो राजा साहब बहुत खुश हुए। मुकदमा राजा के ही इजलास में चला। राजा ने सूरे को ६ महीने की सज़ा कर दी, पर शहरवालों ने जुर्माना अदा कर उसे छुड़ा दिया। इस घटना ने भी उनके क्रोधानल में घृताहुति का काम किया। फिर जिस दिन

पुलिसवाले पाँडेपुर गाँव को खाली कराने गये उस दिन राजा साहब ने अपने टेंट से मुआवजे के बीस हज़ार रुपये जनता को बाँटकर सुर्खरू बनना चाहा, पर उस दिन गोली चल गयी और सूरा घायल हो गया। इसके बाद इसी घाव के फलस्वरूप सूरे की मृत्यु हो गयी। पर मृत्यु के पहले सूरा कई दिन अस्पताल में पड़ा रहा। जिन दिनों सूरा अस्पताल में पड़ा रहा उन दिनों राजा साहब पश्चात्तापग्रस्त होकर अस्पताल पहुँचे और कहा—'सूरदास, मैं तुमसे अपनी भूलों की क्षमा माँगने आया हूँ। अगर मेरे बस की बात होती तो मैं आज अपने जीवन को तुम्हारे जीवन से बदल लेता।'

इस प्रकार राजा साहब का सम्पूर्ण रूप से हृदय-परिवर्तन हो गया। इसके बाद सूरा मर गया। लोगों ने उसकी एक मूर्ति बनवा कर स्थापना की। 'आधी रात बीत चुकी थी। एक आदमी साइकिल पर सवार मूर्ति के समीप आया। उसके हाथ में कोई यन्त्र था। उसने क्षण-भर तक मूर्ति को सिर से पाँव तक देखा, और तब उसी यन्त्र से मूर्ति पर आघात किया। तड़ाक की आवाज़ सुनायी दी, और मूर्ति धमाके के साथ भूमि पर आ गिरी और उसी मनुष्य पर जिसने उसे तोड़ा था। वह कदाचित् दूसरा आघात करनेवाला था, इतने में मूर्ति गिर पड़ी। भाग न सका, मूर्ति के नीचे दब गया। प्रातःकाल लोगों ने देखा तो राजा महेन्द्रकुमारसिंह थे। सारे नगर में खबर फैल गयी कि राजा साहब ने सूरदास की मूर्ति तोड़ डाली और खुद उसके नीचे दब गये!

इस उपन्यास के ४५ वें अध्याय के अन्त में जब गाँववाले बिखर जाते हैं, कोई कहीं जा रहा है तो कोई कहीं, तो यह दृष्य बड़ा करुण है। यही वह स्वराज्य है, यही वह सफलता है जो उन्हें 'आत्मबल' की बदौलत प्राप्त होती है। तो यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि यहाँ स्वराज्य की कुंजी का कहीं पता नहीं। हाँ, उसका भ्रम अवश्य उत्पन्न होता है। यह भ्रम सभी समालोचकों के मन में उत्पन्न हुआ है। इसका क्या कारण है यह हम बाद को बतायेंगे।

रंगभूमिकार (गोदानकार नहीं) दृष्टगत रूप से (Subjecjively) गांधीवादी थे, पर उनकी कला दृश्यगत रूप से (Objectively) वस्तुवादी थी। यदि कोई प्रेमचन्द के कथित गांधीवादी युग के प्रभाव में लिखे हुए उपन्यासों अर्थात् 'प्रेमाश्रम,' 'रंगभूमि' 'कायाकल्प' तथा 'कर्मभूमि' को समझना चाहे तो उसे

उन दिनों के प्रेमचन्द की—उन दिनों के प्रेमचन्द इसलिए कह रहा हूँ कि 'गोदान' के युग में वे ऐसे नहीं रह गये थे—कला की इस द्विविधता को स्मरण रखना पड़ेगा। गांधीवाद के प्रभाव में लेखनी धारण करने के कारण प्रेमचन्द से सूरदास ऐसे पात्रों के चरित्र पर जितना भी रंग भरते बना भर दिया। हरिभाऊजी के शब्दों में अधिक-से-अधिक धीरोदात्त बनाया, अपनी जान में उन्होंने इसमें कोई कोरकसर नहीं रखी, पर वस्तुवाद का हाथ न छोड़ा। इसी दुधारा का नतीजा 'रंगभूमि' आदि पुस्तकें हैं। इन उपन्यासों का ऊपरी रंग बिल्कुल गांधीवादी है, पर ज़रा गहरे पानी में पैठ कर उनके उपसंहारों को पढ़िए, तो गांधीवाद की पराजय ही दृष्टिगोचर होगा। इस प्रकार यह एक अजीब दुनिया हो गयी।

प्रेमचन्द ने न 'रंगभूमि' में न 'प्रेमाश्रम' में, न तो अन्य किसी इस प्रकार के उपन्यासों में गांधीवादी टेकनीक की जीत दिखायी है। अवश्य इन सभी में उन्होने ऐसे वातावरण की सृष्टि की है कि वास्तविक हार होते हुए भी नैतिक जीत का आभास होता है, पर एक तो जहाँ उद्देश्य वास्तविक जीत है वहाँ नैतिक जीत के आभास का कोई मूल्य नहीं। आभास इसलिए कह रहा हूँ कि कम-से-कम 'रंगभूमि' में नैतिक जीत भी नहीं हुई। नैतिक जीत हम तभी मानते जब हारकर भी पाँडेपुरवालों का संगठन हो जाता, वे इस बात को समझ जाते कि स्वदेशी पूँजीवाद और साम्राज्यवाद एक दूसरे के मित्र हैं, और इस बात को समझकर वे आगे के संग्राम के लिए तैयार हो जाते। पर जैसा कि हम दिखा चुके, ऐसा नहीं हुआ।

पूँजीवाद सामन्तवाद के मुकाबले में उन्नततर पद्धति है। सामन्तवाद अपने अन्दर की असंगतियों के कारण पूँजीवाद को जगह छोड़ देने के लिए बाध्य है। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह एक जुल्म करनेवाली शोषक पद्धति के अलावा कुछ और है। 'रंगभूमि' ही इसका प्रमाण है। किस प्रकार से लोगों को घरों से निकालकर, खेतों-खलिहानों को उजाड़कर, जहाँ लोग सत्तर-सत्तर पुश्तों से बसे हुए हैं, वहाँ से उन्हें निकालकर, बेकसों को गोलियों से उड़वाकर पूँजीवाद आकर आसन जमाता है, यह 'रंगभूमि' में सुन्दर रूप से चित्रित है। सामन्तवाद से पूँजीवाद में आने में जो बीच का परिवर्तनकाल

पड़ता है, उसका 'रंगभूमि' एक बहुत सजीव चित्र है। मजे की बात है कि उन दिनों प्रेमचन्द सामन्तवाद, पूँजीवाद आदि शब्दावलियों के सम्बन्ध में सज्ञान न थे, फिर भी उनके कैनवस पर इसका चित्र इसलिए सुन्दर और सजीव उतरा कि इधर-उधर ताक-झाँक करते रहने पर भी तथा कहीं मिल-विरोध, कहीं अहिंसा आदि से आँख लड़ाते रहने पर भी वे हर हालत में अपने वस्तुवादी लँगोटे के प्रति सच्चे रहे।

'रंगभूमि' में सूरदास जैसे पूँजीवाद के विरुद्ध असंगठित, भावुकता पर आधारित, धर्म का मुलम्मायुक्त विद्रोह का प्रतीक है, उसी प्रकार जॉनसेवक नये पूँजीवाद का प्रतीक है। जॉनसेवक एक आदर्श पूँजीवादी है। उसके चरित्र की आलोचना करने के पहले हम सूरदास तथा अन्य कुछ चरित्रों पर एक निगाह और डालेंगे। यद्यपि प्रेमचन्द ने सूरदास-चरित्र को हरिभाऊजी के शब्दों में जितना भी हो सका धीरोदात्त बनाया, पर वस्तुवादी कला के तक़ाज़े के कारण उन्होंने इस व्यक्ति में भी ऐब दिखलाये हैं। मनुष्य-प्रकृति द्विधायुक्त है, इसलिए ऐसा दिखाना ज़रूरी था। जिस सयय सुभागी ने पति द्वारा पीटी जाकर सूरे का आश्रय लिया, उस समय सूरे ने सोचा था—'मैं कितना अभागा हूँ, काश यह मेरी स्त्री होती, तो कितने आनन्द से जीवन व्यतीत होता। अब तो भैरो ने इसे घर से निकाल ही दिया, मैं रख लूँ तो इसमें कौन-सी बुराई है। इससे कहूँ कैसे, न जाने दिल में क्या सोचे? मैं अन्धा हूँ तो क्या आदमी नहीं हूँ! बुरा तो न मानेगी? मुझसे इसे प्रेम न होता तो मेरी इतनी सेवा क्यों करती?'

अवश्य सूरदास सन्हल गया, पता नहीं इस प्रकार के विचारों से उसकी धीरोदात्तता में बट्टा लग गया कि नहीं, पर उसकी इंसानियत में तो नहीं लगा। सच तो यह है कि कम-से-कम इस प्रकार एक बार सूरदास में कमजोरी आयी दिखाकर प्रेमचन्द ने सूरदास को एक रक्त-मांस-स्पर्श-हीन कल्पना होने से बहुत कुछ बचा लिया। एक अन्य मौके पर उसने ताव में आकर एक गाँव-वाले को मुँह चिढ़ाया। उसने क्रोध में आकर भैरो से उसकी चिढ़ कही—

भैरो, भैरो, ताड़ी बेच,
या बीबी की साड़ी बेच।

पर इतना ही नहीं जब भैरो ने उसकी पोटली चुरा ली थी और घर में आग लगा दी थी, उस समय जगधर ने आकर उससे पूछा था कि उसके रुपये चोरी गये कि नहीं, इस बात पर उसने कहा, नहीं। कलाकार की निःस्पृहता से प्रेमचन्द ने यह दिखलाया कि सूरे ने इस प्रकार जो इनकार किया कि उसके रुपये कहीं उठ गये, इसमें यह परोपकारी भावना नहीं थी कि भैरो चोरी में फँस जायेगा। बात कुछ और ही थी। अन्धे भिखारी के लिए दरिद्रता इतनी लज्जा की बात नहीं थी जितना धन। सूरदास जगधर से अपनी आर्थिक हानि गुप्त रखना चाहता था......भिखारियों के लिए धन-संचय पाप-संचय से कम अपमान की बात नहीं। बोला—मेरे पास थैली-वैली कहाँ! होगी किसी की! थैली होती तो भीख माँगता? जगधर ने बहुत ज़िद की, फिर भी सूरे ने कहा—'साढ़े पाँच रुपये तो कभी जुड़े नहीं, साढ़े पाँच सौ कहाँ आते?'

इस प्रकार सूरे ने सरासर झूठ कहा—और ऐसा किसी उदात्त उद्देश्य को लेकर नहीं, बल्कि उसी कारण से कहा जिस कारण से सभी झूठ बोलते हैं, अर्थात् अपने एक ऐब पर पर्दा डालने के लिए।

और आगे चला जाय। जिस समय सुभागी बाद को चल कर इन्हीं रुपयों को चोर के घर से छिछोरपन से ले आयी और सूरे को रुपये दिये तो सूरे ने एक मौखिक प्रतिवाद के बाद रुपये रख लिये थे, जब उसके घर में जगधर, वह तथा सुभागी हँसी करती हुई भैरो के द्वारा पकड़ ली गयी, तभी उसने जाकर इस धन को वापिस किया, और उल्लूपने से यह भी बता दिया कि सुभागी ने ये रुपये उसे पहुँचाये थे।

इस प्रकार सूरा कोई आदर्श ही आदर्श नहीं है। वह एक मनुष्य है। अच्छा ही है कि वह ऐसा है, नहीं तो एक पुतला मात्र होने से सारा उपन्यास ऐंठ कर रह जाता, क्योंकि वह उपन्यास का केन्द्र है।

सूरदास अहिंसा का अनन्य उपासक है। एक अन्धे-अपाहिज के लिए यह स्वाभाविक बात भी थी। वह अहिंसा का इतना उपासक है कि ऐसे समय में भी अहिंसा की सलाह देता है जब अहिंसा कायरपन मात्र है। जिस समय जॉनसेवक का लड़का प्रभुसेवक ताव में आकर नायकराम को मारकर चला जाता है, उस समय किसी भी दृष्टि से नायकराम की ओर से अहिंसा कायरपन

ही होती, नायकराम मन-ही-मन तय करता है कि वह इस अपमान का बदला लेगा, पर सूरा ऐसे समय में भी अहिंसा का पाठ पढ़ाता है। कहता है—'बैर बढ़ाने से कुछ फायदा न होगा। तुम्हारा तो कुछ न होगा, लेकिन मुहल्ले के सब आदमी बँध जायेंगे।' अब यह पूछा जा सकता है कि क्या मुहल्ले के आदमियों के बँध जाने के डर से एक प्रबल के विरुद्ध हाथ न उठाना अहिंसा है? तो कायरपन क्या है? क्या यही धीरोदात्तता है?

एक बार उसी जमीन के सम्बन्ध में सरकार से झगड़े के सिलसिले में पुलिस और जनता में मुठभेड़ होने की नौबत आयी। जानता ने कहा 'हम देवता नहीं हैं, हम तो जैसे के साथ तैसा करेंगे। उन्हें भी गरीबों पर जुल्म करने का मजा मिल जाये।' यह कहकर वे लोग पत्थरों को उठा-उठाकर पटकने लगे। 'तब इस अंधे ने वह काम किया जो औलिया ही कर सकते हैं। उसने जमीन से एक बड़ा-सा पत्थर का टुकड़ा उठा लिया, और उसे अपने माथे के सामने रख कर बोला, 'अगर तुम लोग अब भी मेरी विनती न सुनोगे, तो इसी दम इस पत्थर से सिर टकरा कर जान दे दूँगा। मुझे मर जाना मंजूर है, पर यह अंधेर नहीं देख सकता।' उसके मुँह से इन बातों का निकलना था कि चारों तरफ सन्नाटा छा गया।'

सूरा इसी प्रकार विद्रोही जनता को विद्रोह से रोकता हुआ मैजिस्ट्रेट की गोली से मारा जाता है। फिर क्यों न गांधीवादी-गण उस पर निसार हों। इसी कारण हम अपने मित्र, गांधीवादी समीक्षक परम विद्वान् श्री रामनाथ 'सुमन' को कहते पाते हैं—'कला और तत्वज्ञान की दृष्टि से 'रंगभूमि' प्रेमचन्द का मास्टरपीस है। वह मानव जीवन का एक व्यक्तित्व और एक सत्य प्रदान करता है। वह शरीर पर आत्मा की विजय का शखनाद है। सम्पूर्ण जीवन का एक चित्र और उस चित्र में चिरन्तन तत्व की कला का प्रस्फुटन है।'

इससे अधिक सूरदास के चरित्र पर आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। उसके सम्बन्ध में इतना कह देना यथेष्ट होगा कि वह अपने में गांधीवाद को काफी अच्छी तरह मूर्त करता है। उसकी कमजोरियाँ, असंगतियाँ दुर्बलताएँ उसके चरित्र के निर्माण में बाधक न होकर उसे और भी जीवन प्रदान कर गांधी का मूर्त रूप बना देती हैं।

इसी उपन्यास में एक दूसरा पात्र विनय है। आपात दृष्टि में वह भी गांधीवाद को मूर्त करता है। पर इतनी सफलता के साथ नहीं जितना कि सूरदास। विनय एक राजा का इकलौता लड़का है, पर वह समझता है कि उसमें सेवा-भाव है, और इसी धारणा के वशवर्ती होकर वह विपुल विश्व में अपने प्रयोग करने या अपने साथ प्रयोग करने निकल पड़ता है। कभी वह यह है, कभी वह। वह खुद ही नहीं जान पाता कि वह है क्या। उसकी प्रेमिका सोफिया उसकी रिहाई के लिए आज्ञापत्र लाती है, पर वह छूटने से इनकार करता है, पर कुछ ही देर बाद नायकराम के इस झाँसे में आकर कि उसकी माँ बीमार है दीवार फाँद कर निकल जाता है। स्मरण रहे वीरपाल के कहने पर उसने जेल से भागना यह कहकर इनकार किया था कि यह गलत है। वह अहिंसा पर विश्वास रखता है पर जब अपनी प्रेमिका का जनता के हाथों खतरे में पड़ते देखता है, तो जनता के नेता पर गोला चला देता है। वह एक अवसर पर जनता को अहिंसात्मक रहने के लिए कहता हुआ जनता द्वारा व्यंग का पात्र बनता है। इस पर वह ताव में आकर अपने को गोली मार लेता है।

विनय गांधीवाद के एक हिस्से पर पूर्ण विश्वास रखता है। वह हिस्सा है वर्ग-समन्वय। तरह-तरह की आत्म-वंचनाओं से वह अपने इस विश्वास को बल पहुँचाता है। प्रेमचन्द के चित्रण से यह ज्ञात होता है कि उन्हें रियासती प्रजा से कितनी अगाध सहानुभूति है। वे अन्य मामलों में वैयक्तिक रूप से इस समय तक गांधीवादी होने पर भी कम-से कम रियासतों के मामले में वर्ग-समन्वय, ट्रस्टीशिप तथा रामराज्य में विश्वास नहीं रखते थे। पर विनय रखता था। कार्य रूप में तो वह इससे कहीं आगे बढ़ जाता है। प्रेमचन्द के चार उपन्यासों में हम इसी व्यक्ति को विभिन्न रूप में पाते हैं। 'प्रेमाश्रम,' 'रंगभूमि,' 'कर्मभूमि,' 'कायाकल्प' में वह क्रमशः प्रेमशंकर, विनय, अमरकान्त, चक्रधर के रूप में मौजूद है। वह आत्महत्या न कर सका। उसको लोगों ने जब आशिक आदि कहकर दुत्कारा तो उसने यह कहकर अपने को गोली मार ली कि 'क्या आप देखना चाहते हैं कि रईसों के बेटे क्योंकर प्राण देते हैं? देखिए।'

सोफिया इस उपन्यास की नायिका है। वह भी विनय का ही प्रतिरूप है। वह भी विनय की तरह अस्थिर-चित्त, स्पष्ट-विचार-हीन तथा सदा उद्भ्रान्त

है। शुरू में वह बड़ी विचारशीला तथा नैतिक साहसयुक्त ज्ञात होती है। वह अपनी कट्टरधर्मी माँ के विरुद्ध जिस प्रकार विद्रोह करती है, वह बहुत ही सुन्दर है। सच तो यह है कि इसी प्रथम दर्शन की छाप पाठक के मन पर अन्त तक रहती है, और इसी के कारण पाठक उसकी बाद की कलाबाजियों को देखकर भी नहीं देखता। वह न तो ठीक-ठीक प्रेमिका है और न ठीक-ठीक क्रान्तिकारिणी, अर्थात् दोनों बातों की ऐसी मिलावट है जो उसे एक अजीब दुर्बलचित्त स्त्री बनाकर छोड़ देती है। उसमें दो व्यक्तित्व हैं, और दोनों परस्पर विरुद्ध। जब तक वह मिसेज सेवक के विरुद्ध विद्रोह करती है, और इसी की वशवर्ती होकर घर से निकल जाती है, तब तक उसे हम एक विद्रोहिणी के रूप में पाते हैं। इसके बाद विनय के जाने तक विनय के घर में उसका जो आचरण रहता है, वह एक साधारण प्रेमिका के कार्य हैं, उसमें कोई और उपादान नहीं। वह क्लार्क के साथ 'कपटलीला' कर जिस प्रकार उदयपुर पहुँचती है तथा विनय से मिलती है, वह भी इसी रूप में है। अब वह क्रान्तिकारिणी नहीं है। यदि वह क्रान्तिकारिणी या गांधीवादिनी कुछ भी होती, तो उसे चाहिए था कि रियासत में विनय का काम जहाँ से छूटा है, उसे वहाँ से उठा लेती। पर वह ऐसा नहीं करती। घटनाचक्र से रियासत के विद्रोही उसे उठा ले जाते हैं, और विनय खोजता हुआ उसके पास पहुँचता है तो वह जनवादिनी बन कर विनय को दुत्कारती है। सन्देह नहीं, कि यह ड्रामा बहुत अच्छा रहा, पर शीघ्र ही वह इस बाघ की खाल को उतार कर भाग चलती है। रास्ते में तथा बाद को बराबर वह प्रेमिका ही है। हाँ, अन्त की तरफ फिर उसका क्रान्तिकारित्व उमड़ता है, और वह यह जानकर कि पाँडेपुर में गोली चलनेवाली है, वहाँ जाने के लिए तैयार होती है।

संक्षेप में यही सोफिया है; विनय का स्त्री-संस्करण। उपन्यास को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि पहले प्रेमचन्द दोनों का मिलन कराना चाहते थे, पर उनमें धर्म-भेद था, इसे कैसे सुलझाया जाये यह न समझ पाकर पहले विनय द्वारा और फिर सोफिया द्वारा आत्महत्या करायी गयी। शायद अभीष्ट मिलन को आसान करने के लिए ही सोफी से लेखक २६ वें अध्याय में कहला रहा था—'मैं भी हिन्दू धर्म पर जान देती हूँ। जो आत्मिक शान्ति कहीं न मिली,

वह गोपियों की प्रेमकथा में मिल गयी। वह प्रेम का अवतार, जिसने गोपियों को प्रेम रस पान कराया,.......उसी की चेरी बन कर जाऊँगी, तो वह कौन हिन्दू है जो मेरी उपेक्षा करेगा?'

विनय और सोफिया के-से चरित्रों के लिए आत्महत्या ही एक मात्र नतीजा हो सकता था। इन लोगों ने न तो जग को पहचाना, न अपने को! वे एक ऐसे विचार को उठाकर चले जिसके वे सर्वथा अयोग्य थे।

इन्दु भी इसी श्रेणी की एक स्त्री है। फिर भी वह अपने भाई तथा सोफिया से अच्छी ही है। उसका दुर्भाग्य यह है कि उसकी शादी एक ऐसे व्यक्ति से हुई है, जो एक ही आत्म-प्रवंचक है। वह सोचता है, मैं जो करता हूँ और जो मेरा स्वार्थ है, वही सबका स्वार्थ होना चाहिए। वह भी अपनी माँ के मार्ग पर चलती है। एक जगह उसकी कलई बहुत बुरी तरह खुल जाती है, वहाँ जहाँ कि सोफिया के साथ बातों-बातों में चोट करती हुई वह कह जाती है—'एक राजा का सम्मान एक क्षुद्र न्याय से कहीं ज्यादा महत्व की वस्तु है।' यह मानों इन्दु के पति की ही बातों की—उस पति की बातों की जिससे वह उकता जाती है—प्रतिध्वनि है; यों मैं स्वयं जनवादी हूँ, और उस नीति का हृदय से समर्थन करती हूँ, पर जनवाद के नाम पर देश में जो अशान्ति फैली हुई है, उसका मैं घोर विरोधी हूँ।'

अब हम सूरदास के बाद इस उपन्यास के सबसे महत्वपूर्ण पात्र जॉनसेवक पर आते हैं। जॉनसेवक उदीयमान भारतीय पूँजीवाद का प्रतिनिधि है, निरलस, कर्मठ, उन्मेषशालिनी बुद्धियुक्त, निर्दय, अवसर का ज्ञाता। जैसे बाज कितना भी ऊपर उड़े, उसकी निगाह शिकार पर रहती है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि मुनाफे पर रहती है। इसी मुनाफे के पीछे वह जीता है, और इसी के पीछे वह मरने के लिए तैयार है। इसके पीछे वह लड़का छोड़ता है, लड़की छोड़ता है, सबको छोड़ने के लिए तैयार है, बशर्ते कि मुनाफा हो।

'रंगभूमि' में भारतीय पूँजीवाद के शैशव का चित्रण है। इसमें पूँजीवाद अभी घुटनों के बल चल रहा है। 'गोदान' में भी देशी पूंजीवाद का चित्र है, पर वह अपेक्षाकृत परिणत अवस्था का चित्र है। 'रंगभूमि' का कैनवस काफी बड़ा है, पर उसमें मजदूरों के असन्तोष का चित्र नहीं है। 'गोदान' में यह है। बात

यह है कि शुरू के युग में मजदूर संगठित नहीं होते, धीरे-धीरे ही उनमें संगठन का उदय होता है। ....

प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता और शायद सबसे बड़ी महत्ता यह है कि वे नख से शिख तक हमेशा साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के विरोधी रहे हैं। अदालत को, पुलीस को वे काले-से-काले रंग में चित्रित करते हैं। इस उपन्यास में दारोगा माहिरअली ने अपने उसी भाई को धोखा दिया जिसने खून का पानी कर उसे पाला। माहिरअली का बाप भी दारोगा और घूसखोर था, मरते समय कफन नहीं जुड़ा। उनका साहित्य इस कारण उदीयमान भारतीय राष्ट्रीयता तथा साथ ही उठते हुए दलित वर्गों का साहित्य हो जाता है। अमीरों के प्रति उनके मनमें अगाध घृणा थी। एक पत्र में उन्होंने लिखा था, 'जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान् पुरुष होने की कल्पना मैं नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी असफलता ही हो। बैंक में मोटी रकम जमा देखकर शायद मैं भी वैसा ही होता जैसे दूसरे हैं, मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।'

जॉनसेवक एक आदर्श पूँजीपति है। उसे अपने कारखाने के लिए सूरे की जमीन चाहिए। साम, दाम, दंड, भेद से वह इसे प्राप्त करता है। उसकी लड़की सोफिया का एक अग्निकांड के कारण राजा भरतसिंह के परिवार से परिचय हो गया। बस उसने गोट मिलाना शुरू किया। उसका दामाद महेन्द्रसिंह म्युनिसिपैलिटी का चेयरमैन है, उससे यह काम होगा; स्वयं राजा को चार सौ बीस पढ़ाकर वह उससे मोटी रकम का शेयर खरिदवा लेता है। पर वह

धोखेबाज नहीं। शेयर जरूर धोखेबाजी से खरिदवाया, पर मोटा मुनाफा दिलवाया। वह मुनाफे के लिए किसी बात से चूकना कोरी भावुकता समझता है। वह हिसाब का पक्का है। जो हिसाब ठीक नहीं रखता, उसका वैसा करने में चाहे कुछ भी बहाना हो, वह उसे क्षमा नहीं कर सकता। वह ताहिरअली को हिसाब की गड़बड़ी के लिए माफ नहीं करता, यहाँ तक कि सूरा अपनी मृत्यु शय्या से उसकी सिफारिश करता है, पर ऐसे के लिए पूँजीवाद में माफी नहीं। वह अपने मुनाफे में कौड़ी वृद्धि के लिए कहता है कि म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन साहब से मिलकर यहाँ एक शराब और ताड़ी की दूकान खुलवा दूँगा। उसे सूरे की जमीन पसन्द आती है, वह समझता है वह जरूर बेचेगा। रुपये की शक्ति में उसे अगाध विश्वास है, 'कहता है रुपये के सत्रह आने दीजिए और आसमान के तारे गिनवा लीजिए।'

प्रेमचन्द ने बड़ी दक्षता से इस व्यक्ति का चित्र खींचा है। जॉन को मानापमान की कोई चिन्ता नहीं, लड़का प्रभुसेवक नायकराम से लड़ आता है, पर वह उससे जाकर माफी माँग आता है। बात यह है कि व्यापार का तकाजा था। है जॉनसेवक ईमानदार याने पूँजीवादी दृष्टिकोण से ईमानदार। पर प्रेमचन्दजी बीच-बीच में फबती कस देते हैं। कहते हैं, 'मगर धन का देवता आत्मा का बलिदान बिना पाये प्रसन्न नहीं होता।' जॉनसेवक धार्मिक है, पर उसका असली धर्म मुनाफा है। जॉनसेवक अपने धर्म का रहस्य अपने ही मुँह से पुत्र को समझाता है। पूँजीवादीगण के धर्म का बहुत ही मार्मिक उद्घाटन है। अँग्रेज़ के विषय में कहा जाता है कि वह छः दिन तक तो मैमन या धन-देवता के वहाँ पूजा करता है, और एक दिन खुदा के घर में, पर यह पूँजीवाद के ह्रास के युग में उत्पन्न भारतीय पूँजीवाद का प्रतिनिधि जॉनसेवक उसके आगे बढ़ जाता है, वह सातवें दिन गिरजे में तो जाता है, पर वहाँ भी जपने के लिए मैमन के बुत को अपने साथ ले जाता है।

सब धीरोदात्त पाठक तथा आलोचक कहते हैं कि प्रेमचन्द कभी गांधीवादी थे, पर मैं तो यही पाता हूँ कि गांधीवाद के सब मौलिक सिद्धान्तों को वे गले के नीचे नहीं उतार पाये। धर्म गांधीवाद की बहुत बड़ी विशेषता है, पर प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में धर्मों का मजाक उड़ाया गया है। 'रंगभूमि' के जॉन

का धर्म हम देख चुके। श्रीमती सेवक का धर्म देख लिया। जॉन का बाप ईश्वरसेवक परले सिरे का दुष्ट और कंजूस है। हर समय ईसा और खुदा की बात करने पर भी उससे काइयाँ, कंजूस, मक्कार कोई नहीं। जवानी में वह भारी बदमाश रहा होगा।

'रंगभूमि' में एक सबसे खटकनेवाली चीज यह है कि रोमांस होते हुए भी इसमें बराबर एक विषादमय अन्त की छाया पड़ती है। जब-जब सोफिया और विनय के विवाह की बात चलती है, तब-तब यह दिखाया जाता है कि सोफिया का हृदय एक अज्ञात भय, एक अव्यक्त आशंका एक अनिष्ट चिन्ता से आच्छन्न हो जाता था। सोफिया ऐसी पात्री के लिए यह उचित नहीं, इससे सारी रचना पर एक भाग्यवादी छाया-सी पड़ती है। यह भाग्यवादी छाया 'रंग-भूमि' को क्रान्तिकारी रचना होने से एक बड़ी हद तक रोकती है।

—:o:—

'ग़बन' की प्रमुख समस्याएँ

[प्रेमनारायण टंडन]

स्वास्थ्य के नाम पर स्त्रियों की स्वतंत्रता का प्रश्न उठाकर भारतीय समाज को पाश्चात्य जीवन के अनुकरण के लिए आज का शिक्षित समाज प्रेरित कर रहा है। निश्चय ही स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या जीवन में सबसे महत्वपूर्ण है और खुले संसार में घूमने देने से यदि उनका स्वास्थ्य सुधर सकता है तो हमारे समाज को हठ छोड़कर यह बात माननी होगी, चाहे अभी मानें या कुछ देर में, चाहे हँसकर माने या रोकर। वस्तुतः प्रश्न केवल खुले में घूमने का नहीं है। शिक्षित भारतीय युवतियाँ पाश्चत्य जीवन की वे सभी ऊपरी बातें अपनाना चाहती हैं जिनसे होनेवाले अनेक लाभों की आकर्षक कहानी सात समुद्र पार करके उन तक पहुँची है। ऊँची शिक्षा वे चाहती हैं और हमारा अनुमान है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसका समर्थन करेगा; परदा वे नहीं करना चाहतीं और हम समझते हैं कि इस कुप्रथा के प्रचलित होने का मूल कारण आज न रह जाने से इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं रह गयी है; मनचीते युवकों-युवतियों से मिलने की पूरी स्वतंत्रता वे चाहती हैं और हमारी सम्मति में चरित्र और सतीत्व का मूल्य समझनेवाली युवतियों को इसके लिए रोकना नितान्त अनुचित है; अपने सौन्दर्य को अधिक आकर्षक बनाने के लिए लिपस्टिक, पाउडर जैसी चीजों को वे काम में लाना चाहती हैं और हमें विश्वास है कि इस लालसा की नैसर्गिकता का ध्यान करके पुरुष-वर्ग इसका विरोध नही, स्वागत ही करेगा। नाच-सिनेमा, सैर-सपाटा, खेल-कूद, ललित साहित्य का पठन-पाठन आदि के द्वारा वे अपना मनोरंजन करना चाहती हैं और हमें पूरी आशा है कि विश्राम की आवश्यकता समझने और एक-न-एक उपाय से अपना मनोरंजन करनेवाला समाज इसके लिए भी स्त्रियों को सहर्ष अनुमति देना चाहेगा।

आज की युवतियों की ये इच्छाएँ सर्वथा स्वाभाविक और उचित होते हुए भी पूरी नहीं हो सकीं और न निकट भविष्य में इनके पूर्ण होने की आशा ही है। इसके कई कारण हैं। सबसे प्रधान बात वह है कि नगरों में साठ प्रतिशत से

अधिक व्यक्ति मध्यम श्रेणी के हैं जिनकी आय इतनी नहीं है कि फैशन, सजावट, मनोरंजन आदि के उन उपायों को अपना सकें जो विदेशों में अधिक सस्ते होते हुए भी भारत में अभी महँगे पड़ते हैं। प्राश्चात्य देशों में भी युवतियों के सामने एक दिन यह समस्या आयी थी। वहाँ स्वतः धन पैदा करने की अनुमति पाकर यह प्रश्न हल किया गया। भारत में भी इसे या इससे मिलते-जुलते किसी उपाय का सहारा जब तक नहीं लिया जाता, तब तक मध्यम-वर्ग के परिवार में यदि पाश्चात्य रहन-सहन का आकर्षक और उत्तेजक ढंग अपना लिया गया तो स्त्री-पुरुष दोनों ही घाटे में रहेंगे। जालपा और रमानाथ का फैशन, रहन-सहन, मेल-मुलाकात, सैर-सपाटा, सभी कुछ उनकी हैसियत से बढ़ कर है। युवावस्था की उन्मादभरी अदूरदर्शिता ने उनकी आँखों पर और भी परदा डाल रखा है। रमानाथ का छल, उसकी डींगें, उसका संकोच आदि चरित्र के दोष युवती जालपा को भी अंधकार में रखते हैं। फलस्वरूप आगे-पीछे की ओर से आँख मूँदे वे इतना आगे बढ़ जाते हैं कि जहाँ से लौटना रमा को असंभव प्रतीत होता है और अंत में वह घर से भाग खड़ा होता है।

इस प्रकार जालपा के आभूषण-प्रेम की एक वर्ग-सुलभ विशेषता को समस्या रूप में अपनाकर प्रेमचन्द कथा-विकास करते हैं। बालकाल में यह आभूषण-प्रेम बालिका की सहज प्रकृति से संबंध रखता है; परन्तु युवावस्था में अपने रूप को अधिक दीप्यमान दिखाने की लुभावनी लालसा विशेष प्रधान होकर सामने आती है। हाथ में पैसा है और दिल में जोश। खूब खुशखेली से काम किये जाते हैं। शृंगार के सारे सामान मौजूद हैं; नाच-रङ्ग, मेला-तमाशा, सिनेमा-थियेटर, सब शुरू हो जाता है। शहर के नामी वकील की युवती पत्नी से मेल-जोल बढ़ता है; पार्टियाँ स्वीकारी और दी जाती हैं। यह सब किया जाता है ऊपर की उस आमदनी के सहारे जिसके बल पर कई आभूषण, घड़ी, साड़ी आदि वस्तुएँ उधार खरीदी गयी थीं। ऋण न चुकने पर तकाजे होते हैं, पिता को पता लगने पर फटकार पड़ती है। फिर भी सब बात अपनी स्त्री से खोलकर कहते उसे संकोच होता है। अंत में रमानाथ के सामने एक ही रास्ता खुला दिखायी देता है; वह उसी पर चल देता है और पीछे फिर कर देखने की उसकी चाह का गला लज्जा और भय ने इस तरह दबा रखा है कि लौटना

तो दूर चार-पाँच महीने तक वह एक पत्र भी लिखने का साहस नहीं करता।

जालपा का जो आभूषण-प्रेम पारिवारिक जीवन के लिए महान विपत्ति का कारण बनता है उसके लिए इस युवती को दोष देना युक्तिसंगत नहीं है। वस्तुतः गहनों की लिप्सा ने सर्वत्र नारी-समाज के हृदय में गहरी नींव का घर रखा है। 'गबन' के पहले ही परिच्छेद में मानकी चंद्रहार पाकर जीवन धन्य समझती है। बालिका जालपा अपनी माता से यही आभूषण-लिप्सा ग्रहण करती है। उसका परिचय रतन से होता है। उसे गहनों की इतनी चाह है कि तीन-तीन जोड़ी कंगनों के रहने पर भी जालपा के नये डिजायन पर रीझती है। रमा की माता रामेश्वरी का नये आभूषण देखकर संयम खो देना उसके लिए स्वाभाविक ही समझा जायगा; क्योंकि बेचारी का लगभग पाँच हजार का चढ़ावा गृहस्थी के खर्च में ही समाप्त हो चुका है। देवीदीन की बुढ़िया का पेट भी गहने से नहीं भरता; एक-न-एक गहना बूढ़ी होने पर भी बनवाती ही रहती है। देवीदीन के शब्दों में सारांश यह कि सब घरों का यही हाल है। जहाँ देखो—हाय गहने, हाय गहने! गहने के पीछे जान दे दें, घर के आदमियों क भूखे मारें, घर की चीजें, और कहाँ तक कहूँ अपनी आबरू तक बेंच दें। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सबको यही रोना लगा हुआ है।

सत्य ही पारिवारिक जीवन की शांति का मीठा रस पान करके गहनों की विषैली लिप्सा जीवित रहती है। सास-ससुर धनी हैं, पर मेरे गहने न बनवा-कर मेरी उपेक्षा करते हैं, केवल इस बात का अनुमान करके आभूषणों के लिए लालायित जालपा उनका तिरस्कार करने को प्रस्तुत है, कहती है—वे मेरे हैं कौन, उनसे बताया ही क्यों जाय कि तुम्हारी (रमानाथ की) नौकरी कितने की लगी है। हाँ, गहने पाने पर स्त्रियाँ प्रसन्न भी होती हैं। जालपा में, दो गहने पाकर सेवा-भाव का उदय होता है। वह पति के आराम की चिंता करती है; जिन चीजों के लिए रमा को घंटों भटकना पड़ता था, वे उसे तैयार मिलती हैं। वकील साहब की पत्नी रतन भी हार पाकर कृतज्ञता के भार से दब जाती है। पति उसका बूढ़ा है; उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं; वह उनके लिए अच्छी-अच्छी चीजें बनाती है। अस्तु।

कथा-विकास में सहायक इस उपन्यास की दो प्रधान समस्याएँ हैं। एक

स्त्रियों का आभूषण-प्रेम और दूसरी, मध्यम श्रेणी के कम आयवाले नवदंपत्ति की मनोरंजन के व्यय-साध्य साधनों में अनुभवहीन संलग्नता, उनका फैशन और विलास-प्रेम। देश की वर्तमान स्थिति में इन दोनों सामाजिक समस्याओं का कम महत्व नहीं है। प्रथम अर्थात् आभूषण-प्रेम का सम्बन्ध स्त्रियों के प्राचीन भारतीय रहन-सहन से है और द्वितीय का प्रचार अँगरेजी शिक्षा-प्रसार के साथ सारे भारत में हो गया है। जालपा का आभूषण-प्रेम उसकी बाल-प्रकृति से सम्बन्ध रखता है; क्योंकि वह ऐसे ही वातावरण में पली है जहाँ गहने ही स्त्रियों के सर्वस्व हैं और पिता उसके खेलने के लिए खिलौने न लाकर गहने ही लाते हैं। गाँव के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर जब वह प्रयाग-जैसे प्रतिष्ठित नगर में रतन-सी स्वच्छन्द और धनी नारी के सम्पर्क में आती है तब उसका पूर्व आभूषण-प्रेम, फैशन और विलासिता की अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और नवीन रुचि में, जिसका निकटतम सम्बन्ध अवस्था और शिक्षित संस्कृत समाज से है, परिणत हो जाता है। यह परिवर्तन नितान्त स्वाभाविक और सामयिक है। आज की-सी स्थिति बनी रहने पर मध्यम श्रेणी के परिवार का सम्बन्ध एक शताब्दी के लगभग चतुर्थांश तक इस समस्या से अवश्य बना रहेगा। इस दृष्टि से, हम समझते हैं कि 'गबन' की प्रधान समस्या महत्वपूर्ण है।

मध्यमवर्ग की समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। अपनी नियमित परन्तु अपर्याप्त आय में कठिनता से परिवार का भरण-पोषण करके जीवन के दिन किसी प्रकार बिताना, स्वयं अच्छा खाने-पहनने की इच्छा तथा प्राणप्रिय सन्तान को, बहुत छोटी-छोटी बातों के लिए जिसे मन मारना पड़ता है, खुशी देखने की स्वाभाविक लालसा लिये मर जाना, इस जीवन की करुण कहानी के ऐसे दृश्य हैं जो हम अपने परिवार में, चाहे हम कितने धनी-मानी क्यों न हों, प्रतिदिन देखा करते हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इस वर्ग का घनिष्टतम सम्बन्ध उस उच्च वर्ग से है, अधिकांश अवसरों पर जिसका सदस्य विद्या, योग्यता, बुद्धि यहाँ तक कि चरित्र में भी हीन होने पर केवल धनी होने के नाते ही मध्यमवर्ग से ऊँचा समझा जाता है। कुछ तो इस सम्बन्ध की मर्यादा के लिए और कुछ अच्छा खाने-पहनने, सुख करने की स्वाभाविक मानवीय प्रकृति के फलस्वरूप अपनी चादर से अधिक पैर फैलाने पड़ते हैं। सामाजिक

शिष्टाचार का ध्यान, जिसका निबाहना नैतिक दृष्टि से प्रायः आवश्यक हो जाता है और वित्त से बाहर हो जाने पर भी जिसका विरोध करने का साहस इसमें नहीं होता, उनकी स्थिति को और भी दयनीय बना देता है। मध्यमवर्ग का मनुष्य यह सब कुछ समझ-बूझ कर भी नासमझ की तरह अपने को सुखी समझता है; 'चरै हरित तृन बलि पसु जैसे'। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में अपने ही बनाये गढ़े में इस वर्ग के प्रतिनिधि के गिरने की करुण कहानी कही है।

मध्यवर्गीय समस्या-संबंधी एक और बात ध्यान देने की है। आज से पचास वर्ष पूर्व थोड़ी, पर नियमित आय होने पर भी लोग संतुष्ट थे और इसलिए उनके जीवन में सुख का अभाव न था। रहन-सहन इनका सीधा सादा था और आवश्यकताएँ सीमित थीं। आडंबर से इन्हें चिढ़ थी और संगठित परिवार में प्रेम तथा सहयोग से जीवन के दिन ये बिताया करते थे। बुजुर्गों के देखते-देखते उनके पुत्रों को अँग्रेजी शिक्षा ने नयी रोशनी का बना दिया। नयी चाल की लक्ष्यणीय विशेषता यह है कि निजी परिवारवालों के नाते को ठुकराकर परिचितों और मित्रों से संबंध जोड़ना, सहानुभूति दिखाना, प्रत्युत्तर की आशा करना और सैर-सपाटे, नाच-रंग, सिनेमा-थियेटर, चाय-पानी आदि के लिए निमंत्रित करना और होना अनिवार्य हो जाता है। परिवार के बड़े-बूढ़े भी, जो इन कामों को अपनी अर्थहीनता के कारण अनुपयुक्त समझते हैं, बड़े आदमियों से परिचय बढ़ जाने के लोभ से कभी-कभी इनका समर्थन करते हैं—बहुधा पार्टियों में सम्मिलित हो जाने में भी संकोच नहीं करते—और कुछ ऐसे परिचयों से लाभ उठाने की आशा लेकर इनमें भाग लेते हैं। सारांश यह कि मध्यमवर्ग के रहन-सहन में इस प्रकार के परिवर्तन का जो रूप हम व्यावहारिक जगत में देखते हैं उसी की छाया प्रस्तुत उपन्यास में मिलती है। रमा और जालपा का प्रयाग के प्रतिष्ठित वकील की पत्नी रतन से हेल-मेल बढ़ाना, इस प्रसिद्ध व्यक्ति से परिचय के लोभ से दयानाथ का पार्टी में सम्मिलित होना और सिफारिश कराने के उद्देश्य से रमेश बाबू का रमा को उत्साहित करना, आज के जीवन का कितना सच्चा चित्र है।

नवीन सभ्यता के सम्बन्ध में दो अन्य संकेत लेखक ने किये हैं। प्रथम तो यह कि फैशन और विलासिता को जीवन का चरम लक्ष्य समझनेवाला पाश्चात्य

रहन-सहन रतन जैसी उन नारियों के लिए है, जिनका पति पर्याप्त धन कमाकर, मनमाने ढंग पर उड़ाने के लिए उन्हें दे सकता है और बिना किसी निश्चित उद्देश्य या कार्य के ही सब-कुछ खर्च करने के लिए वे तैयार रहती हैं। भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में हजार में सम्भवतः एक युवती को यह सौभाग्य प्राप्त होगा और शेष के लिए जीवन का यह रूप ईर्ष्या का ऐसा विषय बना रहेगा जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है और जिसका अभाव जो कुछ है उसे भी सुख-शांति से भोगने के लिए उत्साहित न कर सकेगा।

प्रेमचन्दजी का दूसरा संकेत भी इतना ही स्पष्ट है। घर के संकुचित क्षेत्र से बाहर आकर पुरुष मात्र से निःसंकोच बात करने और स्थिति समझ कर अवसरोचित काम करने का साहस आज की युवतियों को आधुनिक शिक्षा अथवा शिक्षित युवतियों का अनुकरण करने की स्वच्छंदता ने ही दिया है। रमा के भाग जाने पर जालपा का आफिस जाना, सब बात समझकर चौक में आभूषण बेचना और आफिस का रुपया जमा कर देना आदि ऐसी बातें हैं जो घर के दरबे में बन्द रहनेवाली युवती से नहीं बन सकती।

हिन्दू समाज की वैवाहिक समस्याओं पर भी लेखक ने परोक्ष रूप से अपने विचार प्रकट किये हैं। निर्धन परन्तु शिक्षित रमानाथ की माता जागेश्वरी सोचती है—कोई यहाँ क्यों आने लगा ? न धन है, न जायदाद। लड़के पर कौन रीझता है। लोग तो धन देखते हैं। ऐसे विवाह में भाग्य पर विश्वास अधिक रहता है। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमा की भाभी ऐसी स्थिति के विवाह की बुराई करती है। पढ़े-लिखे वर की खोज में सभी माता-पिता रहते हैं; परन्तु जालपा की सहेली का पति, जो एम० ए० पास है, सदा रोगी रहता है। रोगी पति से स्त्री कैसे प्रसन्न रहेगी ! शिक्षा और धन के सम्बन्ध की घनिष्ठता से प्रायः आचरण पर आँच आती है। जालपा की दूसरी सखी का पति, जो विद्वान भी है और धनी भी, वेश्यागामी है। रतन के मामा ने बूढ़े वकील के साथ उसको ब्याहा है। धन की रतन को कमी नहीं है। पति महोदय शहर के सबसे बड़े वकील हैं; इसलिए सम्मान और प्रतिष्ठा की बात है। परन्तु उसके जीवन का भविष्य नितान्त अन्धकारमय है, शून्य है; जालपा-जैसी उस स्त्री से भी वह गयी-बीती है जिसका पति केवल तीस रुपया मासिक पाता है,

घर से भाग गया है, घर में जिसका कोई आदर नहीं है और जिसके परिवार में धन-सम्पत्ति कुछ भी नहीं है। जालपा अपने पति से सन्तुष्ट है। वह मामूली पढ़ा-लिखा है, बहुत मामूली घर है। सब काम-काज अपने हाथ से करना पड़ता है। यह सब कुछ होते हुए भी जालपा के सन्तोष का कारण यह है कि रमानाथ पत्नी से प्रेम करता है, सचरित्र है और स्वस्थ है। धन और विद्या न देखकर पुत्री के वर में केवल स्वास्थ्य और चरित्र ही देखा जाय, रमा और जालपा के वैवाहिक जीवन-परिचय से लेखक का यह संकेत मान सकते हैं।

अब आर्थिक समस्या को लीजिए। भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था में सम्पत्ति-वितरण सम्बन्धी जो विषमता दिखायी देती है उनका एक दुखद परिणाम परोक्ष रूप से इस उपन्यास में दिखाया गया है। जालपा एक सम्मिलित परिवार की वधू है जिसके पति की आमदनी थोड़ी है और जिसको खाने-पहनने की वे सभी सुविधाएँ और सुख प्राप्त नहीं हैं युवती और युवक पति को प्रमुदित करने के लिए, विलास और आनन्द के स्तर से उतर कर आवश्यकता की सीमा में आ जाते हैं। दूसरा घर वकील साहब का है जहाँ धन आने के सभी द्वार खुले हैं और युवती पत्नी रतन को सब-कुछ इच्छानुसार खर्च करने की पूरी स्वतंत्रता है। संपत्ति के अभाव और आधिक्य दोनों का दुष्परिणाम उपन्यास में दिखायी देता है, सुखों के प्रति असंतोष और संपत्ति का अभाव जालपा को पति-सुख से वंचित कर देता है। और रतन के लिए पति की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति की अधिकता परिवारवालों को ऐसा भयानक जन्तु बना देती है जो पति-शोक से पीड़ित विधवा के सुख-साधनों को जीवित ही हड़प कर जाने में जरा भी संकोच नहीं करता।

सामाजिक जीवन में आज एक खटकनेवाली बात यह है कि अपने को सुखी, सन्तुष्ट या सम्मान-योग्य वे तब समझते हैं जब विदेशीपन की नकल निभा ले जाने में सफल हो जायँ। कपड़े अच्छे पहनने का शौक होने पर हमें कोट-पतलून, टाइ-नेकटाई चाहिए, अपने साज शृङ्गार के लिए हैजलीन, वैसलीन, क्रीम, स्नो और न जाने क्या-क्या चाहिए, तथा घर के लिए मेज, कुर्सी, कोच, टी-सेट जैसी चीजों की जरूरत होती है। काशी के प्रसिद्ध वकील साहब जैसे बड़े आदमी से भेंट होने का अवसर आने पर दयानाथ और रमेश बाबू

तीनों मकान को अँगरेजी ढंग से ही सजाने की बात सोचते, और तय करते हैं और इस सम्बन्ध में लेखक का सुन्दर व्यंग है कि यह सारा हौसला और शौक पूरा किया जाता है माँगे के सामान के बल पर। किराये के कपड़े पहन कर मर्यादा-निर्माण और निर्वाह का यह ढंग कितना हस्यास्पद है! और फिर भी हमारे समाज का मध्यमवर्ग इसे सहर्ष अपना रहा है, समझता है कि इसके बिना हमारा जीना असम्भव है, हमारा जीवन खोखला है, व्यर्थ है।



गोदान

[विश्वम्भर 'मानव']

'गोदान' आधुनिक भारतीय जीवन का दर्पण है। यह सामान्य और मध्य-वर्ग की समस्याओं को लेकर चला है। प्रेमचन्दजी ग्राम्य-जीवन को चित्रित करने में कैसे सिद्धहस्त थे यह किसी से छिपा नहीं है; पर आज के किसान और मजदूर के दरिद्र और परवश जीवन को बिना जमींदार और मिल-मालिक के कारनामों के नहीं समझा जा सकता। पटवारी, सूदखोर, पुलिस, जो जमींदार और मिल-मालिक की पंक्ति में ही किसान के जीवन पर जोंक की भाँति काम करते हैं, उनके बिना उसकी दयनीय दशा का ठीक स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसी से 'गोदान' की कहानी भी एक किसान की जीवनी को लेकर चली है जिसके चारों ओर मध्य-वर्ग का जीवन भी घूमता है। सामान्य किसानों के सब गुण-अवगुण उसमें विद्यमान हैं। किस प्रकार अपनी परिस्थितियों और संस्कारों से पिसता हुआ वह दरिद्र प्राणी करुण मृत्यु प्राप्त करता है, किस प्रकार सभी का पेट भरता हुआ वह स्वयं अपने जीवन की किसी सामान्य इच्छा को पूर्ण करने में असमर्थ रहता है, यही सब कुछ दिखाना 'गोदान' का लक्ष्य है।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है होरी। वह भारतीय किसान का प्रतिनिधि है। प्रारम्भ में ही उसे जमींदार की खुशामद करनेवाला व्यवहार-कुशल पुरुष चित्रित किया गया है। उसके जीवन की सबसे बड़ी साध है गऊ से द्वार की शोभा बढ़ाना और प्रातःकाल उसके पुण्य दर्शन कर कृतकृत्य होना। मनोविज्ञान के दो सामान्य नियम—सहानुभूति और प्रशंसा—के मूल्य को वह जानता है। सहानुभूति दिखाकर वह भोला से गाय झपटने में समर्थ होता है और गुणों की प्रशंसा करके वह अपनी स्त्री धनिया को स्वयं इस बात पर राजी करता है कि वह भोला को भूसा देने में आनाकानी न करे। सबसे अधिक उसकी दरिद्रता दर्शनीय है। जमींदार से मिलने जा रहा है; पर उसकी मिर्जई तक फटी हुई है। इसे भी धनिया ने पाँच साल हुए जबर्दस्ती बनवा

दिया था। उसके पास एक कंबल था जो उसके जन्म से भी पहले का था। यह दरिद्रता उसके आलस्य के कारण न थी, कर्ज के कारण थी। बिसेसरसाह, दुलारी, मँगरूसाह, झिंगुरीसाह, नोखेराम, पं० दातादीन सभी का वह देन-दार। उसका अनाज खलिहान में ही तुल जाता है। कुछ जमींदार लेता है, कुछ महाजन। कर्ज से उसे कभी छुटकारा नहीं मिलता। इस दरिद्रता में भी उसके हृदय की उदारता सराहनीय है। यह जानते हुए भी कि उसके भाई हीरा ने गाय को विष दिया है, हीरा के भाग जाने पर संकट के दिनों में वह उसकी स्त्री पुनिया की देख-भाल करता है। झुनिया को घर में आश्रय देने से वह भोला का बुरा बनता है और गाँव के पंचों को दंड देता है जिसके कारण वह संकट में पड़ जाता है; पर झुनिया को आश्रयहीना नहीं छोड़ता। इसी प्रकार सिलिया चमारिन को भी, जो मातादीन की प्रेमिका है, उसके द्वारा दुत्कारे जाने पर होरी के घर में ही स्थान मिलता है। उसका भ्रातृ-प्रेम भी सराहनीय है। अपने भाइयों के घर अलग करने पर उसे अपार वेदना हुई थी। चौधरी और पुनिया के झगड़े के समय उसका खून जोश मारता है और वह चौधरी को भला-बुरा कहता है। होरी की गाय देखने जब सब आते हैं और उसके भाई नहीं आते तो उसे बड़ी चिन्ता होती है। यह भ्रातृ-प्रेम यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि हीरा का नाम लेने पर, जो गाय को विष देने का दोषी है, होरी धनिया को पीटता है और गोबर के माथे पर हाथ रखकर झूठ कहता है कि उसने हीरा को नाँद के पास नहीं देखा। आदर्श दृष्टि से उसके जीवन के दोनों कृत्य निंदनीय भी हैं—एक चौधरी बँसोर को बाँस बेचते समय भाव में गड़बड़ करना और दूसरा रूपा के विवाह में २००) लेना, जो एक प्रकार से लड़की बेचना है; पर ये दोनों कृत्य दरिद्रता की विवशता से उत्पन्न हुए हैं। इतना सब कुछ होने पर भी होरी के जीवन में जो सरसता बनी हुई है, वह है उसमें मनोविनोद की भावना के कारण। धनिया को वह पीट तक लेता है; पर क्षण भर में ही दोनों किसी बात पर हँस लेते हैं। दुलारी सहुआइन को देख कर तो उसकी चुहल की वृत्ति सहसा उभर पड़ती है और उसे भाभी कहकर जो मन में आता है कह लेता है। ऐसे प्राणी की मृत्यु पर एक गाय भी दान करने के लिए न हो, इससे अधिक जीवन की विडंबना क्या हो सकती है?

धनिया का चरित्र होरी के चरित्र से चिपटा हुआ है। सामान्य नारी की भाँति अपनी प्रशंसा पर मुग्ध होने की निर्बलता उसमें भी है। भारतीय नारी की भाँति अपने दुःख में वह अपने पति की सदैव संगिनी रही। उसे माता का हृदय प्राप्त है। इसी से वह झुनिया को अपने घर में आश्रय देती है और आगे चलकर गोबर के लड़के को स्नेहपूर्वक स्मरण करके तड़प उठती है। उसके व्यंग्य बड़े तीखे होते हैं जिनसे होरी भी घबड़ाता है। उसकी सबसे दुर्बलता यह है कि उसमें वाक्-संयम नहीं है। इसी कारण वह कभी-कभी मार भी खाती है। सोना के विवाह के समय उसने कुल-मर्यादा का झूठा राग अलापकर अदूर-दर्शिता का परिचय दिया।

होरी और धनिया के अतिरिक्त कुछ दूर तक चलनेवाले समान्य-वर्ग के चरित्रों में गोबर-झुनिया एवं मातादीन-सिलिया के चरित्र हैं, तथा मध्य-वर्ग में मेहता-मालती और खन्ना-गोविंदी के। गोबर के घर आने के पूर्व झुनिया का स्वभाव खासा चटपटा था। वे दोनों गाँव के रोमांस का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। गोबर अपनी अदूरदर्शिता से मारा-मारा फिरा। पहले वह मिर्जा के यहाँ नौकर हुआ, फिर खन्ना के यहाँ और फिर मालती के यहाँ। लखनऊ में रहने से उसके रहन-सहन और बुद्धि में परिवर्तन होता है। नकल द्वारा यद्यपि गाँव-वालों की आँखें खोलने में वह सहायक हुआ, पर अपने पिता की स्थिति न सुधार सका। इस बात का खेद उसे बराबर बना रहता है। वह चाहता तो माता-पिता के जीवन को सुखमय बना सकता था, पर ऐसी दशा में उपन्यास का प्रभाव भिन्न प्रकार का होता।

मातादीन एक ढोंगी, बगुला-भगत, गुण्डा ब्राह्मण है। वह बाहर से ब्राह्मण है और भीतर से चमार। रहन-सहन, खान-पान में विचार करता है पर चमारिन को अपनी स्त्री बनाकर रखता है। अवकाश मिलने पर अकेले में किसी का भी हाथ पकड़ सकता है। चमारों ने उसके मुँह में हड्डी देकर उसकी धूर्तता का उचित दंड दिया है। कुछ दिन उसने सिलिया के साथ रूखा व्यवहार किया, पर बाद में अपने लड़के की मृत्यु पर उसका स्नेह उमड़ पड़ा और फिर आजीवन वह सिलिया के साथ रहा। पुनर्मिलन के समय सिलिया ने पूछा था कि एक चमारिन के साथ तुम ब्राह्मण होकर कैसे रहोगे? उस समय मातादीन ने

उचित ही उत्तर दिया था—'जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण है, जो धर्म से मुंह मोड़े वही चमार है।'

स्त्री पात्रों में हमारा सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती है मिस मालती। उपन्यासकार के शब्दों में वे नवयुग की साक्षात प्रतिमा है। मिस्टर खन्ना को जो मालती के रूप पर मुग्ध थे, उसने काफी दिन उल्लू बनाया और वह प्रत्यक्ष ही खन्ना-गोविंदी में कलह का कारण हुई। यदि मेहता बीच में न आये होते तो गोविंदी के जीवन का अंत करुण ही होता। रायसाहब की पार्टी में जिस दिन मेहता ने अफगानी का हृदय हिलानेवाला अभिनय किया उस दिन मालती उन पर मुग्ध हो गयी। यह आकर्षण बढ़ता ही गया और अन्त में चिर-मित्रता में परिणत हुआ। मेहता से प्रेम के कारण ही शिकार के समय उसने एक काली जंगली लड़की के प्रति भी ईर्ष्या-भावना प्रकट की थी। काली लड़की ! निस्वार्थ सेवा-भावना और आत्म-गौरव की प्रतिमूर्ति ! मेहता ने बहिन कहकर हमारा सन्देह दूर कर दिया, नहीं तो मालती की प्रतिद्वंद्विनी बनने की क्षमता उसमें थी। मुझे डर है, वह उपेक्षिता किसी मैथिलीशरण का मर्मस्पर्श न कर दे ! खैर।

मेहता के सम्पर्क में आकर मालती में सुधार होता है। उसकी बाह्य चंचलता आंतरिक गम्भीरता में परिवर्तित हो जाती है और जब वह अपने जीवन का आनन्द गाँव के लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाकर प्राप्त करती है, तब तो उस पर आश्चर्य ही होता है। एक दृढ़ चरित्रवान पुरुष के सम्पर्क में आकर तितली देवी हो गयी।

मेहता एक दृढ़ पुरुष के प्रतीक हैं। मनुष्य को वे प्राकृतिक रूप में देखना चाहते हैं और जीवन को आनंदमय बनाने के पक्षपाती हैं। नारी के विषय में उनका आदर्श ऊँचा है। आदर्श नारी को ही वे आदर्श पत्नी समझते हैं। इसी से गोविंदी को वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। इसी श्रद्धा की प्रेरणा से मेहता ने गोविंदी के पति खन्ना को मालती के प्रभाव से मुक्त किया। यद्यपि वे अनीश्वरवादी थे, पर सेवा-धर्म में विश्वास रखते थे। मालती में परिवर्तन उन के शुभ संयोग के कारण ही था। सब कुछ होकर भी थे वे फिलासफर ही। गृह-प्रबन्ध में वे असफल थे; इसी से वे एक हजार रुपये महीना कमाने पर

भी खाली हाथ रहते। यहाँ मालती उपयोगी सिद्ध हुई। मालती के हृदय में जो उनके प्रति स्निग्धता थी उसने मिलकर मित्रता का रूप ग्रहण कर दोनों की आत्मा को सदैव के लिए मिला दिया।

'गोदान' में ग्राम्य जीवन का सफल चित्रण हुआ है। किसान के घर और बाहर के कई सुन्दर दृश्य उपन्यास में है। लू चल रही है, बगोले उठ रहे हैं, भूतल धधक रहा है, पर किसान काम कर रहा है। दूसरे स्थान पर खलिहान के दर्शन करते हैं, तो कहीं मड़ाई हो रही है, तो कहीं कोई अनाज ओसा रहा है, कोई गल्ला तौल रहा है। नाई, बारी, बढ़ई, लोहार, पुरोहित भाट, भिखारी सभी अपने-अपने हक लेने के लिए जमा हो गये हैं। कोई अपनी सवाई उगाह रहा है। कोई गल्ले का भाव-ताव कर रहा है। यदि किसान का घर देखना हो, तो सोना के पति मथुरा का आँगन देखना चाहिए। एक कोने में तुलसी का चबूतरा है, दूसरी ओर जुआर के ठेठों के कई बोझ दीवार से लगाकर रखे हैं। बीच में पुआलों के गट्ठे हैं। समीप ही ओखल है जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा है। खपरैल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियाँ ऊपर चमक रही हैं। दूसरी ओर उसारी में एक गाय बँधी हुई है। खाने में जौ की रोटियों और अरहर की दाल का जिक्र भी आया है। घर में अनाज न हो, देह पर कपड़े न हों, गाँठ में पैसे न हों, पर जीवन की आनदवृत्ति को किसान नहीं दबाता। देहात में साल के छः महीने में किसी न-किसी उत्सव में ढोल-मजीरा बजता है—कभी होली, कभी आल्हा, कभी कजली, कभी रामायण के बहाने। घर में मार-पीट भी एक सामान्य बात है। पुनिया और धनिया इसको सामग्री जुटाती हैं। गाँव में द्वेष-भावना भी प्रबल होती है। 'गोदान' में उसके दर्शन भी होते हैं। होरी के भाई द्वेष-भावना से ही उसकी गाय देखने नहीं आते और हीरा तो गाय को विष देकर भाग जाता है। इसके अतिरिक्त गाँवों में व्यभिचार भी खुले-छिपे चलता है। मातादीन का सिलिया चमारिन से सम्बन्ध था ही। झिंगुरीसिंह ने ब्राह्मणी रख छोड़ी थी। पटेश्वरी पटवारी का अपनी विधवा कहारिन से सम्बन्ध था और नोखेराम ने भोला को उसकी स्त्री नोहरी के कारण आश्रय दिया था।

कथोपकथन में प्रेमचन्दजी को कमाल हासिल है। उनके कथोपकथन

सजीव पात्रों के अनुकूल, चरित्र स्पष्ट करनेवाले और कथानक को बढ़ानेवाले होते हैं। वे आवश्यकता से अधिक न बड़े होते हैं और न अपनी मार्मिकता नष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए प्रारम्भ में होरी को धनिया द्वारा कपड़े सौंपते समय, हीरा के आक्षेप पर रात में ही होरी के गाय लौटाने के निश्चय के समय, झुनिया और गोबर के रोमांस-काल, सोना और झुनिया के भाभी-ननद के मजाक तथा झिंगुरीसिंह की नकल के कथोपकथन काफी मनोरंजक हैं।

पात्रों के चारों ओर के वातावरण पर भी प्रेमचन्दजी की दृष्टि रहती है। स्वतंत्रत रूप से वसंत के दो चित्र अनुपम माधुर्य लिये हुए हैं। यदि पात्रों के चरित्र पर वातावरण का प्रभाव ही देखना हो तो सोना के पति मथुरा और सिलिया को देखना चाहिए।

'बरौठे में अँधेरा था। उसने सिलिया का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचा। सिल्लो का मुँह उसके मुँह के पास आ गया था और दोनों की साँस और आवाज और देह में कंप हो रहा था।'

मानव-जीवन के बहुत से पहलुओं पर 'गोदान' में प्रकाश डाला गया है। उसमें किसान, जमींदार, कारकून, पटवारी, साह लोग, थानेदार, मिल मालिक, मजदूर, आधुनिक शिक्षित लड़कियाँ, प्रोफेसर, दलाल, संपादक सभी अपने वास्तविक रूप में आते हैं। जहाँ तक हो सका है सभी को और विशेष रूप से जमींदारों को व्यापक दृष्टि से देखा गया है। उनकी दुर्बलताओं को चित्रित भी किया गया है। और उनकी दुर्बलताओं तथा कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न भी किया गया है। रायसाहब शिक्षित जमींदारों के प्रतिनिधि हैं। वे दोनों रकाबों में एक साथ पैर रखते थे। राष्ट्रवादी भी थे और जी-हुजूर भी। जेल भी गये थे और सरकारी कर्मचारियों को डालियाँ भी देते थे। किसानों के प्रति सहानुभूति भी दिखाते और उनसे दंड तथा बेगार भी लेते। रायसाहब ने बार-बार उस वातावरण को दोषी ठहराया है जिसमें वे पले हैं। वे होरी के दंड के रुपये नोखे से अपने लिए माँगते हैं। यह नहीं कि होरी को वापस दिला दें, वे सम्पादक को इसलिए लालच देते हैं कि उनके विरुद्ध वह कोई समाचार न छापे। इससे सम्पादक और जमींदार दोनों का स्वरूप स्पष्ट होता है। कर्जदार होकर झूठी मान-मर्यादा में आकर

वे व्यायामशाला के लिए मेहता को ५०००) चंदा देने का वायदा करते हैं।

किसान और जमींदारों के अतिरिक्त डैमोक्रैसी, साम्यवाद इलेक्शन पर भी काफी छींटे फेंके गये हैं। स्त्रियों के अधिकार पर तो वीमंस लीग में मिस्टर मेहता से एक व्याख्यान ही दिला दिया है। इसी प्रकार खन्ना की मिल में आग लगते समय मजदूर-संघ और हड़ताल आदि के दृश्य हमारे सामने आते हैं। मालती के द्वारा ग्राम-सुधार का हल्का स्वरूप भी, जो अधिक सक्रिय नहीं है, चित्रित किया गया है।

समय के साथ प्रेमचन्दजी की भाषा और शैली में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। भाषा यद्यपि उनकी सरल, स्वाभाविक और पात्रानुकूल है, परन्तु जहाँ 'गोदान' में लेखक को स्वयं कुछ कहना पड़ा है, वहाँ प्रायः भाषा अन्य उपन्यासों से अधिक मँजी, मधुर और साहित्यिक हो गयी है।

'वह अभिसार की मीठी स्मृतियाँ याद आयीं, जब वह अपने उन्मत्त उसासों में, अपनी नशीली चितवनों में मानो अपने प्राण निकालकर उसके चरणों पर रख देता था। झुनिया किसी वियोगी पक्षी की भाँति अपने छोटे-से घोसले में एकांत-जीवन काट रही थी। वहाँ नर का मत्त आग्रह न था, न वह उद्दीप्त उल्लास, न शावकों की मीठी आवाजें; मगर बहेलिये का जाल और छल भी तो वहाँ न था।'

कला की दृष्टि से परखें तो 'गोदान' में बहुत से पुराने दोषों का परिहार हुआ है। इसके लिए 'रंगभूमि' की भाँति यह नहीं कहा जा सकता कि उपन्यास के कलेवर को प्रेमचन्दजी ने व्यर्थ बढ़ाया है। इसमें कथानक और चरित्रों का उपयुक्त सामंजस्य है। 'सेवासदन' की भाँति यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें सुधार-भावना प्रबल हो गयी हैं। इसमें आदर्श के सामने यथार्थवाद का पलड़ा भारी ही है। म्युनिसिपैल्टी के-से रूखे थका देनेवाले लम्बे प्रसंग भी इसमें नहीं हैं। जहाँ लम्बे प्रसंग हैं, वहाँ विश्राम के लिए कोई ढंग निकाला गया है। रायसाहब जब अपनी दशा होरी को समझाते हैं तो बीच में पान खाते जाते हैं, झुनिया जब एक साँस में अपनी अतीत-गाथा सुनाना चाहती है तो कहीं-कहीं बीच में गोबर टोक देता है; मेहता जब लम्बा व्याख्यान देते हैं तो दर्शक लोग आलोचना करते जाते हैं। 'गबन' की जोहरा वेश्या की भाँति किसी की मृत्यु नहीं

दिखायी गयी है ! सिलिया और मातादीन का पुनर्मिलन करा के प्रेमचन्दजी हमारी प्रशंसा के पात्र हुए हैं। 'सेवासदन' का अंतिम भाग लिखते समय यदि मैं प्रेमचन्दजी के पास बैठा होता तो उनसे प्रार्थना करता कि चाहे सुमन को 'सेवासदन' की संचालिका बनाइए, चाहे पद्मसिंह शर्मा को वहाँ आने दीजिए या संकोचवश न आने दीजिए, पर गजाधर और सुमन को एक बार फिर मिला दीजिए। 'गोदान' उपन्यास के अंतिम भाग में वे रायसाहब, खन्ना गोविंदी, मेहता-मालती, सिलिया-मातादीन, का उचित निर्णय कर होरी की मृत्यु के समय हीरा को बुलाकर हमारे हृदय पर ऐसा आघात करते हैं कि वह सदैव स्मरण रहता है।

वास्तव में 'गोदान' प्रेमचन्दजी की अचल कीर्ति का स्मारक है।

———

गोदान

गोपालकृष्ण कौल

: १ :

साहित्य में कभी-कभी ऐसी कृतियों का सृजन होता है जो साहित्य के इतिहास की धारा के प्रवाह का रुख ही बदल देती हैं; जो अपने युग-जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं और साथ ही अपने प्रभाव से नये युग के द्वार भी खोलती हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' भी हिन्दी-साहित्य में एक ऐसी ही युग-प्रवर्तक रचना है। जैसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चन्द बरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', तुलसी का 'रामचरितमानस', सूरदास का 'सूरसागर', बिहारी की 'सतसई', भूषण की 'शिवा-बावनी' और छत्रसाल पर लिखी हुई कविताएँ, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक अलग-अलग सीमा-चिह्न कायम करते हुए नये-नये युगों का उद्घाटन करते हैं; इसी प्रकार प्रेमचन्द का 'गोदान' भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध काल में अपने युग का अग्रदूत ही नहीं, नये युग का सूत्रधार भी है। यदि चन्द से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों, विषय-वस्तु और रूपविधानों, साहित्य के आलम्बनों और उपकरणों का विस्तृत अध्ययन किया जाय तो प्रेमचन्द का कृतित्व कई बातों में असाधारण और क्रान्तिकारी प्रतीत होगा। प्रेमचन्द से पूर्व के अधिकांश हिन्दी साहित्य के संस्कार, आलम्बन और उपकरण सामन्ती उच्चवर्ग की सीमाओं में घिरे हुए हैं। काव्य का आलम्बन चाहे योद्धा हो या विलासी, चाहे धार्मिक हो या भक्त, और चाहे ईश्वर हो या देवता—सबका जीवन-व्यापार, आदर्श और मर्यादाएँ सामन्ती उच्चवर्ग के विभिन्न स्तरों से ग्रस्त हैं; उनमें देश काल के व्यवधानों से कुछ रूप-भेद हो सकते हैं, किन्तु सामान्य जनता—कृषक और श्रमिकों—को काव्य का आलम्बन नहीं चुना गया; उनके जीवन-व्यापार से साहित्य में सजीवता नहीं पैदा हुई। तुलसी और सूर के काव्यों में जो लोक-जीवन की छाया मिलती भी है तो वह सामन्ती आदर्शों को उभारकर सामने लाने के लिए शृङ्गारिक उपकरण के रूप में या चमत्कार पैदा करने वाली विरोधी पृष्ठभूमि के रूप में। किन्तु प्रेमचन्द ने युग-जीवन से

प्रेरणा लेकर सामान्य जनता और किसानों के देहाती जीवन को अपने साहित्य का आलम्बन बनाया; उन्होंने भारत की अस्सी प्रतिशत जनता की मूक वाणी को अपनी रचनाओं में मुखरित किया। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यह एकदम नया क्रान्तिकारी कदम था।

: २ :

प्रेमचन्द ने कहानी से पहले उपन्यास लिखना शुरू किया था। उस समय वह उर्दू में लिखते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

'मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। डा० रवीन्द्रनाथ के कई गल्प मैंने अँग्रेजी में पढ़े थे; जिनका उर्दू अनुवाद कई पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने १९०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में ...।'

इस प्रकार प्रेमचन्द की रचनाओं का समय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग पैंतीस वर्ष है। इस समय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का राजनैतिक विकास हो रहा था। ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध जन-भावना का विरोध धीरे-धीरे तीव्र होता जा रहा था। सन् १९०८ में लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में हुई बम्बई के मजदूरों की हड़ताल की देश-भर में चर्चा हुई थी। उसके बाद भारतीय राजनीति में गांधीजी का तीव्र गति से प्रवेश हुआ और उनकी वाणी का प्रभाव देश-भर में फैल गया। सन् १९२० के सत्याग्रह आन्दोलन में प्रेमचन्द ने भी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। इस कार्य की प्रेरणा उन्हें गांधी की वाणी से ही मिली थी। उन्होंने लिखा है—

'...यह सन् १९२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन जोरों पर था। जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियाँ के मैदान में अच्छा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।'

प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव स्पष्ट हैं। उनमें गांधीवादी असहयोग-आन्दोलन, स्वदेशी-आन्दोलन, विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, मद्य-निषेध, सरकारी पदों का त्याग, नारी-जागरण आदि का चित्रण मिलता है। फिर भी प्रेमचन्द उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले राजनितिक दलों की नीति से असन्तुष्ट थे। सन् १९२३ में 'ज़माना' अखबार के सम्पादक को एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

'आपने मुझसे पूछा है मैं किस पार्टी के साथ हूँ, मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि इस वक्त दोनो में कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ, जो आवाम-अलनास की सियासी तालीम को अपना दस्तूरुल-अमल बनाएगी।'

इस असन्तोष का कारण था। प्रेमचन्द देख रहे थे कि उस समय का राष्ट्रीय-आन्दोलन विदेशी हुकूमत से राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने का आन्दोलन है; वर्ग-विभाजित समाज में श्रमिकों और किसानों का शोषण तो जारी ही रहेगा। क्योंकि इस आन्दोलन में जो भी व्यक्ति विदेशी हुकूमत से लोहा लेने को तैयार था, वह राष्ट्रीय-आन्दोलन का एक अंग बन जाता था; फिर यह नहीं देखा जाता था कि वह किस वर्ग का है, शोषित है या शोषक। किन्तु प्रेमचन्द को यह कमी खटकी थी और उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीय-आन्दोलन की झाँकियों के साथ-साथ महाजनी सभ्यता और वर्ग-भेद-जन्य शोषण के भी यथार्थ चित्र खींचे हैं। उनकी प्रेरणा का स्रोत केवल गांधीवादी राष्ट्रीय-आन्दोलन ही नहीं, रूस की क्रान्ति भी थी। 'प्रेमचन्द घर में' पुस्तक में श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने लिखा है—

"मैं बोली—जब स्वराज्य हो जायगा, तब क्या शोषण बन्द हो जायगा ?

आप बोले—थोड़ा-बहुत तो हर जगह होता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर का शोषण बलवान करें। हाँ, रूस है, जहाँ कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।

मैं बोली—क्या आशा है कुछ ?

आप बोले—अभी जल्दी इसकी आशा नहीं।

मैं बोली—मान लो जल्दी हो जाय, तब आप किस का साथ देंगे ?

आप बोले—मजदूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सब से कह दूँगा कि मैं भी मजदूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर हैं।

× × ×

मैं बोली—तो रूस वाले यहाँ भी आयँगे ?

वह बोले—वे यहाँ नहीं आयँगे। हमीं लोगों में वह शक्ति आयगी। वह हमारे सुख का दिन होगा। जब यहाँ मजदूरों और काश्तकारों का राज होगा। मेरा ख्याल है कि आदमी की जिन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।'

ऊपर के विचारों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ शोषण-हीन किसान-मजदूरों के राज्य की भी कल्पना करते थे। वह इसे ऐसा राज्य समझते थे, जिनमें आदमी की उम्र ही दूनी हो जाती है। इसलिए प्रेमचन्द को गांधीवादी लेखक कहना, प्रेमचन्द को गलत समझना है। वह न तो गांधीवादी थे और न मार्क्सवादी, वह सही मानों में जनवादी कलाकार थे, जो साक्षात् जीवन-अनुभव से अपना दृष्टिकोण बनाता है; अन्याय और शोषण का विरोध करता है और जिसकी सजग सहानुभूति जनता—श्रामिकों और किसानों के साथ होती है; जो मानवता की व्यापकता को समझते हुए भी मानवता की वर्ग जन्य संकीर्णता का विरोध करता है।

: ३ :

जिस समय प्रेमचन्द ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय की साहित्यिक-परम्परा सामन्ती राष्ट्रीयता को अपने साथ भारतेन्दु युग की विरासत के रूप में ग्रहण किये हुए नयी पूँजीवादी राष्ट्रीयता के युग में प्रवेश कर रही थी। साहित्य की प्रवृत्ति और भावधारा कहीं आदर्शवादी और कहीं रोमांटिक थी। आदर्शवाद पर सामन्ती राष्ट्रीयता का प्रभाव था और रोमांटिक भावधारा पर पूँजीवादी व्यक्ति-वैचित्र्य और वैयक्तिक-असन्तोष का प्रभाव था। कविता में छायावाद (रोमांटिसिज्म) का उदय हो रहा था और गद्य में आदर्शवादी सुधारवाद का। तत्कालीन ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक गौरव की भाव-भूमि रहते हुए भी कथावस्तु और पात्रों का चुनाव इतिहास में प्राप्त

सामन्ती और उच्च वर्ग से ही किया गया है; उनके जीवन-व्यापार में ही वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजा गया है। यही नहीं, प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती हिन्दी उपन्यासों में—चाहे वे तिलस्मी हों या जासूसी, सामन्ती प्रेमकथा के हों या सुधारवादी—नायक और प्रधान चरित्र राजा-महाराजा या ताल्लुकेदार के खानदान का ही है और उनका जीवन-चित्रण बड़ा यान्त्रिक, रूढ़िवादी और रीतिवादी है। हिन्दी के सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' से 'भूतनाथ' तक हिन्दी का औपन्यासिक शिल्प इसी रूढ़िमार्ग पर आगे बढ़ रहा था। उस समय का पाठक 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्र मोहिनी' और 'भूतनाथ' का पाठक था; उसके लिए कथा-साहित्य मनोरंजन का साधन था। प्रेमचन्द यदि इस प्रवाह में बह जाते तो आज हिन्दी-साहित्य का रूप ही दूसरा होता। किन्तु वह उस प्रवाह के द्रष्टा थे और उन्हें उसकी अपर्याप्तता का भान हो चुका था। वह देख रहे थे कि तूफान की गति से बदलती हुई सामाजिक चेतना और राजनीतिक जागरण के स्तर किस तरह तत्कालीन राष्ट्रीयता के आवरण में आच्छादित आर्थिक शोषण और वर्ग-भेद के मूलाधारों को उद्घाटित करते जा रहे हैं। सन् १९३६ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक-सङ्घ' के अध्यक्ष पद से दिये गये अपने भाषण में उन्होंने लिखा था—

'हमने जिस युग को पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब नहीं था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये-अजायब की दास्तान थी, कहीं 'बोस्ताने-ख्याल' की और कहीं 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर व्यक्तिवाद का रङ्ग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को।'

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने पूर्व के और सम-सामयिक साहित्य-प्रवाह में अपर्याप्तता, जीवन का असाम्पर्क्य और रूढ़ि के शिलाखण्डों को देखा था, और देखा था कि जन-मानस की अनन्त मरु-प्यास की तृप्ति इस जीवनहीन प्रवाह से नहीं होगी। यह सब उन्होंने जीवन-अनुभव और जन-दर्शन की आँखों

से देखा था, किसी दृष्टिकोण का चश्मा लगाकर नहीं; उनके दृष्टिकोण का आधार ही जनता का सतत प्रवाही जीवन-दर्शन था, जिसमें असन्तोष की आग रूढ़ियों की घुटन, जातीय परम्पराओं के प्रति अन्ध आस्था और बदलते हुए समय के नवनूतन के प्रति कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा होती है। प्रेमचन्द ने अपने समय की शिल्प-रूढ़ियों और भाव-रूढ़ियों की संकीर्णताओं को छिन्न-भिन्न किया; वह न तो तत्कालीन आदर्शवाद के पथगामी बने और न रोमांटिसिज्म से अनुरक्त हुए। यद्यपि उनकी प्रारम्भ की रचनाओं में आदर्शवाद का प्रभाव है, फिर भी उनका आन्तरिक झुकाव सामाजिक यथार्थवाद की ओर था। उन्होंने अपने विचारों में कई स्थानों पर यथार्थ का विरोध किया है, इसका कारण उनका अपना अन्तर्विरोध था, जिसने उसमें प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) को ही यथार्थवाद समझने का भ्रम पैदा कर दिया था और जिसे वह 'नग्न यथार्थ' के नाम से पुकारते थे। उन्होंने जैनेन्द्रजी को एक पत्र में लिखा था—

'...Realist हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता, बल्कि उसके वांछित रूप ही में दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी नहीं हूँ।'

'है' में से 'होना चाहिए' को ध्वनित करने वाला चित्रण यथार्थवादी चित्रण है और जो केवल 'है' या 'उपस्थित' का फोटोग्राफिक चित्रण मात्र होता है, जिसमें अन्तर्निहित 'होना चाहिए' का उद्घाटन साथ-साथ नहीं होता, वह प्रकृतवादी चित्रण है। प्रकृतवादी ढङ्ग से मानव समाज की कमजोरी, पामाली और शोषण का चित्रण मानवता को निराशा, अविश्वास, और भय की ओर खींचता है और यथार्थवादी ढंग से किया गया जीवन का चित्रण मानवता को असन्तोष, जीवन में विश्वास और संघर्ष की ओर आकर्षित करता है। प्रेमचन्द ने प्रकृतवाद के तत्वों को यथार्थवाद के साथ जोड़कर, अपने युग के आदर्शवादी प्रभाव की प्रतिक्रिया का परिचय दिया है किन्तु उनका आदर्शवाद यथार्थ की पृष्ठभूमि पर खड़ा है।

उन्होंने अपने प्रारम्भ के कई उपन्यासों में समस्याओं को प्रस्तुत तो यथार्थ-वादी ढंग से किया है किन्तु उनका समाधान यान्त्रिक, आदर्शवादी है जिसे राजनीतिक दृष्टि से गांधीवादी प्रभाव भी कहा जाता है। समस्याओं के आदर्श-

वादी समाधान को प्रेमचन्द ने दो रूपों में प्रस्तुत किया है, कहीं तो संस्थाओं और आश्रमों द्वारा और कहीं व्यक्ति को ही एक संस्था बनाकर। इन समाधानों में उनकी अपनी आन्तरिक असंगतियों और अपने युग के गांधीपंथी राष्ट्रीय आन्दोलन की छाप स्पष्ट दिखायी देती है। बावजूद तमाम असंगतियों और अन्तर्विरोधों के इन समाधानों में सामाजिक चेतना प्रबल है, वे व्यक्ति-प्रयत्न नहीं; क्योंकि समाज से पलायन करके किसी हल को पेश करने की कोशिश प्रेमचन्द ने नहीं की है। साथ ही उन्होंने इस प्रकार के समाधानों को प्रस्तुत करने के आदर्शवादी जोश में कहीं भी समस्याओं और जीवन के यथार्थ चित्रण को अयथार्थ या आदर्शवादी बनाने की यान्त्रिक कोशिश नहीं की है। जैसे जमींदारों के किसानों पर, अछूतों पर सवर्णों के, गरीबों पर महाजनों के, होने वाले अत्याचार को सिर्फ इसलिए कम करके चित्रित करने की आदर्शवादी कमजोरी उन्होंने नहीं दिखायी कि वह वर्ग-संघर्ष जन्य क्रान्ति के वैज्ञानिक विकास को नहीं जान पाये थे और समन्वय एवं समझौते की बात सोचते थे। उनके ऐसे समाधान और परिणाम उनके उपन्यासों की यथार्थवादी पृष्ठभूमि को कभी विकृत नहीं करते थे। वह मूलतः यथार्थवादी कलाकार थे, किन्तु उनपर प्रभाव अपने युग के आदर्शवाद का था। जिस उपन्यास में वह समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं करते और यथार्थ समस्याओं को ही चित्रित करके सन्तोष कर लेते हैं या समाधान या परिणाम उस समस्या की यथार्थता से स्वयं ध्वनित होने लगता है, उस उपन्यास में वह अपने युग के एकमात्र यथार्थवादी कलाकार के रूप में सामने आते हैं। या यों कहा जा सकता है कि समस्याओं को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने एवं जन-जीवन का यथार्थ चित्रण करने में वह सफल थे।

प्रेमचन्द ने इस यथार्थ और आदर्श की समस्या को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के माध्यम से सुलझाया, किन्तु इसे 'यथार्थ की भयंकरता से प्रेमचन्द का समझौता' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अपनी रचनाओं में—उपन्यासों में 'वरदान' से 'गोदान' तक और कहानियों में प्रारम्भ की कहानियों से 'कफ़न' तक—क्रमशः उनकी कला का विकास यथार्थवाद की ओर रही हुआ। जैसे कहानियों में 'कफ़न' उनकी पिछली कहानियों की अपेक्षा अधिक

यथार्थवादी है, वैसे ही उपन्यासों में 'गोदान'। 'गोदान' न केवल हिन्दी कथा साहित्य का एक सीमाचिह्न है, बल्कि प्रेमचन्द की कला के विकास का भी सीमाचिह्न है। यह विकास भारतीय जीवन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझौता-परस्त नहीं, अभूतपूर्व और साहित्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी है।

'गोदान' के पूर्ववर्ती हिन्दी कथा-साहित्य और परवर्ती कथा-साहित्य की विकास-धाराओं के अध्ययन से पता चलता है कि 'गोदान' आधुनिक हिन्दी-साहित्य में वस्तु और शिल्प, विचार और विवेचन, जीवन और वास्तविकता, और यथार्थ और आदर्श तथा भाषा की दृष्टि से युगसन्धि स्थापित करने वाली महान् कला सृष्टि है, वह अपने युग को ही केवल प्रतिबिम्बित नहीं करती, बल्कि भावीयुग की भूमिका भी है। वह साहित्य के सामन्ती संस्कारों, रीति रूढ़ियों, संस्कृतनिष्ट क्लिष्ट भाषा की कृत्रिमताओं के प्रति साहित्यिक विद्रोह का प्रतीक है, उसमें सर्वप्रथम भारतीय जन-जीवन की यथार्थ झाँकी अपनी तमाम दुर्बलता और सबलता, परम्परा और जातीयता, संस्कृति और सामाजिकता के साथ वर्ग-भेद-जन्य शोषण और अत्याचार और उनके विरुद्ध जीवन-संघर्ष के सुख-दुःख, आघात-प्रतिघातों एवं उत्थान-पतनों के विवध रूपों में चित्रित हुई है, जिसकी मिसाल 'गोदान' के पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में तो मिलती ही नहीं; परवर्ती कथा-साहित्य में भी इस यथार्थवादी परम्परा को और अधिक विकसित करनेवाली प्रतिभा की खोज करना कठिन है।

'गोदान' भारतीय ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण है। इसका नायक होरी अवध के एक गाँव का किसान है किन्तु वह केवल व्यक्ति नहीं, भारतीय किसान के जीवन का प्रतीक है, वह व्यक्ति होते हुए भी एक वर्ग है, उसके व्यष्टि-जीवन में भारतीय कृषक की परम्पराओं, सांस्कृतिक विरासतों, उसकी रूढ़ियों और रीति-रिवाजों, उसकी कष्ट-कथाओं और अतृप्त अभिलाषाओं, दूसरे जमींदार, महाजन और हाकिम आदि विविध वर्गों से उसके अनेक रूर-सम्बन्धों की समष्टिगत व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। होरी एक होते हुए भी अनेक का चित्र है।

देहात और किसान का जीवन और मरण का सम्बन्ध है। देहात की कहानी किसान की कहानी और किसान की कहानी देहात की कहानी है।

इसलिए 'गोदान' की आधिकारिक कथा-वस्तु का वातावरण नागरिक नहीं देहाती (rural atmosphere) है। इस प्रकार 'गोदान' की कथावस्तु भारत की अस्सी प्रतिशत जनता के जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। इससे पूर्व हिन्दी में क्या, अन्य भारतीय भाषाओं में भी देहाती वातावरण और किसान के जीवन से इस भाँति की प्रतिनिधि-परक कथा-वस्तु का चुनाव किसी उपन्यास में नहीं किया गया।

आधिकारिक कथा का प्रारम्भ होरी की गाय के पालने की चिर-लालसा की देहाती भावभूमि से होता है और अन्त भी गोदान की ग्रामीण परम्परागत संस्कारी भावना से होता है, जो कृषक-संस्कृति की लोकपरम्परा के वातावरण का प्रतीक है। होरी और उसकी पत्नी धनिया के वार्तालाप से कथा का उद्घाटन होता है और होरी की मौत और धनिया की नीरव व्यथा में कथा की समाप्ति। लगता है कि जैसे सारा कथा-प्रवाह होरी और धनिया के जीवन की सतत गूँज है, जो अन्त में एक करुण प्रतिध्वनि करके शान्त हो जाती है, या होरी जैसे ग्राम-देवता का शरीर है और धनिया उसकी आत्मा, जो ग्रामीण-संस्कृति की परम्परा के प्रवाह में थपेड़े खाते हुए उसी के बीच अपनी जीवन-नौका को अपने बाहुबल और आस्था के आत्मबल के सहारे खींचते जा रहे हों। इस प्रकार 'गोदान' भारतीय ग्राम-देवता की करुण आत्म-पुकार है, उसके शरीर और मन का यथार्थ चित्रण।

होरी—एक किसान का यथार्थ चरित्र है। उसमें उसके अपने सारे अन्तर्विरोधों और गुण-दोषों की सजीव कहानी है। वह मन से बड़ा उदार है किन्तु 'महाजनी सभ्यता' की मार से उसकी दरिद्रता उसे संकीर्ण और नीच बनने पर भी मजबूर कर देती है, बहुत-सी दुर्बलताएँ उसे विरासत में भी मिली हैं। गरीबी के कारण वह अपने भाइयों से ५) की बेईमानी तक करने को तैयार हो जाता है किन्तु जब उसका भाई हीरा उसकी गाय को द्वेष और ईर्ष्या के कारण विष देकर मार डालता है, तब होरी जानकर भी अपने भाई के इस पाप को छिपाना चाहता है। किन्तु वह धनिया से कुछ नहीं छिपा पाता है और धनिया यह बात जब कहती है तो उसे पीटता है। हीरा गाँव से भाग जाता है तब होरी उसकी खेती का सारा काम खुद करता है, अपना पीछे,

पहले उसके काम को करता है। दारोगा आकर जब हीरा के पीछे उसके घर की तलाशी लेना चाहता है तो होरी कर्ज लेकर भी दारोगा को रिश्वत देकर अपने भाई के घर की प्रतिष्ठा बचाना चाहता है। उसकी दुर्बलता के प्रति हमें सहानुभूति पैदा होती है और उसके कर्मरत संकटग्रस्त जीवन-व्यथा के प्रति करुणा। वह अपने शरीर पर सब-कुछ झेलता है किन्तु अपनी आस्था से अडिग नहीं होता, वह अपनी जमीन और अपने घर की प्रतिष्ठा के लिए अपने को होम देता है। लेकिन जब हम देखते हैं कि महाजन और जमींदार के अत्याचारों के विरुद्ध वह विद्रोह नहीं करता तो हमें कहीं-कहीं उस पर क्रोध भी आता है। कर्ज से मुक्ति पाने के लिए, अपनी पारिवारिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए सतत परिश्रम उसका जीवन-क्रम बन जाता है। वह चुपचाप सारे अन्यायों और कष्टों को सहता रहता है किन्तु अपने क्रम से नहीं हटता। अन्त में वह मजदूरी करता है, किन्तु झुकता नहीं। इस सतत विश्राम-हीन परिश्रम के यज्ञ में वह अपने जीवन की आहुति चढ़ा देता है। लू लगने से वह मर जाता है। लू लगने से पहले जब एक मजदूर उसे देखकर पूछता है—तुम भी तो बहुत दुबले हो गये, दादा। तो होरी हँसकर कहता है—

'तो क्या मोटे होने के दिन हैं ? मोटे वह होते हैं, जिन्हें न रिन की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख। सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।'

जैसे ये शब्द होरी के जीवन-अनुभव का निचोड़ हों, उसके मन के किसी कोने में नाचने वाले धुँधले स्वप्न की एक झाँकी हो, मानो यह सारे उपन्यास में प्रकट यथार्थ के 'है' में से ध्वनित होने वाले अन्तर्निहित 'होना चाहिए' की युग-माँग की पुकार हो।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में वर्ग और व्यक्ति का एक साथ चित्र उपस्थित करने वाला इतना उदार स्वाभाविक मानव-चरित्र तो मिलता हीं नहीं किन्तु परवर्ती उपन्यासों में भी, जो शिल्प की दृष्टि से कई बातों में 'गोदान' से आगे हैं ऐसा पौरुष-चरित्र पाना कठिन ही है। परवर्ती उपन्यासों में व्यक्ति वैचित्र्य और व्यक्ति-कौतुक तो बहुत है किन्तु उनमें जन-जीवन के इतना सहज

प्रतीक चरित्र नहीं मिलते । होना तो चाहिए था कि प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रण की इस यथार्थवादी परम्परा का विकास परवर्ती उपन्यासों में होता किन्तु शिल्प-प्रयोग की रीतिवादी मनोवृत्ति में परवर्ती उपन्यासों में पुंसत्वहीन, सनकी और मरीज नायकों की सृष्टि ही अधिक हुई है। कई आलोचकों को होरी के चरित्र में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की छाया भी दिखाई देती है ।

धनिया का चरित्र एक दृढ़, साहसी और कर्मठ ग्राम-नारी का चरित्र है। परिवार की गाड़ी को वह अपनी व्यवहार-कुशलता से आर्थिक शोषण और सामाजिक रूढ़ियों के दलदल में भी खींचती चली जाती है। जो बात उसके सहृदय हृदय को उचित प्रतीत हो फिर वह उसके लिए बड़ी-से-बड़ी सामाजिक शृङ्खला की परवाह नहीं करती। वह अपने पुत्र गोबर के किये हुए असामाजिक प्रेम को अपने साहस के द्वारा पाप बनने से बचा लेती है। गोबर विधवा झुनिया की यौवनासक्ति में उसे गर्भवती बना देता है और जब उसे इस कार्य के दायित्व के बोझ का पता चलता है तब वह झुनिया को अपने घर पर छिपाकर छोड़ जाता है और खुद शहर भाग जाता है। धनिया तब समाज के भय से झुनिया को अपने घर से भगाती नहीं, बल्कि उसे स्वीकार करके अपने पुत्र की कायरता को धिक्कारती है। उसी प्रकार ग्राम-विप्र की रखैल चमारिन सिलिया को भी परित्यक्ता होने पर वह अपने घर में स्थान देती है। जब दारोगा उसकी अपनी गाय को मारने का अभियोग उसी पर लगाता है और धमकी देता है तो वह सब आदमियों के सामने निर्भीकता से कहती है—

'हाँ, दे दिया अपनी गाय थी, मार डाली, फिर ? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा ? तुम्हारी जाँच में यही निकलता है तो यह लिखो, पहना दो हाथों में हथकड़ी ।'

इसी प्रकार झुनिया का मामला लेकर गाँव के पंच जब होरी को दण्ड देते हैं तो वह कहती है—

'मुझसे इतना बड़ा जरीवाना इसलिए लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्यों अपने घर में रखा ? क्यों उसको निकालकर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया ? यही न्याय है, एँ ?—"

वह पंच परमेश्वर की भी परवाह नहीं करती; उनके अमानवीय न्याय को धिक्कारती है। धनिया जैसे नारी-चरित्र भी दूसरे हिन्दी उपन्यासों में मुश्किल

से ही मिलेंगे ।

गोबर इन दोनों का बेटा है । वह नई पीढ़ी के असन्तोष का प्रतीक है । वह जमींदार और महाजन जैसी गाँव की जोंकों को मिटाने की बात सोचता है । उसका यह असन्तोष और आन्तरिक विद्रोह उसे गाँव से शहर की ओर खींच ले जाता है । वहाँ वह मजदूरी करके, खोंचा लगाकर जो रुपया पैदा करता है, वह सूद पर उठाने लगता है । कुछ रुपया पैदा करके वह पहली बार जब गाँव लौटता है तो भी उसमें गाँव के महाजनों और जमींदार के विरुद्ध एक बगावत की भावना काम करती है । वह होली के अवसर पर नौजवानों की टोली बनाकर स्वाँग करता है और उसमें गाँव के महाजनों का मजाक उड़ाया जाता है । किन्तु होरी के सन्तोषी स्वभाव से चिढ़कर वह शहर चला जाता है । गाँव के विद्रोह की भावना लेकर शहर में आने पर उसके जिस चारित्रिक विकास की प्रारम्भ में अपेक्षा की जाती है वह पूरी नहीं होती । प्रेमचन्द गोर्की के 'मदर' उपन्यास के मजदूर बेटे की तरह 'गोदान' में गोबर के चरित्र का क्रान्तिकारी विकास कर सकते थे । किन्तु गोबर की सामाजिक चेतना महाजनी सभ्यता का शिकार बन जाती है और उसका क्रान्तिकारी विकास रुक जाता है । संभवतः प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता की विकृति का चित्रण करने में ही गोबर के चरित्र की यथार्थता समझी हो, क्योंकि 'गोदान' किसान के आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्र है, जो मिटती हुई जमींदारी सभ्यता के स्थान पर अपने पैर जमाने वाली महाजनी सभ्यता के छोटे-बड़े प्रतीकों द्वारा खींचा गया है । 'गोदान' में ह्रासोन्मुखी जमींदारी सभ्यता के प्रतीक हैं रायसाहब, जो स्वयं बड़े महाजनों के कर्जदार हैं । किसान यदि गाँव के छोटे महाजनों का शिकार है, तो जमींदार बैंकों और बड़े महाजनों का, इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध शब्दों में, वह भी साधारण आदमी की तरह करता है । रायसाहब, मेहता से कहते हैं— 'किसी को भी दूसरों के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है । उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है । समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती ।...हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा, न पुरुषार्थ ही रह गया ।'

इस कथन से स्पष्ट है कि जब जमींदार कर्ज के बोझ से दबता है तो वह

भी पूँजीवाद को कोसता है और दूसरी ओर गाँवों में किसानों का स्वयं उपजीवी बनकर रहता है। वह किसान के सामने अपने को उसके समान ही दुखी और परेशान बताता है ताकि किसान अपने प्रति किये गये अत्याचार को जमींदार की मजबूरी समझकर उसके प्रति सहानुभूति रखे। राय साहब होरी से कहते हैं—'दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, कर्ज, वेश्याएँ क्या नहीं हैं; लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ हो आदमी नहीं है।...जो भोग-विलास के नशे में, अपने को भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कहता।...लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।'

एक ओर तो यह वर्ग अपने मरणोन्मुख जीवन को देखकर दुखी है और दूसरी ओर इस स्थिति में भी वह अपने शोषणकारी चक्र की गति को नहीं रोकना चाहता है। राय साहब होरी के सामने यह कह ही रहे थे कि उन्हें पता चलता है कि बेगारों ने काम करने से इन्कार कर दिया है। यह सुनते ही राय साहब के माथे पर बल पड़ गये। आँखें निकाल कर बोले—'चलो मैं इन दुष्टों को ठीक करता हूँ।' कथन और कृत्य में कितना अन्तर है; मिटता हुआ वर्ग भी अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए क्या नहीं करता? प्रेमचन्द ने इस प्रकार मिटने वाले जमींदार वर्ग का कितना यथार्थ चित्रण किया है!

प्रेमचन्द ने जमींदारों के अत्याचारों का चित्रण अपने पिछले उपन्यासों और कहानियों में काफी किया है। 'प्रेमाश्रम' में इसी वर्ग के शोषणकारी चक्र की तस्वीर खींची गयी है, किन्तु 'गोदान' में गाँव से लेकर शहर तक फैले हुए छोटे-बड़े पूँजीपतियों और उनके एजेण्टों का यथार्थ चित्रण है। भारतीय जीवन में पूँजीवाद के प्रवेश को उन्होंने महाजनी सभ्यता की संज्ञा दी थी। प्रेमचन्द की धारणा थी 'इस सभ्यता ने समाज को दो अंगों में बाँट दिया है, जिनमें एक हड़पने वाला है, दूसरा हड़पा जाने वाला। इस महाजनी सभ्यता का अन्त हुआ है केवल रूस देश में और जो समाज-व्यवस्था उस देश के लिए हितकर हुई है, वह हिन्दुस्तान के लिए भी हो सकती है।' फिर भी प्रेमचन्द ने इस व्यवस्था का नारेबाजी के साथ कभी प्रचार नहीं किया, यद्यपि वह साहित्य को

'प्रोपगण्डा' मानने से हिचकते नहीं थे। वर्ग-भेद, मिटते-बनते नये-पुराने वर्गों के रूप, शोषण के अनेक धार्मिक, जातीय और सामाजिक प्रकार—सब बातें उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति बनकर साहित्य में अभिव्यक्त हुई थीं; वह जनता के लिए जनता से सीखकर जनता के साहित्य की सृष्टि करते थे।

गाँवों में फैले हुए 'महाजनी सभ्यता' के विभिन्न रूपों के चित्र भी जन-जीवन की व्यापक अनुभूति के फल हैं। होरी कहता है—'जमींदार तो एक ही है; मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग, मंगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग।' झींगुरीसिंह शहर के बड़े महाजन का गाँव में छोटा एजेण्ट है। होरी इन महाजनों के कर्ज से जीवन-भर नहीं उबर पाता है। मूलधन का सूद-व्याज द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ता जाता है और इस चक्की में पिसते-पिसते आखिर उसका अन्त हो जाता है। धनिया सुतली बेचकर जो बीस आने पैसे लायी थी वे भी होरी के मरते समय उसने गोदान में दे दिये। दातादीन से वह कहती है—'महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।' यहीं उपन्यास भी करुण वातावरण में समाप्त हो जाता है। गोदान के बीस आने भी महाजन ब्राह्मण को ही मिलते हैं। जीवन-भर जो महाजन खून चूसता रहा, वही अन्त समय में भी पुरोहित बनकर दक्षिणा वसूल करता है। किसान के जीवन-रक्त को चूसने वाली इन सामाजिक जोकों का अभिशाप मानों किसान की अन्तर्व्यथा की करुण-चीत्कार बनकर इस उपन्यास में फूट पड़ा है।

'गोदान' की आधिकारिक कहानी के साथ-साथ एक प्रासंगिक कहानी भी चलती है। वह है देहात के साथ शहर की कहानी। मालती और मेहता की कहानी। यह प्रासंगिक-कथा मुख्य-कथा से अलग दिखायी पड़ती है; और लगता है कि यदि होरी के ग्राम-जीवन की कथा वस्तु तक ही सीमित होता तो यह उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अपने में पूर्ण हो सकता था। किन्तु प्रेमचन्द के 'गोदान' के पहले के उपन्यासों में भी कथा-वस्तु का क्रम इसी प्रकार है। प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में दो कथाएँ एक साथ चलती हैं। केवल शिल्पद्रष्टा आलोचक भले ही इसे कथा का सुगठन न मानें किन्तु इस प्रकार की कथाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं और दोनों ही मिलकर उपन्यास के व्यापक चित्र को पूर्ण बनाती हैं। वर्गभेद और वर्ग-विरोध एवं शोषण के रूप ही दो कथाओं का रूप

धारण कर लेते हैं। एक ओर किसान है, दूसरी ओर जमींदार, दोनों वर्गों के दो क्षेत्र हैं और दोनों के सम्बन्ध भी। जब तक चित्र के दोनों पहलू सामने न रखे जायँ जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति उसकी वास्तविकता और यथार्थ समस्याओं को उभारकर सामने नहीं रख सकती। 'गोदान' में भी प्रेमचन्द ने इसी वर्ग-विरोध के विविध सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए दो कथाओं को एक में गूँथने का प्रयत्न किया है। गूँथने में या कथा-सन्धि में भले ही विशेष शिल्प-चातुर्य न हो, किन्तु दोनों कथाओं के पात्र एक-दूसरे की पृष्ठभूमि में कन्ट्रास्ट के साथ उभरकर सामने आते हैं।

प्रेमचन्द चमत्कारवादी नहीं थे कि उपन्यास के शिल्प-कौशल के चक्कर में जीवन-वस्तु की यथार्थता की विराट अनुभूति को ही कुण्ठित करके नये-नये प्रयोग करते। उनका शिल्प वस्तु को वहन करने वाला साधन था, साध्य नहीं। इसलिए उनकी रचनाओं में कलात्मक चमत्कार खोजने वाले को निराशा होगी। प्रेमचन्द ने एक पत्र में लिखा भी था—

'कथा को बीच में शुरू करना, या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।'

वह जीवन के इतने समीप थे कि अपनी कला और जीवन में उन्होंने तादात्म्य स्थापित कर लिया था। इसीलिए उनका कहानी कहने का ढंग बड़ा स्वाभाविक था। उनका शिल्प सरल और सुबोध शिल्प है। 'गोदान' में ही चरित्र शब्दचित्रों, वार्तालापों द्वारा स्वाभाविक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उभरते हैं। वार्तालाप में वह ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिनमें लगता है कि यह जीवन की वाणी है। 'गोदान' का गद्य प्रेमचन्द की हिन्दी को अभूतपूर्व और ऐतिहासिक देन है। देहात के वातावरण का चित्रण करने में उनके शब्द ही सजीव हो उठते हैं। 'गोदान' में अवध के गाँव और ताल्लुकेदार और किसानों का चित्रण है इसलिए भाषा में मुहावरों के सहज-प्रयोग और खानगी के अतिरिक्त अवधी का पुट वातावरण को सजीव बना देता है। जन-जीवन से सम्पर्क रखने वाली ऐसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग हिन्दी के दूसरे उपन्यासकारों ने नहीं किया, उनकी भाषाओं में गद्य-कौशल और कृत्रिमता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रेमचन्द के गद्य के विषय में लिखा है—

'शैलीकार की दृष्टि से प्रेमचन्दजी का स्थान हिन्दी-साहित्य में असाधारण

है। सरल, सुबोध, मुहावरेदार, सजीव गद्य-शैली का अभ्यास उर्दू लेखक के रूप में वह पहले ही कर चुके थे। अपने इस अभ्यास को वह अपने साथ ही हिन्दी के क्षेत्र में लेते आये। हिन्दी-शैली की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह प्रायः नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफी मँज नहीं पायी है। मुहावरों से तो लोगों को जैसे चिढ़-सी है। बोलचाल की भाषा को भी यथासम्भव बचाने का उद्योग किया जाता है।........इन बाधाओं के रहने पर भी प्रेमचन्दजी ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उसपर चलने के लिए आमन्त्रित किया।'

विद्वान् मौलाना शिबली की राय में भी प्रेमचन्द के मुकाबले का सुन्दर और सँवरा हुआ गद्य लिखने वाला सात करोड़ मुसलमानों में भी दूसरा नहीं था। 'गोदान' की भाषा उनकी रचनाओं में सबसे अलग विशेषता रखती है और वह यह कि उपन्यास में जिस सामाजिक जीवन के महासागर को तरंगायित दिखाया गया है, गर्जन और स्वर भी उसी जीवन का है, उधार लिया हुआ नहीं।

'गोदान' प्रेमचन्द की एक कृति होते हुए भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के हिन्दी साहित्य के विकास का अग्रदूत है।

'गोदान' हिन्दी पाठक को तिलस्म के मायाजाल से निकालकर सामाजिक रस के स्तर तक खींचकर लाने की प्रेमचन्द की कला-साधना का ऐतिहासिक प्रतीक है।

'गोदान' साहित्य को मनोरंजकता के रङ्गमहल से निकालकर जनता के जीवन के बीच में प्रतिष्ठित करने की कहानी है।

'गोदान' भारतीय संस्कृति और लोक-परम्परा को साथ लेकर चलने वाले भारतीय कृषक वर्ग के संघर्षरत जीवन की तपस्या का यथार्थ चित्र है और संस्कृति विरोधी शोषक वर्गों की महाजनी सभ्यता के काले कारनामों का इतिहास।

हमारे जीवन-संघर्ष की अपूर्णता ही 'गोदान' की अपूर्णता है और हमारे वर्ग-जीवन की पूर्णता ही 'गोदान' की पूर्णता है।

'गोदान' में अपने युग का प्रतिबिम्ब भी है और आने वाले युग की प्रसव व्यथा भी।

'गोदान' उपन्यास की शैली में भारतीय जीवन का महाकाव्य है।

प्रेमचन्द की कृति

[बाबूराव विष्णु पराड़कर]

हिंदी-साहित्य में प्रेमचन्दजी का स्थान निर्द्धारित करना भावी पीढ़ियों का काम है। आज हम उनके इतने निकट हैं कि उन्हें अच्छी तरह देख नहीं सकते। उनके व्यक्तित्व की छाप हमारे हृदय पर ऐसी लगी है कि केवल साहित्य की दृष्टि से उन्हें देखना सम्भव नहीं हो रहा है। वह व्यक्तित्व सहसा हमारे सामने से गायब हो गया है और हम उसकी स्मृति से प्रभावित हो रहे हैं। यह अवस्था साहित्यिक पर्यालोचन के लिए अनुकूल नहीं। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व से सर्वथा अपरिचित साहित्यिक ही हिंदी वाङ्मय में उनका स्थान निर्धारित कर सकेंगे। आज हमारी प्रवृत्ति आलोचना की नहीं; बल्कि गुण-ग्रहण की है। उनके स्वर्गारोहण के बाद आज हम उनके गुण-ही-गुण देख रहे हैं, और पाश्चात्ताप करते हैं, कि उनके जीवनकाल में हम उनका महत्व न समझ सके और न कदर कर सके। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है; पर साहित्यिक गुण-दोष विवेचन में बाधक है। यही कारण है कि हिन्दी में प्रेमचन्द का स्थान निर्द्धारित करने में प्रेमचन्द के समकालीन साहित्यिक समर्थ नहीं हो सकते। एक कारण और भी है। जो प्रवाह में बहता जाता है, वह उसकी गति का निरीक्षक नहीं हो सकता; यह तो तटस्थ ही कर सकता है। यद्यपि साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान हम निर्द्धारित नहीं कर सकते; पर रग-रग में अनुभव करते हैं कि उनके प्रवाह में हम बहे चले जा रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्यिक हिंदी का नामकरण किया और प्रेमचन्द ने उसको मूर्त्त किया—रूप प्रदान किया। इन दो महानुभावों की प्रतिभा से हिंदी को नाम और रूप प्राप्त हो गया है। हरिश्चन्द्र के प्रयत्न से हिंदी वह हिंदी हुई, जिसे आज हम हिंदी समझते हैं और आदर करते हैं। पर हरिश्चन्द्र उसे वह रूप न दे सके जिसे हिंदी की समकालीन भाषाओं के अभिमानी भी देख सकते। यह काम प्रेमचन्द ने किया। यह स्थायी है अथवा अस्थायी, दिन-प्रति-दिन अधिकतर स्पष्ट होने

वाला है अथवा किसी अन्य लेखनी से अन्य रूप को जन्म देकर स्वयं अस्पष्ट हो जाने वाला है, इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने हिंदी का नामकरण किया, उत्तर भारत के हिंदू में उसके प्रति अभिमान उत्पन्न किया; पर उनके बाद उनका पदानुसरण करनेवालों को भाषा का आदर्श अन्यत्र ढूँढ़ना पड़ता था। हरिश्चन्द्र के समकालीन और परवर्ती लेखक ब्रज-साहित्य और रामचरितमानस से प्रभावित थे, कुछ पर संस्कृत साहित्य का भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। स्वर्गीय गुरुवर्य पंडित गोविंदनारायण मिश्र की रचनाओं में बाणभट्ट की शैली प्रतिबिंबित हो रही है, वही ओज, वही ध्वनि, वही रचना-कौशल। कादम्बरी के ढंग पर आप हिंदी में भी एक प्रबन्ध की रचना कर रहे थे। कुछ अंश लिखा भी जा चुका था, पर उपन्यास पूरा न हो सका। पूरा इसलिए न हो सका कि गोविंदनारायणजी जीवन के अन्य झगड़ों में व्यस्त रहा करते थे और उनके साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। राजा लक्ष्मणसिंह, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित अम्बिकादत्त व्यास आदि हरिश्चन्द्र के बाद के, पर हमारे लिए अब प्राचीन, साथी साहित्यिकों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है। उनका जीवन कुछ और, साहित्य कुछ और था। प्राचीन पद्धतियों का अनुसरण और प्राचीन समयों का रक्षण, यही उनके लिए साहित्य था। अतः हिंदी के साधारण लेखकों को जीवन-साहित्य का आदर्श पड़ोसी बँगला साहित्य में ढूँढ़ना पड़ता था, जो दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति करता जा रहा था। जीवन के प्रश्नों का, सामाजिक समस्याओं का, राजनीतिक कठिनाइयों का हल उस समय के लेखक बँगला साहित्य में ढूँढ़ा करते थे। विशेषकर हिन्दी के समाचार-पत्र तो अधिकतर बँगला समाचार-पत्रों की ही नकल हुआ करते थे—अधिकांश में केवल अनुवाद। परिणाम यह हुआ कि हरिश्चन्द्र के बाद की हिंदी बँगला हिंदी हो गई। उसे पुनश्च हिंदी बनाने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है।

प्रेमचन्द की हिन्दी हिंद की अपनी चीज है। उस पर उर्दू की छाया जरूर पड़ी है, पर उर्दू भी तो हिंद की ही भाषा है; किसी अन्य देश से यहाँ नहीं आयी है। उर्दू लेखकों में अच्छा स्थान प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमचन्द का हिंदी को अपने विचार प्रकट करने का माध्यम बनाना उस सत्साहस का

काम था, जिसका उनके जीवन में पद-पद पर परिचय मिलता है। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हिन्दी भाषा अप्रौढ़ और शिथिल अवश्य थी, पर शीघ्र ही उसमें वह तेजस्विता और सरलता, वह भाव-व्यंजकता और माधुरी आ गई, जो हिन्दी-साहित्य में एक नयी बात थी। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द प्रकृति के पुत्र थे, उनकी प्रतिभा नैसर्गिक थी, साहित्य का आदर्श उन्हें निर्माण करना था, न कि अन्य आदर्श को सम्मुख रखकर उसका अनुकरण करना। प्रेमचन्द के पात्र अपने थे, भाषा अपनी थी, कल्पना अपनी थी। विचार और सहानुभूति संसार के उन्नतिशील साहित्य के अध्ययन का फल था। यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ लिखा, मौलिक लिखा और उसकी प्रेरणा उन्हें समाज से हुई—विशेषकर ग्रामीण समाज से। इस सम्बन्ध में हम प्रेमचन्द की तुलना इंग्लैंड के चार्ल्स डिकेंस से कर सकते हैं। डिकेंस और प्रेमचन्द दोनों ही जनता के आदमी थे। समाज के निम्न स्तर की भीषणता में रह चुके थे, उससे परिचित हो चुके थे, उसके साथ उनकी सहानुभूति थी, उसी से उन्होंने अपने पात्र लिये और उसी के सुधारने का यत्न किया। दोनों ही संकुचित अर्थ में 'अशिक्षित' थे अर्थात् प्राचीन साहित्य की और उसके नियमों की शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। दोनों की प्रतिभा स्वाभाविक थी, दोनों ही जनता के आदमी थे। मध्यम और उच्च वर्ग के पात्र का चित्रण न डिकेंस कर सके और न प्रेमचन्द ही कर सके। यत्न दोनों ने ही किये हैं पर विफल। गरीब पात्र दोनों के सजीव हैं; वे आपसे बोलते हैं, आपके साथ हँसते और आपके साथ रोते हैं। ओलिवर ट्विस्ट से विदा लेते समय जो एक मधुर वेदना होती है, होरी से विदा लेते वक्त हमें उसी का अनुभव हुआ। डिकेंस और प्रेमचन्द का साम्य यहीं समाप्त हो जाता है। इसके बाद दोनों के मार्ग दो भिन्न दिशाओं को जाते हैं। एक आशावादी है; दूसरा दुःख में है, दुःख देखता है और उसे दूर करने का उपाय ढूँढ़ता है, कहीं कुछ बता भी जाता है, कहीं केवल समस्या उपस्थित करके अपनी कहानी के धागे आप ही तोड़कर मानो अपनी जान छुड़ा लेता है।

यह प्रेमचन्द का दोष नहीं बल्कि गुण है। समय का प्रतिबिम्ब उनके हृदय पर स्पष्ट हो रहा है। मूक जनता की आह वह सुनते हैं और सुना जाते हैं, पर इसकी दवा नहीं बताते—शायद नहीं जानते। कौन जानता है? सब

अपनी-अपनी कह रहे हैं पर भविष्य के परदे के उस पार क्या है, यह बतानेवाला ऋषि कौन है ? एक महात्मा गांधी दिखायी देते थे और स्वभावतः प्रेमचन्द उनकी ओर आकृष्ट हो गये। गरीबों के प्रति सहानुभूति और भारतीय संस्कृति का अभिमान, ये दो विशेषताएँ प्रेमचन्द में बहुत अधिक मात्रा में मिलती हैं, और वह भी समय का प्रभाव है। प्रेमचन्द समय से प्रभावित हुए हैं। साहित्यकार की यह विशेषता है। समय को प्रभावित करनेवाला ऋषि अवतार या पैगम्बर कहलाता है। प्रेमचन्द के लिए इसका दावा उनका अन्धभक्त भी नहीं कर सकता। प्रेमचन्द साहित्यिक थे और ऊँचे दर्जे के साहित्यिक थे। (जीवन से उन्होंने मसाला लिया और वे मूर्तियाँ तैयार करके हमारे सामने रख दीं, जो जीवन के अंगों की प्रतीक हैं। उन मूर्तियों में हम समाज को देखते हैं, उसकी आकांक्षाओं की कल्पना करते हैं, उसके दोषों पर हँसते हैं; उसकी त्रुटियों की ओर भी लाचार खिंच जाते हैं। यही प्रेमचन्द की कला है। वह हमें अपनी बुराइयों को दिखाती है, पर चिढ़ाती नहीं। हँसा-खिलाकर और रुलाकर भी आत्म-सुधार की आवश्यकता बताती है। गरीबों के मित्र प्रेमचन्द ने धनी निकम्मों की निन्दा की है, पर ऐसे शब्दों में और इस ढंग से कि उसे पढ़कर धनी भी क्रुद्ध नहीं हो सकता, लज्जित होता है।) इसका एक कारण है। प्रेमचन्द के पात्र व्यक्ति नहीं होते, वे वर्गों के प्रतीक होते हैं। कोई व्यक्ति हो तो उससे प्रेम भी किया जा सकता है, ईर्ष्या भी की जा सकती है, घृणा और क्रोध भी। पर वर्ग के प्रतीक के सामने ये भावनाएँ कुंठित हो जाती हैं। हम उसे पड़ोसी में देखते हैं, अपने चारों ओर देखते हैं, पर अपने आपमें नहीं देखते। अतः वह हमारा आदर पाता है, हमें अचम्भे में डालता है, रुलाता है, हँसाता है। बुरा होने पर भी हम उसे छोड़ना नहीं चाहते। इसका कारण यही है कि प्रेमचन्द के पात्र में व्यक्ति नहीं, वर्ग के दोष-गुण पाये जाते हैं, अतएव हमारा व्यक्तित्व उनसे अपने आपको अलग समझता है। उन पात्रों से हमारी सहानुभूति होती है, समवेदना होती है, पर एकत्व की प्रतीति नहीं होती। उनके दोष हम समाज में देखते हैं, पर स्वयम् उनसे उसी प्रकार अलिप्त रह जाते हैं जैसे समाज का होकर भी एक सुधारक अपने आपको उससे अलग समझकर उसका टीकाकार—आलोचक बन जाता है। अनेक आलोचकों का यह अभियोग है

कि प्रेमचन्द के पात्रों का व्यक्तित्व अच्छी तरह परिस्फुट नहीं होता, वह अध-खिला फूल-सा रह जाता है। इसका उत्तर यही है कि उनके पात्र व्यक्ति होते ही नहीं, वर्ग के प्रतीक होते हैं। वर्ग के दोष-गुण उनमें भली-भाँति दिखायी देते हैं और किसी भी प्रसंग पर वे वर्ग-मनोवृत्ति से ही काम करते हैं। उनमें विशेष व्यक्तित्व को ढूँढ़ना व्यर्थ है। प्रेमचन्द की विशेषता का कारण यह है कि वे पहले सुधारक और बाद में कलाकार हैं। प्रेमचन्द ने कला के लिए पात्र-सृजन नहीं किया है; कला की खूँटी पर अपने सुधारक विचारों को टाँग दिया है। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में इसका अच्छा परिचय मिलता है। 'गोदान' प्रेमचन्द का अन्तिम गोदान है—उनके अपने व्यक्तित्व का, अभिलाषाओं और विचारों का आदर्श है।

'गोदान' का होरी गरीब स्थिति के किसान का प्रतीक है; उसका व्यक्तित्व उस वर्ग का व्यक्तित्व है। वह परिश्रमी है, कुटुम्ब-वत्सल है और धर्मभीरु भी है। लाठी लेकर बाघ का सामना कर सकता है, पर लाल पगड़ी देखते ही उसका सारा पुरुषत्व हवा हो जाता है। पराधीनता में अच्छे-अच्छे पुरुषों की जो स्थिति होती है, वही होरी की भी है। वह धर्मभीरु है, सामाजिक दृष्टि से, पर नर को नारायण बनानेवाला धर्म उसमें नहीं। अपने सगे भाई के हिस्से के दो-चार रुपए दबा जाने के लिए वह तीसरे को अधिक लाभ दे सकता है पर उसी भाई के घर की तलाशी पुलिस ले यह बात उसे असह्य हो जाती है; क्योंकि इसमें कुल का अपमान है। इस अपमान से, इस कलंक से कुल को बचाने के लिए वह स्वयम् महाजन से कर्ज ले सकता है। वही भाई जब उसकी गाय की हत्या करके भाग जाता है तो वह अपनी खेती की उपेक्षा करके उसकी खेती कर देता है, जिसमें लोग यह न कहें कि अनाथा भावज की सहायता उसने नहीं की। एक ओर भाई और भावज के लिए इतना त्याग और दूसरी ओर उसी भाई को दो-चार रुपए के लिए ठगने की तैयारी! आजकल के समाज का कैसा यथार्थ चित्र है! यह चित्र ही होरी है। होरी वर्ग है, व्यक्ति नहीं। आज भारतीय समाज में झूठ बोलना, फरेब करना, ठगना बुरा नहीं समझा जाता। होरी भी नहीं समझता। भाई-भाई में भयंकर झगड़ा हो, कोई चिन्ता नहीं। भाई का खून भी भाई कर सकता है। उसकी सम्पत्ति भी हजम कर सकता है; पर जब तक

वह बालक है, तब तक उसका पालन करना ही होगा, नहीं तो समाज निन्दा करेगा। सामाजिक व्यवहार धूम-धाम से होना ही चाहिए; इसी में कुल की मर्यादा है। व्यक्तिगत आचरण कैसा ही घृणित क्यों न हो, बुरा या पाप नहीं समझा जाता। पैतृक परिवार की कल्पना अब भी काम कर रही है। व्यक्तिगत सद्गुणों का लोप हो गया है। सामाजिक सदाचार विकृत रूप में जीवित है, व्यक्तिगत सदाचार का बिल्कुल लोप हो गया है। होरी में इसका चित्र खीचा गया है। शायद प्रेमचन्द का यह उद्देश्य न हो, पर वह तो वर्ग को ही देखते थे और समझते थे। होरी ऐसा ही एक पात्र है। उसमें और भी विशेषताएँ हैं, पर वे भी उसका व्यक्तित्व परिस्फुट नहीं करतीं। होरी व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित नहीं होता, वह वर्ग उपस्थित होता, है जिसके होरी, हीरा और भोला प्रतीक हैं। होरी का लड़का गोबर, शुरू-शुरू में एक व्यक्ति-सा मालूम होता है सही, पर अन्त में वह भी वर्ग में लुप्त हो जाता है। पाठक उसमें गरीब और अजान, शोषित और अभिमानी वर्ग को देखते हैं और उसके लिए समवेदना का अनुभव भी करते हैं।

जिस विकृत धर्म का ऊपर उल्लेख किया गया है उसका एक जगह 'गोदान' में प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में परिचय दिया है। मातादीन ब्राह्मण-पुत्र है। उसकी आशनाई एक चमारिन से हो गयी है। यह बात सारा गाँव जानता है, पर मातादीन के पास पैसा है, वह सबेरे स्नान-संध्या और पूजा करता है, और चमारिन को अपने घर में नहीं, अन्यत्र रखता है। उसके हाथ का खाता भी नहीं। अतः वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। क्यों ?—सुनिए प्रेमचन्दजी के ही शब्दों में—'हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।' स्थिति का कैसा सच्चा वर्णन है। पर इसमें एक त्रुटि है। रोटियों की इस ढाल की आवश्यकता भी ग्रामों में ही होती है। शहरों में इसकी भी जरूरत नहीं। सब अपराध माफ हैं बशर्ते कि आप ब्याह-शादी में समाज की रीतियों का पालन करते रहें और सुधारकों को गालियाँ दें। चमारिन से आशनाई कीजिए या घर की ही किसी विधवा का सर्वनाश करके उसे घर से निकाल दीजिए, आप धर्मात्मा ही

समझे जायँगे। ऐसे धर्म के मूल में कुठाराघात करके सदाचारमूलक धर्म की पुनः स्थापना करना प्रेमचन्द-साहित्य का लक्ष्य है। अपना यह अभिप्राय वह कहीं स्पष्ट शब्दों में पर सर्वत्र व्यंजना से या ध्वनि से व्यक्त करते पाये जाते हैं। प्रेमचन्द सुधारक अवश्य हैं, पर उसके साथ-साथ भारतीय संस्कृति के पूर्ण भक्त भी हैं। उनके सुधार का अर्थ पश्चिम का अन्ध अनुकरण नहीं है। 'गोदान' उनकी अन्तिम कृति है। यह उपन्यास लिखते समय आप पाश्चात्य साम्यवाद का भी अध्ययन कर चुके हैं, जिसकी झलक इस ग्रंथ में सर्वत्र दिखायी देती है। फिर भी आप उसका अनुकरण नहीं कर रहे हैं। । कहीं अपने पात्रों के मुँह से उस पर टीका भी कराते हैं। यही बात स्त्री-शिक्षा और पारिवारिक—वैवाहिक—जीवन के सम्बन्ध में भी है। सर्वत्र उनका आदर्श भारतीय संस्कृति है, पश्चिम का अनुकरण नहीं। स्त्रियों के पुरुषों के समान अधिकार पाने के दावे का उत्तर प्रेमचन्द ने दर्शनाचार्य मि० मेहता के मुँह से दिलाया है। स्त्रियों के साथ पुरुषों ने अन्याय किया है, इस बात को स्वीकार करके वे कहते हैं—'अन्याय को मिटाइए, पर अपने को मिटाकर नहीं।' और भी—'संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको (स्त्रियों को) मिले हुए हैं।......मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गयी हैं। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक-से-अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के आदर्श से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीजें अच्छी हैं वे लीजिए। संस्कृति में सदैव आदान-प्रदान होता आया है, लेकिन अन्धी नकल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृह-स्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृङ्खल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं वहाँ की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बाहों का या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूँ तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है

कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है?'

'गोदान' में प्रेमचन्द के विचार परिपक्व हुए दिखायी देते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। वह कोण प्रेम का नहीं, सेवा और त्याग का है। महात्मा गांधी का प्रभाव स्पष्ट दिखायी दे रहा है। साम्यवाद का औचित्य स्वीकार करते हुए भी प्रेमचन्द सर्वत्र सेवा और त्याग पर जोर देते दिखायी दे रहे हैं। इसे आप भारतीय संस्कृति समझते हैं। चित्त की उच्च-नीच वृत्तियों को बे-नकेल छोड़ देना और उन्हें समाज में स्वच्छन्द विचरण करने देना आप नारीत्व और पुरुषत्व के पूर्ण विकास में बाधक समझ रहे हैं। 'युवतियाँ अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहतीं। वे केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।'—इस पूर्वपक्ष का खण्डन आप मि० मेहता से इस प्रकार कराते हैं—'जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप, उसी तरह जैसे सन्यास केवल भीख माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है, तो मुक्त विलास में बिल्कुल नहीं है। सच्चा आनन्द सच्ची शान्ति केवल सेवाव्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह सीमेण्ट है जो दम्पति को जीवनपर्यंत स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है। आपके (स्त्रियों के) ऊपर पुरुष-जीवन की नौका का कर्णधार होने के कारण जिम्मेदारी ज्यादा है। आप चाहें तो नौका को आँधी और तूफान में भी पार लगा सकती हैं, और आपने असावधानी की तो नौका डूब जायगी, और उसके साथ आप भी डूब जायँगी।' यही मेहता एक जगह और कहते हैं— 'मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है; सरल, स्वच्छन्द, जहाँ कुत्सा ईर्ष्या और जलन के

लिए स्थान नहीं। मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। वर्तमान ही मेरे लिए सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है; भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है! हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े रहे।...
......जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगनी चाहिए थी, सहयोग में, भाईचारे में, वह पुरानी अदावत का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है। और, जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इसपर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है, और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है—ओंठों पर मुस्कुराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ—अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं है, कोल्हू है।'

यह जीवन की फ़िलासफी है, जिसे प्रेमचन्द ने पाठकों के सामने रखा है। प्राच्य त्याग और पाश्चात्य भोग, प्राच्य संयम और पाश्चात्य अनियम, ईश्वर पर अंधविश्वास और मानवत्व में ईश्वरत्व को प्राप्त करने की लालसा, त्यागमय पारिवारिक जीवन और बाप-दादों के ऋण को अस्वीकार करने की कामना इन विचारों का सम्मिश्रण 'गोदान' में जगह-जगह दिखायी देता है। प्राच्य-पाश्चात्य संघर्ष से जीवन का एक शास्त्र 'गोदान' में क्रमशः विकसित हो रहा है, पर दुर्भाग्यवश, पूर्ण विकास नहीं होने पाता और प्रेमचन्दजी हमें छोड़कर सहसा अन्तर्धान हो जाते हैं। इस समय हिन्दी-साहित्य की नौका कर्णधार-हीन प्रवाह में बहती चली जा रही है। भगवान् जाने उसे फिर दूसरा कर्णधार कब मिलेगा। फिर भी हमारा साहित्य प्रेमचन्द का सदैव कृतज्ञ रहेगा। हरिश्चन्द्र के बाद वह अंधकार में टटोल रहा था, अपने पड़ोसियों से अपना खाद्य लेकर उदर-पूर्ति कर रहा था। रसना विकृत हो रही थी। प्रेमचन्द ने उसे अपना घर दिखाया—जीवन से उसका सम्बन्ध कर दिया। हमारी भाषा को स्वाभाविकता प्राप्त करा दी। वह अपने बच्चों के मुँह से निकलने लगी।

हिन्दी हिन्द की हुई। यह प्रेमचन्द की हिन्दी को देन है। उसका भावी विकास भावी लेखकों पर निर्भर है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया। उसके निर्मल जीवन में जन वर्ग के प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगे हैं। प्रेमचन्द के पात्र जन-वर्ग के प्रतिबिम्ब हैं, प्रेमचन्द के विचार वर्गों को उठाने और मिलाने के भगीरथ प्रयत्न के द्योतक हैं। स्वयं प्रेमचन्द जनता के प्रतीक हैं। उनकी स्थूल देह अदृश्य हो गयी है, पर उनका उज्ज्वल प्रतीक तब तक रहेगा; जब तक हिन्दी रहेगी और उसके बोलनेवाले रहेंगे।

प्रेमचन्द की कहानियाँ

[डा० रामरतन भटनागर]

हिन्दी के आदर्शवादी कहानी-लेखकों में प्रेमचन्द का स्थान सबसे ऊँचा है। परन्तु उन्हें केवल आदर्शवादी ही कहकर हम उनकी पूरी समालोचना नहीं कर सकते। सच तो यह है कि प्रेमचन्द का दृष्टिकोण अवश्य आदर्शवादी था परन्तु वह अपने कहानी के नियम और उसके लगभग सभी अंगों को यथार्थ जीवन से लेते थे। उन्होंने अपनी कहानियों में एक प्रकार से आदर्शवाद और यथार्थ का सुन्दर गठबन्धन किया है और एक प्रकार से इन दो विषम दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। जिस नयी भूमि पर वे काम करते थे, उससे वे भली-भाँति परिचित थे। इसी से उन्होंने अपने दृष्टिकोण का नाम 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' रखा था। वास्तव में यह नाम उनके दृष्टिकोण के लिए बहुत उपयुक्त था। इससे हमें एकदम प्रेमचन्द की उस विशेषता का पता चल जाता है जो कहीं-कहीं उनकी रचनाओं को बल देती है, और कहीं-कहीं उन्हें निर्बल बना देती है।

प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य को ढाई-तीन सौ कहानियाँ दी हैं। इन कहानियों में उन्होंने जीवन की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है और समाज, राष्ट्र और व्यक्ति के अनेक अंगों का स्पर्श किया है। यदि हम उनकी कहानियों को कला की दृष्टि से देखें तो भी हम अनेक प्रयोग पायेंगे। उन्होंने पूर्व और पश्चिम की विभिन्न शैलियों को हमारे सामने उपस्थित किया है और अनेक स्थानों पर अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया है। प्रेमचन्द की कहानियों की संख्या इतनी अधिक है, उनकी कहानियों का क्षेत्र इतना विस्तृत है और उनके कला के प्रयोग इतने बहुसंख्यक हैं कि उन पर संक्षेप में विचार करना कठिन हो जाता है। उनके सम्बन्ध में विशेष अध्ययन के अभाव के कारण यहाँ पर हम संक्षेप में ही विचार कर सकेंगे।

सबसे पहली बात जो प्रेमचन्द की थोड़ी ही कहानियों को पढ़ने के बाद

पाठक को स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि वे भारतीय संस्कृति से अच्छी तरह परिचित हैं। वे जानते हैं, हमारी संस्कृति का हृदय कहाँ है और उससे जो जीवन धाराएँ निकलती हैं, वे किस ओर बहती हैं। भारतीय संस्कृति में एक विशेषता यह है कि उसने देह से अधिक आत्मा पर बल दिया है, उसका आधार आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं। प्रेमचन्द इस बात को जानते थे। इसी लिए उनकी रचनाओं में दैवीगुणों की प्रधानता है। वे हमें एक बार भौतिकता से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द का एक सांस्कृतिक संदेश है जो उनकी रचना पर भारतीयता की छाप लगा देता है। पश्चिम ने जहाँ हमारे सामने ज्ञान-विज्ञान के अनेक मार्ग रखे, वहाँ उसने हमारी आत्मा का रस चूस लिया। हम धीरे-धीरे पुराने आदर्शों से हट गये। इस समय हम संक्रातिकाल में हैं। यदि इस युग में हम अपने प्राचीन महत् आदर्शों को अपनी आँख की ओट कर देते हैं और पश्चिम के दिखाये हुए मार्ग पर अंधे की तरह आगे बढ़ते चले जाते हैं तो हमारा भविष्य निश्चय ही काला है। प्रेमचन्द ने इस सत्य को हमारे सामने रखा है और हमें चेतावनी दी है। उन्हें प्रत्येक उस बात से प्रसन्नता होती है जो उन्हें पुराने सांस्कृतिक आदर्शों को स्पष्ट करने का अवसर देती है। उन्होंने भौतिकता को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिकता से हाथ नहीं धो लिया, वरन् इन दोनों सीमाओं के बीच का मार्ग निकालने की चेष्टा की।

प्रेमचन्द की कहानियों के अनेक वर्ग किये जा सकते हैं। इनमें एक वर्ग उनकी सांस्कृतिक कहानियों का भी होगा। इस प्रकार की कहानियों में हम उनकी ऐतिहासिक कहानियों को भी गिन सकते हैं। प्रेमचन्द की प्रतिभा ऐतिहासिक कहानियों में दिलचस्पी नहीं लेती थी, जितना 'प्रसाद' की। 'प्रसाद' जब कोई ऐतिहासिक कहानी लिखते थे तो उस विशेष काल के सम्बन्ध में सूक्ष्म खोज करते थे, जिसका सम्बन्ध उनकी कहानी से होता और उस काल की संस्कृति के बिखरे हुए तत्त्वों को कहानी का रूप देकर हमारे सामने रखते थे। वे न कोई सांस्कृतिक सन्देश देना चाहते थे, और न कोई नैतिक सन्देश। वे उस काल की संस्कृति मात्र का चित्र हमारे सामने रखकर अलग हो जाते थे। उनका ध्यान विशेष वातावरण और विशेष मनोविज्ञान पर अधिक रहता था।

प्रेमचन्द इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे। उन्होंने ऐतिहासिक कहानियाँ इसलिए लिखीं कि वे भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को हमारे सामने उन्हीं के द्वारा रख सकते थे। उन्होंने हमारे इतिहास के ऐसे पृष्ठों को ही चुना जो हमें विशेष सांस्कृतिक शिक्षा दे सकते थे। उनकी अधिकांश कहानियाँ राजपूतों, मराठों और ठाकुरों की कहानियाँ हैं, जो बात पर जान देते थे, देश-प्रेम जिनका ईश्वर सङ्ग था, जो शरणागत की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे, फिर चाहे वह उनका शत्रु ही क्यों न हो। उन वीरों की स्त्रियाँ बलिदान की मूर्तियाँ हुआ करती थीं। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वे जलती हुई आग में कूद पड़ती थीं। रण से भागे हुए पति के लिए उनके द्वार बन्द थे। इस प्रकार की सभी कहानियों में चाहे नायक पराजित ही हो और चाहे कहानी दुखान्त हो, परन्तु भौतिक शक्ति के आगे आध्यात्मिक शक्ति कहीं नहीं झुकती। देह के ऊपर आत्मा, तलवार के ऊपर प्रेम, असत्य के ऊपर सत्य और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता स्थापित करना प्रेमचन्द का ध्येय था। यही भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र भी है।

राजपूत काल के सिवा प्रेमचन्द ने उत्तर मुगल काल और पूर्व अंग्रेज काल पर भी कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में उन्होंने हमारे सांस्कृतिक पतन के चित्र दिये हैं और समाज के अंगों में घर करते हुए घुन का इशारा किया है। उनकी इन कालों की कहानियाँ राजपूत काल की कहानियों के सन्देश को और भी जगमगा देती हैं। जहाँ एक ओर राजपूत योद्धा अपने राजा के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने में भी विलम्ब नहीं लगाते, वहाँ अवध के नवाबी के विलासतापूर्ण दिनों में मिर्जा और सैयद अपने बादशाह को आँखों के सामने बन्दी हुआ देखकर भी उत्तेजित नहीं होते। वैसे वे शतरंज के बादशाह पर जान दे देते हैं (देखो 'शतरंज के खिलाड़ी')।

इन सब कहानियों में हमें प्रेमचन्द की कहानियों की एक विशेषता मिलेगी। इनमें ऊँचे दरजे का प्रेम है। वह पीछे की ओर इसलिए देखते हैं कि वास्तव में भविष्य की समस्या अधिक भिन्न नहीं है। वे देश की प्राचीन महत्ता के चित्र उपस्थित करते हैं और पाठकों को देश के लिए भविष्य में बलिदान होने के लिए तैयार करते हैं। उनके कितने ही प्रधान पात्र देश-प्रेम के उत्कृष्ट

उदाहरण हैं।

परन्तु प्रेमचन्द की तीसरी और कदाचित् सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी कहानियों में बहुत ऊँचे दरजे का स्थानीय रङ्ग देते हैं। जिस स्थान और समाज का वह चित्रण करने लगते हैं वह हमारे सामने जीवित हो जाता है। यही क्षेत्र उनकी मौलिकता का क्षेत्र है। प्रेमचन्द की इस प्रकार की कहानियों के हम दो भाग कर सकते हैं—(१) मध्यवित्त नागरिक के घरेलू जीवन की कहानियाँ, (२) गाँव की कहानियाँ। एक तीसरी प्रकार की कहानियाँ, उनकी वे कहानियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध मजदूरों से है, परन्तु उन्होंने मजदूर-वर्ग का चित्रण कहानी की अपेक्षा उपन्यास में कहीं अच्छा किया है।

प्रेमचन्द से पहले जो कहानियाँ लिखी जाती थीं, उनमें कल्पना का रंग सत्य के रंग से कहीं अधिक गहरा रहता था। वे अधिकतर नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखती थीं परन्तु उनका उद्देश्य समाज-सुधार रहता था। जीवन के भीतर पैठने की कोई चेष्टा नहीं होती थी और न सामाजिक विकारों को मनोविज्ञान का विषय बनाया जाता था। प्रेमचन्द जब क्षेत्र में आये तब उन्होंने पहले पहल ऐसी कहानियाँ लिखीं, जिनका सम्बन्ध समाज-सुधार से था। वे आर्य समाज के धर्म-सुधार से प्रभावित भी थे। इस क्षेत्र में भी उनकी कहानियाँ अन्य कहानियों से विशिष्ट हैं। शीघ्र ही उन्होंने अपनी दृष्टि समाज-सुधार से हटाकर मनोविज्ञान पर डाली। उन्होंने मध्यवित्त लोगों और उत्तमवित्त लोगों के मानसिक, आध्यात्मिक और आर्थिक संघर्षों के यथार्थ चित्र उपस्थित किये। प्रति दिन के साधारण जीवन की मनोवैज्ञानिक तत्वों की खोज करनेवाली पैनी दृष्टि उन्होंने पायी थी। उनसे पहले घरेलू जीवन में मनोविज्ञान की स्थापना नहीं हुई थी, यद्यपि मनोविज्ञान कहानी का विषय बन चुका था।

प्रेमचन्द का सबसे अधिक मौलिक क्षेत्र भारतीय गाँव था। प्रेमचन्द से पहले देहाती जीवन की कहानियाँ नहीं लिखी गयी थीं। देहात का जीवन भी किसी कहानी का विषय हो सकता है यह कदाचित् किसी लेखक ने नहीं सोचा था। प्रेमचन्द ने इस क्षेत्र को अपनाया और उन्होंने इसका इतना अध्ययन किया कि हम उनके पदचिन्हों पर भी नहीं चल सके। आज यदि हम चाहें कि एक विदेशी हमारे देश से भली-भाँति परिचित हो जाय तो हम प्रेमचन्द की

कहानियों को छोड़कर उसे क्या देंगे ? भारत की नाड़ी कहाँ दुख रही है, यह उनके सिवा और किसने अधिक समझा है ? भारत का सच्चा प्रतिनिधि उसका किसान है और प्रेमचन्द की कहानियों में उसका रूप हमें मिलेगा। प्रेमचन्द की देहाती कहानियों को हमें कथा और विषय दोनों के दृष्टिकोण से देखना होगा। देहाती किसान की भौतिक और आध्यात्मिक कठिनाइयाँ क्या हैं, जमींदार, महाजन, पुलिस और पटवारी इन सबके बीच में वह किस तरह घिस जाता है।

सामाजिक परम्पराएँ उसे क्या कष्ट देती हैं और स्वयम् उसके पराजित भाव किस प्रकार उसके मन में विष घोल देते हैं और उसके जीवन को नष्ट कर देते हैं। वह कैसे उन कष्टों को सहता है और ईश्वर-विश्वास के सहारे अपनी नाव पार लगाना चाहता है। किस प्रकार अन्त में जैसे सारी प्रकृति उसके विरुद्ध खड़ी हो जाती है। जहाँ पानी का एक छींटा काफी होता, वहाँ प्रलय के बादल टूट पड़ते हैं या आसमान तांबे की तरह तपता है और एक बूँद पानी नहीं देता। अनावृष्टि है, बाढ़ है, ओला-पाला है, फिर पशु हैं जो आँखें दबते ही पकी खड़ी खेती चर जाते हैं और अन्त में परस्पर के ईर्ष्या और द्वेष से उसके महीनों के परिश्रम पर पानी फिर जाता है। किसान इन सभी भौतिक बाधाओं से लड़ता है और एक दिन अन्त में हार कर अपना ईश्वर-विश्वास भी खो देता है। प्रेमचन्द ने इन सभी परिस्थितियों में किसान का चित्रण किया है। मनुष्य की आध्यात्मिक विजय यही है कि वह महान् अदृष्ट विरोधी शक्तियों से अन्त तक लड़ता रहता है और उसकी हार अवश्यम्भावी होने पर भी हम उसकी आत्मा की महानता के कायल हो जाते हैं।

प्रेमचन्द मनुष्य को धीरे-धीरे संघर्षों के बीच में से होकर ऊँचे आध्यात्मिक स्तर पर उठा देते हैं। प्रत्येक महान् कहानी लेखक यही करता है। एक प्रकार से ट्रेजेडी (दुखांत) का मूल मंत्र यही है। हो सकता है कि संघर्ष में मनुष्य की आत्मा टूट जाय और वह अन्धकार में रहकर सड़ने लगे। यह आवश्यक नहीं है कि अन्त में उसे प्रकाश मिले ! यथार्थवादी लेखक प्रेमचन्द पर यही दोष लगाते हैं। वे कहते हैं कि प्रेमचन्द जिस सत्य को हमें दिखलाते हैं वह जीवन और संसार का सत्य नहीं है। उनका अपना सत्य है। संसार में मनुष्यता

और मानवता की विजय सदा ही नहीं होती। जीवन में बहुत कुछ सड़ा-गला है। लेखक उसे क्यों छिपाये, अथवा कल्पना, कला और आदर्श का रंगीन आवरण देकर उसे असत्य और भ्रमात्मक क्यों बनाये? इस तर्क की सिद्धि में बहुत कुछ कहा जा सकता है। प्रेमचन्द अपनी अन्तिम कहानियों में नग्न सत्य की ओर बढ़ रहे थे। और यथार्थवादियों ने उनका स्वागत भी किया था। परन्तु प्रेमचन्द का बल उनका यही आदर्शवाद था। वह छोटे-छोटे लेखकों की तरह व्यर्थ की मौलिकता पसन्द नहीं करते थे। महान् लेखकों की तरह वे जीवन के क्षुद्र कष्टों और भौतिक अथवा सांसारिक व्याधाओं से आत्मा के महान् देवत्व को पराजित नहीं करना चाहते थे।

गाँव के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण आदर्शवादी लेखक का दृष्टिकोण है। वह देहात के जीवन की कठिनाइयों का चित्रण अवश्य करते थे परन्तु साथ-साथ वे उस जीवन के आकर्षण को भी अपनी कहानियों में स्थान देते थे। प्रेमचन्द शहर के रहनेवाले थे यद्यपि गाँव से उनका निकटतम सम्बन्ध था। २० वीं शताब्दी में गाँव और नगर के जीवन में बहुत अन्तर हो गया। हमारा मध्यवित्त समाज नगर के आर्थिक संघर्ष और अप्राकृतिक वातावरण से ऊबकर देहात के माल और प्राकृतिक जीवन की ओर एक विशेष मोह की दृष्टि से देखने लगा। उसने देहात के संकटों को जानते हुए भी उसकी प्रशंसा के गीत गाये। अपने विशेष मनोभावों के कारण गाँव उसके लिए सरल जीवन और सुन्दरता के प्रतीक हो गये। प्रेमचन्द की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मध्यवित्त जनता के इस दृष्टिकोण से भी प्रभावित थे। उन्होंने उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को जो पत्र लिखा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है—'भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे।' (६ जुलाई १९३६ को लिखा, देखिए 'हंस' का 'प्रेमचन्द-स्मारक अंक')।

अपने इसी आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण वे अपनी कहानियों और उपन्यासों में बार-बार आदर्श गाँव के निर्माण की चेष्टा करते हैं और गाँव के प्राकृतिक दृश्यों को अपनी रचनाओं में प्रधान स्थान देते हैं।

ऊपर हमने प्रेमचन्द की उन कहानियों के विषय में लिखा है जो स्थान

विशेष और वर्ग-विशेष से सम्बन्ध रखतीं हैं। इन कहानियों के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उनसे लेखक का क्षेत्र सङ्कीर्ण हो जाता है और जो पाठक उस विशेष स्थान या वर्ग से परिचित है उसके लिए ऐसी कहानियों का महत्व नहीं रह जाता क्योंकि उसे उनमें आनन्द नहीं मिलता। एक हद तक यह बात ठीक हो सकती है और प्रेमचन्द से छोटे कलाकार के हाथ में इस प्रकार की कहानियों का अधिक महत्व नहीं होता, परन्तु प्रेमचन्द ऊँचे कलाकार हैं। वे यह जानते हैं कि कहानी में विश्वव्यापी मनोवैज्ञानिक तथ्यों को किस प्रकार स्थापित किया जाता है। उनकी प्रत्येक देहाती या घरेलू कहानी के मूल में मानव-जीवन और मानव-प्रकृति के ऐसे तथ्य हैं जो सब स्थानों और सब वर्गों के मनुष्य के लिए एक होते हैं। उन्होंने स्थानीय और समसामयिक घटनाओं को ऊँचे मनोवैज्ञानिक सत्य और ऊँचे आदर्श को उपस्थित करने का साधन बनाया है। उनकी कहानी में देहात और घर वीथिका-मात्र हैं। प्रेमचन्द ने अपने पत्र में इस सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में प्रतिदिन के जीवन की घटनाएँ एक विशेष स्थान और समय तक सीमित रहती हैं परन्तु चिन्तनशील कलाकार इन घटनाओं के पीछे छिपे हुए मनोविज्ञान पर विचार करता है और उनमें एक विश्वजनीन कारण की स्थापना करता है, जो समय और स्थान की सीमा से ऊपर उठे हुए होते हैं। अधिकांश समालोचक प्रेमचन्द की घरेलू और देहाती कहानियों को घर और देहात तक सीमित समझकर भूल करते हैं। वे उनके पीछे छिपी हुई विराट् मानवीयता और विश्वजनीनता को नहीं देख पाते।

एक और महत्वपूर्ण बात जो हमें प्रेमचन्द में मिलती है वह उनका मानव प्रकृति का गहरा अध्ययन है। इसे दूसरे शब्दों में हम 'मनोविज्ञान' कह सकते हैं। यही मनोविज्ञान प्रेमचन्द का बल है। मनुष्य एक ही तरह की घटना से किस तरह प्रभावित होता है? सुख-दुख, हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि प्राकृतिक मनोभावों को मनुष्य अपने कार्यकलाप में किस प्रकार प्रकट करता है?—ये सब बातें मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। अपने विशेष व्यक्तित्व के कारण पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से अनेक बातों में अभिन्न है। कारण यह है कि मनुष्य का मन एक प्रकार से विकसित होता

है। यही कारण है कि कहानी को विश्वजनीन बनाने और उसमें ऊँचे तत्त्वों की स्थापना करने के लिये कहानीकार मनोविज्ञान का आश्रय लेता है। प्रेमचन्द की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक तत्वों से भरी पड़ी हैं। उन्होंने मनोविज्ञान का आश्रय कई प्रकार से लिया है—शैली, वर्णन के ढङ्ग, उपमा, कथोपकथन, कथानक इन सभी अंगों को वे मनोविज्ञान से पुष्ट करते चलते हैं।

यदि प्रेमचन्द की रचनाओं को उनसे पहले आने वाले कलाकारों की रचनाओं के सामने रखा जाय तो हमें इस क्षेत्र में उनकी महत्ता का ज्ञान हो जायगा। २० वीं शताब्दी के पहले १५ वर्षों की कहानियों में केवल 'प्रसाद' की कहानियों को छोड़कर हम मनोवैज्ञानिक चित्रण कहीं भी प्रधान नहीं पायेंगे। प्रेमचन्द ने पहले-पहल कहानी को मनोविज्ञान से स्पष्ट करने का साधन बनाया और अपनी कहानियों में हर जगह मानव-प्रकृति और विश्वव्यापी नैतिक तत्त्वों की स्थापना की। वर्ड्सवर्थ के स्काइलार्क (लवापक्षी) की तरह वह पृथ्वी से बहुत ऊँचे उठ सकते थे और साथ ही पृथ्वी के साथ अपना सम्बन्ध भी बनाये रख सकते थे।

मनोविज्ञान पर आश्रित होने के कारण ही प्रेमचन्द की कहानियों में यथार्थवाद को विशेष स्थान मिला है, उनका दृष्टिकोण और जीवन के सम्बन्ध में उनके विचार भले ही आदर्शवादी हों। यही कारण है कि हम उनकी कहानियों और उनके पात्रों को अपने प्रतिदिन के साधारण जीवन में पा सकते हैं। परन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो प्रेमचन्द अपनी प्रत्येक कहानी के अन्त में यथार्थवाद से दूर हट जाते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों का अन्त एक विशेष नैतिक दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। उनकी धारणा कदाचित् यह मालूम होती है कि प्रत्येक भले काम का फल भला होता है। अन्धकार पर ज्योति की और पाप पर पुण्य की विजय होती है। हम जिस जीवन से परिचित हैं उसमें साधारणतः ऐसा नहीं होता। प्रेमचन्द कहानी के अन्त में अपने प्रधान पात्र को सुधार देते हैं और दुखान्त की ओर जाती हुई कहानी को सुखान्त बना देते हैं। यथार्थवादी प्रेमचन्द को यही उपालम्भ देते हैं। परन्तु यदि हम प्रेमचन्द की सब कहानियों का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें अन्त किसी दूसरी प्रकार हो ही नहीं

सकता; और वह अस्वाभाविक नहीं लगता। यदि दोष किसी का है तो वह प्रेमचन्द के मूलतः आदर्शवादी दृष्टिकोण का है जिसके कारण वे जीवन से ऐसी परिस्थितियाँ चुनते हैं जिनका अन्त सुखमय हो। वे अपने चरित्र-चित्रण और कथावस्तु में यथार्थवादी हैं परन्तु दृष्टिकोण में आदर्शवादी। फिर भी प्रेमचन्द की अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें उनकी सुधारक प्रकृति के दर्शन होते हैं और इसी कारण इस प्रकार की कहानियों का अन्त कुछ अप्राकृतिक हो गया है। ऐसा जान पड़ता है कि कहानीकार अपनी कहानियों के द्वारा कुछ विशेष नैतिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना चाहता है। कला की दृष्टि से यह बात वांछनीय नहीं है।

यह हुई प्रेमचन्द के विशेष दृष्टिकोण और क्षेत्र की बात। इसके सिवा पात्रों के चरित्र-चित्रण, कहानी के वस्तु-संगठन, शैली और कथानक में हमें प्रेमचन्द की विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं और जो पाठक प्रेमचन्द की कुछ कहानियों से परिचित हैं वह उनके विशेष व्यक्तित्व का अनुभव करते हैं।

हम पहले प्रेमचन्द के पात्रों पर विचार करेंगे। प्रेमचन्द की कहानियों के अधिकांश पात्र आदर्श होते हैं। हम उनसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और उन्हें अपना पथप्रदर्शक बना सकते हैं। इनमें अधिकतः दुर्बलताएँ नहीं होतीं और जो होती भी हैं तो अधिक महत्वपूर्ण नहीं। परन्तु अपने जीवन के अन्तकाल की कहानियों में उन्होंने कुछ यथार्थ पात्र भी हमारे सामने रखे हैं। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' का नायक होरी भारतीय किसान की कमजोरी का वास्तविक चित्रण है। उनके जीवन के अन्तिम दिनों में राजनैतिक क्षेत्र में समाजवाद और साहित्यिक क्षेत्र में यथार्थवाद के आन्दोलनों का श्रीगणेश हो गया था और प्रेमचन्द इन आन्दोलनों से प्रभावित थे। इन आन्दोलनों की नींव जीवन के वास्तविक सत्य पर थी। परन्तु प्रेमचन्द के पात्र चाहे आदर्श हों, चाहे यथार्थ, वे दोनों एकदम पूर्ण विकसित रूप में कहानी में उपस्थित नहीं होते। प्रेमचन्द धीरे-धीरे अपने पात्र को विकसित करते हैं। कहानी के अन्त में पात्र जो कार्य करता है उसके लिए वे धीरे-धीरे भूमि तैयार करते हैं और कारण उपस्थित करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द पात्र को ऐसे समय हमारे सामने उपस्थित करते हैं जब वह स्वयं विषम परिस्थिति में पड़ा होता है। वह एक विशेष मानसिक संघर्ष लेकर हमारे सामने

आता है। उसके सामने दो प्रिय वस्तुएँ हैं और उसे दोनों में से एक को चुनना है। अन्त में वह एक वस्तु को चुन लेता है, परन्तु अकारण ही नहीं; पात्र का मानसिक वातावरण एवं विकास उसे इस चुनाव के लिए तैयार करता है। यह मानसिक संघर्ष प्रेमचन्द की कहानियों की विशेषता है।

प्रेमचन्द अपने पात्रों को कहानी के प्रारम्भ से ही हमारे सामने लाते हैं। वे उनकी विशेषताएँ बतला देते हैं और उनका अधिक-से-अधिक स्पष्ट चित्र हमारे मानसिक पट पर अंकित कर देते हैं। कहानी का प्रधान भाग कहानी के आरम्भ में दी हुई कुछ विशेषताओं को प्रकट करता है। इससे यह लाभ अवश्य होता है कि पाठक आरम्भ से विशेष घटनाओं और विशेष प्रतिक्रियाओं के लिए तैयार हो जाता है। परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण से इस प्रकार के संगठन में एक प्रचार का दोष भी है। यथार्थवादी कहते हैं—हम किसी वस्तु से एकदम परिचित नहीं हो जाते। हम अपने पात्रों की विशेषताएँ कैसे जान लें? मनुष्य पहले दूसरे मनुष्यों से कार्य-कलापों और व्यवहारों से परिचित होता है और इस परिचय के आधार पर वह उसकी कुछ विशेषताएँ समझता है। यथार्थवादियों के दृष्टिकोण के अनुसार कहानीकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पात्र की विशेषताओं अथवा एक विशेष मनोविज्ञान का वर्णन करे। पाठक इन्हें स्वयम् कहानी से चुन लेगा। लेखक का धर्म केवल मनोवैज्ञानिक और संघर्ष पूर्ण परिस्थिति का चित्रण है। कहानी के पहले ही पात्र के सम्बन्ध में कुछ लिख देना कला की दृष्टि से भी दोष है, चूँकि इस प्रकार लेखक पाठक को आनेवाले संघर्ष के सम्बन्ध में राय देता है एवं समस्या अथवा परिस्थिति के हल को अपनी तरफ़ से सुझा देता है। इस प्रकार कहानी के अन्त में वह आकस्मिकता नहीं रहती जो उस दशा में रहती जब पाठक पात्र के विशेष मनोविज्ञान से अधिक परिचित नहीं हैं।

अपनी कहानी को कला की ऊँची भूमि पर उठाने के लिए प्रेमचन्द कहानी के संगठन और वातावरण से भी काम लेते हैं। उनके प्राकृतिक वर्णन व्यर्थ नहीं होते। वे पात्रों के मनोविज्ञान को स्पष्ट करते हैं। वे प्रत्येक वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। यहाँ तक कि पात्रों के वस्त्रों और चेष्टाओं का वर्णन भी काफी स्थान घेर लेता है। इस विस्तार से प्रेमचन्द के दो अर्थ होते

हैं। एक तो वे अपनी वर्णन की हुई वस्तु का अधिक से-अधिक स्पष्ट चित्र पाठकों के सामने रखना चाहते हैं और दूसरे पाठक के मानसिक संघर्ष की ओर इशारा करते हुए पाठकों को आगे आने वाली घटना के लिए तैयार करते हैं। कहानी-जैसे छोटे साहित्य के माध्यम में अधिक विस्तारपूर्ण वर्णन दोष हो जाता है। अच्छी कला यह है कि कलाकार अभिधा की अपेक्षा व्यंजना से अधिक काम ले और सूक्ष्म वर्णन से विस्तृत चित्र की व्यंजना करे। प्रेमचन्द के बाद के कलाकार अपनी कहानियों में इस विषय में बहुत सतर्क रहते हैं। यदि हम प्रेमचन्द के वर्णनों को देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनका विस्तार ही कितनी ही कहानियों का गुण है। जीवन की अनेक साधारण घटनाओं को उन्होंने अपने अर्थ देकर और उनका सूक्ष्म एवं विस्तार-पूर्ण वर्णन एवं चित्रण करके उन्हें आकर्षक और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द की कहानियों में पाठकों को अपनी स्वतंत्र कल्पना से काम लेने के लिए अधिक स्थान नहीं मिलता, परन्तु शायद प्रेमचन्द यह बात चाहते भी नहीं। वे अपनी कहानियों में एक विशेष प्रभाव लाना चाहते हैं और अपने वर्णनों द्वारा वे चेष्टापूर्वक उनका निर्माण करते हैं और उसके विषय निश्चित हो जाते हैं। फल यह होता है कि उनकी कहानियों के दो अर्थ नहीं लग सकते और वर्णनों के विस्तार के कारण अनेक बार कहानियों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है।

प्रेमचन्द की कहानियों में भावुकता और रोमान्स का अधिक स्थान नहीं। वे हमारे सामने जीवन का ठोस सत्य रखते हैं, जिसमें उत्तेजना और अवास्तविकता नहीं होती। यही कारण है कि भावुक पाठक उनकी कहानियों से शीघ्र ही उकता जाते हैं और उनमें एकरसता का अनुभव करने लगते हैं। एक दृष्टि से यही बात प्रेमचन्द की कहानियों की विशेषता है। उनकी कहानियाँ शक्तिशाली हैं। वे उसी किसान की तरह धरती की उपज मालूम होती हैं जिसका चित्रण प्रेमचन्द ने अनेक प्रकार से किया है। यदि हम शरत्‌चन्द्र और रवीन्द्रनाथ की रचनाओं को उनके सामने रखें तो हमें इन तीनों महान् लेखकों की रचनाओं का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। हमें शरत्‌चन्द्र की रचना में ऊँचे दरजे के मनोविज्ञान के साथ ऊँचे दरजे की भावुकता मिलेगी। हमें रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में मनोविज्ञान, काव्यकला और दर्शन शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन मिलेगा। प्रेम-

चन्द ने साधारण मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में मनोविज्ञान की स्थापना की है और वे न भावुकता के चक्कर में पड़े, न सूक्ष्म दार्शनिकता के विवेचन में। उन्होंने हमें पृथ्वी की वस्तुएँ दी हैं, आकाश में वे कम उड़े हैं।

परन्तु यह बात नहीं है कि प्रेमचन्द की कहानियों में जहाँ-तहाँ रोमान्स की झलक न हो। वे आदर्शवादी लेखक हैं और यथार्थ जीवन की अनेक परिस्थितियों में से वे अपने लिए कुछ ऐसी परिस्थितियाँ चुन लेते हैं जो विशेष महत्वपूर्ण होती हैं। इस प्रकार जीवन का जो चित्र वे उपस्थित करते हैं वह यथार्थ जीवन से दूर जा पड़ता है और उसमें अवास्तविकता आ जाती है। इसके सिवा उनकी कहानियो में यथार्थ जीवन और सुधारवादी दृष्टिकोण के मेल ने नयी बात पैदा कर दी है। उन्होंने यथार्थ और रोमान्स की सीमाओं को मिला दिया है। उन्होंने कुछ पूर्णतः रोमांचक कहानियाँ भी लिखी हैं, परन्तु वे सब कहानियाँ मनोविज्ञान पर आश्रित हैं। प्रेमचन्द की रोमान्स-कहानियों की यह विशेषता है कि हमें वहाँ भी यथार्थ जीवन, मनोविज्ञान और सच्चाई के दर्शन होते हैं। हम इस तरह भी कह सकते हैं कि उन्होंने जीवन की सच्ची और यथार्थ घटनाओं में रोमान्स की प्रतिष्ठा की है।

प्रेमचन्द की कहानियों में हम चाहे कला की दृष्टि से कुछ दोष भी पायें परन्तु उनकी सब से बड़ी विशेषता जो हमें उनकी ओर आकर्षित करती है उनका सीधा सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व से है। पहली बात तो यह है कि उनमें साधारण-से-साधारण घटना को आकर्षक बना देने की शक्ति है। उनकी कहानियों में कहीं मानसिक संघर्ष है, कहीं काव्यमयता है और कहीं मनोवैज्ञानिक ऊँचाई। यदि हम कला की बात छोड़ दें तो प्रेमचन्द से अच्छा कहानी कहने वाला हमारे साहित्य में दूसरा नहीं मिलेगा। कहानी कहने का ढङ्ग ऐसा प्रभावशाली, प्रवाहमय और शक्तिशाली है कि उनकी प्रत्येक दुर्बलता छिप जाती है। इसके सिवा उनकी अपनी वर्णन-शैली है। प्रेमचन्द की वर्णन-शैली बहुत स्वाभाविक है। वे प्रत्येक वस्तु और घटना का वर्णन बहुत सरल, आकर्षक और प्रभावशाली ढंग से करते हैं। जहाँ पाठक एक ओर कहानी की घटनाओं और पात्रों में आनन्द लेता है, वहाँ दूसरी ओर वह उनकी भाषा के प्रवाह में भी बह जाता है। प्रेमचन्द भाषा के बादशाह

हैं। वे हिन्दी और फारसी के शब्दों और मुहावरों का बहुत सुन्दर मेल बैठाते हैं। उनकी कहानी में प्रत्येक चार-पाँच वाक्यों के बाद हमें उपमाओं और रूपकों के दर्शन होंगे। अलङ्कारों की अधिकता और उनका उचित प्रयोग उनके वर्णन को आकर्षक बना देता है। वे प्रत्येक शब्द को चुनकर रखते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि उस शब्द का अधिक उपयुक्त प्रयोग हो ही नहीं सकता।

प्रेमचन्द की कहानियों में हम गम्भीरता के साथ-साथ हास्य का भी अच्छा पुट पाते हैं। वे स्वयम् हास्य-प्रिय व्यक्ति थे और उनकी कहानियों पर इस परिहास-प्रियता का प्रभाव पड़ा है। वे जो कुछ कहते हैं, खुलकर कहते हैं और वे जो लिखते हैं पाठक के हृदय में सीधा उतर आता है। यदि प्रेमचन्द की भाषा के सबसे सुन्दर प्रयोग ढूँढ़ने हैं तो हमें ऐसे स्थानों पर खोज करनी होगी जहाँ उन्होंने प्राकृतिक चित्र दिये हैं अथवा जहाँ उन्होंने नैतिक सत्य का प्रतिपादन किया है। अपने कथानक में यहाँ-वहाँ प्रेमचन्द ने सुन्दर कहावतों और नैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के ऐसे-ऐसे छोटे हीरे के टुकड़े जड़ दिये हैं जो नीले आकाश में चमकते हुए छोटे-छोटे तारों की तरह जान पड़ते हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों के, उनकी कला के विकास-रूप और विषय-विभाग के अनुसार, कितने ही भेद किये जा सकते है। विकास-रूप के हिसाब से उनकी कहानियाँ ३ वर्गों में बँटेंगी।

(१) प्रारम्भ की उन कहानियों में जिनमें घटनाचक्र और आकस्मिकता की प्रधानता है, कोई मूल-विचार लेखक आगे नहीं बढ़ाता। प्लाट ही सब कुछ है, विचार (बीज) और चरित्र चित्रण गौण। इन कहानियों में बुरे का फल बुरा है, भले का भला। पलड़ा सदा बराबर रहता है। यह स्पष्ट है कि यह वास्तविकता नहीं है।

(२) (अ) चरित्र प्रधान और आदर्श प्रधान कहानियाँ—वास्तव में पूर्णतः चरित्र-प्रधान कहानियाँ प्रेमचन्द ने अधिक नहीं लिखी हैं। वे कला में उपयोगिता का विकास आवश्यक समझते थे। इन कहानियों में बहुधा आदर्श चरित्र-चित्रण को ढँक लेता है। इन कहानियों के शीर्षकों से ही उनके विषय

का पता लग जायगा, जैसे 'माता का हृदय,' 'स्वर्ग की देवी'।

(आ) विचार-प्रधान और चरित्र-मूलक आदर्शात्मक (सुधारात्मक) भावनामंडित कहानियाँ—लेखक समाज की कुरीतियों को लेता है और कर्मवाद, करुणा, मनुष्यता आदि का सहारा लेकर उनका परिहार करता है, जैसे 'स्त्री और पुरुष' 'दिवाला' 'नैराश्य' 'लीला' 'उद्धार'। प्रेमचन्द की सुधारात्मक भावना सहारे के लिए अतीत की ओर देखती है, पश्चिम से हटती है। (देखिए 'शांति')

(इ) घटनामंडित कहानियाँ जिनमें ऊपर की प्रवृत्तियों के होते हुए भी घटनाचक्र की प्रधानता है, जैसे 'शूद्र', 'आधार,' 'निर्वाण', 'कौशल'।

(ई) चरित्रप्रधान और संघर्ष (अंतर्द्वन्द) प्रधान कहानियाँ—ऐसी कहानियाँ कम हैं जैसे 'दुर्गा का मंदिर', 'डिक्री के रुपये', 'ईदगाह', 'माँ', 'घर जमाई', 'नरक का मार्ग'। इन कहानियों में प्रेमचन्द बराबर आदर्श यथार्थ की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। फिर भी कहानियाँ सुखान्त हैं, केवल कुछ को छोड़कर, (उदाहरण के लिए 'शांति' जिसमें विवाह की विडंबना का चित्रण है)।

(उ) ऐसी कहानियाँ जिनमें चरित्र चित्रण के साथ प्रभावात्मकता पर ध्यान रखा गया है और कहानी को अत्यन्त कलात्मक रूप देने की चेष्टा की गई है। प्लाट कम है या है ही नहीं। फिर भी प्रेमचन्द न आत्महत्या को छोड़ पाते हैं, न सुधार-भावना को, जैसे 'घासवाली,' 'धिक्कार,' 'कायर', 'पूस की रात'।

(३) इन्हीं कहानियों का विकसित रूप वे कहानियाँ हैं जो 'कफन और अन्य कहानियाँ' नाम के अंतिम संग्रह में संग्रहीत हैं। इनमें लेखक आदर्शवादियों की पंक्ति से निकलकर वस्तुवादियों की पंक्ति में जा बैठा है। 'कला उपयोगी हो' यह विचार दूर हो गया है, परन्तु कहानी समाज के मर्मस्थल पर नग्न-चित्रण के कारण ही चोट करती है।

यह तो हुआ मूल भावनाओं के हिसाब में श्रेणी-विभाजन। वैसे प्रेमचन्द की कहानियाँ समाज और राजनीति के आन्दोलनों को भी चित्रित करती हैं या उनका प्रभाव दिखलाती हैं और इस दृष्टि से भी उनका श्रेणी-विभाजन सम्भव है।

कहानियाँ

[श्री नन्ददुलारे बाजपेयी]

प्रेमचन्दजी की कहानियाँ संख्या में तीन सौ के लगभग हैं। इसके अतिरिक्त उनकी उर्दू कहानियों की संख्या भी सौ से ऊपर है। ये सारी कहानियाँ लम्बे समय के अन्तर्गत लिखी गयी हैं, इस कारण इनमें कलात्मक विकास की कई भूमियों का दिखायी देना स्वाभाविक है। आरम्भिक कहानियों में कला की दृष्टि से वह सफाई, खराद और काँट-छाँट नहीं है जो परवर्ती कहानियों में है। आरम्भिक कहानियाँ अधिकतर लम्बी और वर्णनात्मक हैं जब कि पीछे की कहानियाँ अधिक गठी हुई, संक्षिप्त तथा नाटकीय प्रभाव से सम्पन्न हैं, मानों एक प्रभावशाली चित्र का प्रदर्शन कर समाप्त हो गयी हों। केवल कला की दृष्टि से ही नहीं, भावों और विचारों की प्रौढ़ता की दृष्टि से भी आरम्भ और अन्त की कहानियों में अन्तर आ गया है। भाव के क्षेत्र में प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियाँ भावना-प्रधान और आदर्शवादी हैं। वे प्रत्येक स्थिति में किसी ऊँचे आदर्श पर जाकर समाप्त होती हैं। उनका प्रभाव भावुकतापूर्ण और उपदेशात्मक-सा होता है। किन्तु आगे चल कर प्रेमचन्दजी की कहानियों में चित्रित परिस्थितियों और व्यक्त भावों के बीच अधिक गहरा सामंजस्य स्थापित हो गया है। अब उनके चित्रण अधिक मनोवैज्ञानिक, तथ्यपूर्ण और अकृत्रिम होने लगे हैं। यद्यपि मानव स्वभाव पर अमिट विश्वास के कारण प्रेमचन्दजी की आदर्शवादी प्रवृत्ति यहाँ भी दिखायी देती है, परन्तु यहाँ वह प्रवृत्ति अधिक संयमित है। जिन कहानियों में प्रेमचन्दजी ने किसी आदर्श का चित्रण नहीं किया है, उदाहरण के लिए—'कफन', 'पूस की रात', 'नशा' आदि, वहाँ भी परिस्थिति की विवशताके प्रति प्रेमचन्दजी की व्यंग्यात्मक दृष्टि परिलक्षित हुई है। उन कहानियों में भी मुख्य प्रभाव परिस्थिति के विरुद्ध विद्रोह करने का ही है। प्रेमचन्दजी ने ऐसी कहानियाँ नहीं लिखीं जो विशुद्ध निराशामूलक हों, जिनके पात्र और चरित्र पूरी तरह जीवनोद्देश्य को भूले हुए हों। पिछली कहानियों में उनके पात्र परिस्थितियों

से लड़ते और पराजित होते भी दिखाये गये हैं, पर लेखक ने जीवन-आस्था बनी रहने दी है। इसी लिए उन कहानियों का प्रभाव विषादात्मक न पड़कर व्यंग्यात्मक ही पड़ता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्दजी की सब कहानियाँ जीवन के प्रगतिशील और आस्थावादी दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं।

विचारों के क्षेत्र में भी प्रेमचन्दजी प्रौढ़ होते गये हैं। उन्होंने जीवन संबंधी अपने अनुभवों को निरन्तर बढ़ने दिया है। खुली आँख और खुले मस्तिष्क से वे समस्त परिस्थितियों को देखते और आँकते थे। अनुभव की वृद्धि के साथ उनके अध्ययन में भी विस्तार होता गया। वे भारतीय साहित्यिकों के अतिरिक्त पश्चिमी विचारकों और कलाकारों से बहुत कुछ परिचित हुए। सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ स्वाभाविक रूप से बदलनेवाले दृष्टिकोण को भी प्रेमचन्दजी अपनाते गये हैं। विशेष कर नारी के आत्मसम्मान और पुरुषों के साथ उसकी सामाजिक समानता का निरूपण और उद्घोष उन्होंने अपनी पिछली कहानियों में स्पष्ट रूप से किया है। नारी के पातिव्रत और उसकी गार्हस्थिक निपुणता के साथ ही साथ प्रेमचन्दजी ने उसके समान अधिकारों का भी प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी वे क्रमशः आगे बढ़ते गये हैं।

प्रेमचन्दजी की सब कहानियाँ सब समय एक-सी ही प्रेरणा से नहीं लिखी गयीं। यत्र-तत्र उन्होंने बेगार भी की है। कभी किसी कहानी को आवश्यकता से अधिक बढ़ा देना और किसी अन्य को अत्यन्त छोटा कर देना उनके लिए आश्चर्य की बात न थी। पत्र और पत्रिकाओं में निरन्तर लिखते रहने की आवश्यकतावश इस प्रकार के विपर्यय होते ही रहते थे। अतएव उनके प्रौढ़ काल में भी ऐसी अनेक कहानियाँ मिलती हैं, जो उनकी विकसित कला के अनुरूप नहीं कही जा सकतीं। इस दृष्टि से प्रेमचन्दजी की कहानियों का विभाजन, कलापूर्ण कहानियाँ और आवश्यकतावश लिखी गयी कहानियाँ, के विभागों में किया जा सकता है। ऐसा करने पर ही उन श्रेष्ठ कहानियों का पृथक्करण किया जा सकेगा, जिनके आधार पर प्रेमचन्दजी की साहित्यिक प्रतिष्ठा अवलम्बित है।

विषय की दृष्टि से प्रेमचन्दजी की कहानियाँ मुख्यतः सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं। समाज की सीमा में ग्रामीण और नगर के क्षेत्र आते हैं। दोनों ही क्षेत्रों को लेकर उनकी कहानियाँ लिखी गयी हैं। राजनीतिक विषयों

में प्रायः वे सभी विषय आ गये हैं, जो भारतीय राजनीति के तत्कालीन ज्वलन्त प्रश्न थे।

यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रेमचन्दजी सामयिक, सामाजिक आन्दोलनों और राजनीतिक गतिविधियों के बाहर अपनी कहानियों में बहुत ही कम गये हैं। उनका समस्त क्षेत्र बीस-पचीस वर्षों की भारतीय जीवन-प्रगति में केन्द्रित है। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्दजी प्रत्यक्षवादी कलाकार ठहरते हैं। उन्होने मानव-विकास के उन पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया, जिनका सम्बन्ध इतिहास तथा अन्य प्राणि-विज्ञान सम्बन्धी तथ्यों से है। यह भी कह सकते हैं कि उनकी कल्पना सामयिकता की परिधि से ऊपर उठने में अक्षम थी और दैनिक जीवन की स्थितियों को ही अपनाने में प्रवीण थी। इसका एक परिणाम यह भी हुआ है कि प्रेमचन्दजी सदैव सामान्य परिस्थितियों के भीतर सामान्य चरित्रों की अवतारणा करते हैं। असामान्य और विशिष्ट जीवन-चित्रों की विवेचना, जो मनोविज्ञान तथा अन्य सम्बन्धित विज्ञानों के गहरे और विशिष्ट अनुभवों से सम्बद्ध है, प्रेमचन्दजी की कहानियों की सीमा में नहीं आती। सामान्य के अन्तर्गत भी प्रेमचन्दजी का मुख्य झुकाव सुधारवाद और आदर्शात्मक मनोविज्ञान की ओर ही अधिक है। तटस्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण उनकी कहानियों में कम ही मिलते हैं। नारी-स्वभाव और नारी-प्रकृति की भीतरी विशेषताओं में जाने का समय प्रेमचन्दजी को न था। और न वे चरित्र की ऐसी रूपरेखाओं को ही अंकित कर सके हैं, जिन्हें इस वैचित्र्यपूर्ण मानव-समाज में प्रायः देखा जाता है। प्रेमचन्दजी की कहानियाँ इसी लिए सब्जेक्टिव या भावनात्मक श्रेणी में आती हैं। निश्चय ही वे सामाजिक विकास के लिए महत्वपूर्ण अस्त्र का काम कर चुकी हैं, परन्तु समय के बीत जाने पर उनकी क्या स्थिति होगी, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

कला के क्षेत्र में सामयिक प्रश्नों, स्थितियों और विचारधाराओं का अपना विशिष्ट महत्व है, परन्तु महान कलाकार में कुछ ऐसी भी वस्तुएँ होती हैं, जो उसे सामयिकता का इतिहास लेखक ही नहीं बनातीं, उसका अन्वेषक और उद्घाटक भी सिद्ध करती हैं। इसके अतिरिक्त उस महान कलाकार में यह क्षमता भी होती है कि वह उन बदलती हुई परिस्थितियों में

मानव-चरित्र की और मानव मनोभावना की मार्मिक और चिरन्तन प्रवृत्तियों को भी अपने दृष्टि-पथ में रखे। ऐसा न करने पर कथाकार का कार्य बहुत कुछ सीमित हो जाता है। वह केवल सामयिक जीवन का प्रतिनिधि और उन्नायक बना रहता है। उसकी गणना इतिहास में हो जाती है और वह स्वयं अपनी कृतियों में ऐतिहासिक अनुशीलन की सामग्री छोड़ जाता है। परन्तु एक श्रेष्ठ कलाकार कदाचित् इस सीमित उद्देश्य को लेकर ही कार्य नहीं करता। उसका जीवन-सम्बन्धी समस्त दृष्टिकोण उसके सारे अनुभव और उसकी सारी उद्भावना उसकी कला को स्थायित्व देने के लिए हुआ करते हैं। कला का उद्देश्य इतिहास में परिगणित होना ही नहीं है, उसे उच्चतर लक्ष्यों की पूर्ति करनी होती है। प्रेमचन्दजी की कहानियाँ उनके अनुभव की गहराई, मार्मिकता और ईमानदारी के कारण संक्षेप में उनके व्यक्तित्व की प्रतिनिधि हो जाने के कारण यद्यपि एक विभिन्न स्तर पर पहुँच गयी हैं, परन्तु प्रेमचन्दजी का सारा दृष्टिकोण और उनकी कला-क्षमता अधिकतर सामाजिक जीवन से ही बँधी हुई है।

यह न समझना चाहिए कि कोई कलाकार अपने आख्यानों और चित्रणों को सामयिक स्थितियों और क्षेत्रों से ले रहा है, इसी कारण उसकी रचना सीमित और संकीर्ण है। सामग्री चाहे जिस क्षेत्र से ली जाय, उसके निरूपण और निर्देश में ही लेखक की सारी प्रतिभा लक्षित होती है। सारा प्रश्न लेखक के मानव-स्वभाव की मौलिक विशेषताओं तक पहुँचने, उन्हें चित्रित करने तक का रहा करता है। किसी कृति की सार्वजनिकता इसी भूमिका पर देखी जाती है। प्रश्न उपादानों का नहीं है, वे तो चाहे जहाँ से लिये जा सकते हैं, प्रश्न उन उपादानों में निहित जीवन-स्वरूप और जीवन-प्रक्रिया का है। यदि किसी कलाकार ने छोटे दायरे में काम करते हुए भी मानव जीवन के स्थायी तारों को स्पर्श किया और उन्हें झनझनाया है, तो उसकी कृति सामयिकता की सीमा से घिरी न रहेगी। उसका प्रसार समय की परिधि के बाहर भी हो सकेगा।

यदि हम प्रेमचन्दजी की तीन-चार सौ कहानियों में से कुछ थोड़ी-सी चुन कर उनका संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत कर सकें, तो उससे प्रेमचन्दजी की कहानियों की सामान्य विशेषता का परिचय मिलेगा। हम बिना किसी वर्गीकरण या

विभाजन के उनकी कहानियों में से कोई भी दस-पाँच लेकर देखना चाहेंगे। इन्हें किसी विशेष दृष्टि से चुना नहीं गया है, इसलिए ये प्रेमचन्दजी की कहानियों के सामान्य प्रतिमान के अन्तर्गत आती हैं।

नारी-सम्बन्धी

आहुति—इसमें आनन्द, रूपमणि और विश्वम्भर तीन पात्र हैं। आनन्द सम्पन्न है। विश्वम्भर गरीब और व्यक्तित्वहीन है, परन्तु वह राष्ट्रीय कार्यों में संलग्न होता है। रूपमणि आरम्भ में आनन्द की सम्पन्नता और उसके आकर्षक व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट है, परन्तु क्रमशः वह आनन्द से खिंचकर विश्वम्भर की ओर झुकने लगती है। जिस दिन वह सुन लेती है कि विश्वम्भर राष्ट्रीय आन्दोलन के क्षेत्र में उतर आया है और अपने जीवन को उसी दिशा में लगा चुका है, उसी दिन रूपमणि आनन्द का सम्पर्क छोड़ कर विश्वम्भर की सहयोगिनि और सहकारिणी बन जाती है।

शान्ति—गोपा का पति मर चुका है। परन्तु पति का समस्त उत्तरदायित्व गोपा अपने में अनुभव करती है। उसकी आर्थिक स्थिति गिरी हुई है, परन्तु वह अपनी एक मात्र पुत्री सुनीता का विवाह इस ठाट-बाट से करती है, मानो उसका पति, सुनीता का पिता जीवित ही हो। यद्यपि सुनीता का विवाह एक सम्पन्न खानदान में होता है, परन्तु उसके पति में कुछ दुर्व्यसन हैं, जिनके कारण वह सुन्दरी सरला सुनीता को छोड़कर दूसरी ओर खिंचा रहता है। सुनीता इस अपमान को क्षुब्ध होकर सहन करती रहती है। माता द्वारा घर बुलाये जाने पर वह मायके नहीं आती और पति के समक्ष रह कर ही मानो उसको चुनौती देती हुई वहीं अपना प्राण-विसर्जन कर देती है।

कायर—प्रेमा नाम की लड़की केशव नाम के अपने सहपाठी से प्रेम करती है। दोनों भिन्न जाति के हैं। जब इन दोनों में पर्याप्त घनिष्ठता बढ़ जाती है और केशव प्रेमा से अपना प्रेम-निवेदन कर देता है तब प्रेमा अपने माता-पिता से इस सम्बन्ध का संकेत करती है। उसके माता-पिता पुराने विचारों के व्यक्ति हैं, पर प्रेमा का अडिग संकल्प देखकर वे भी केशव के साथ विवाह कर देने को राजी हो जाते हैं। केशव के पिता के समक्ष जब प्रस्ताव किया जाता है, वह इसे अस्वीकार कर देता है और अपने पुत्र केशव को खूब फटकारता है।

केशव पर इसका वही प्रभाव पड़ता है जो एक कायर व्यक्ति पर पड़ सकता है। वह प्रेमा से विवाह करना अस्वीकार कर देता है। प्रेमा को उसके व्यवहार से बड़ी चोट पहुँचती है और वह शीघ्र ही मर जाती है।

बड़े घर की बेटी—आनन्दी बड़े घर की बेटी है। वह एक साधारण जमींदार परिवार मे ब्याह आयी है। ससुराल में उसके पति दो भाई हैं। श्रीकण्ठसिंह, जो उसका पति है; शहर में वकालत करता है। लालबिहारी उसका छोटा भाई गाँव पर रहता है। वह उद्दण्ड स्वभाव का व्यक्ति है। आनन्दी का बड़प्पन और उसकी शालीनता उसे सह्य नहीं है। वह अवसर मिलते ही आनन्दी से झगड़ा करता और उसे दुर्वचनों द्वारा लांछित करता है। आनन्दी जब इसकी चर्चा पति के आने पर करती है, तब उसका पति जायदाद का बँटवारा कर लेने और सम्मिलित परिवार से अलग हो जाने का निश्चय करता है। अब लालबिहारी के मन में पश्चात्ताप और प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। वह बँटवारे में अपनी हानि-ही-हानि देखता है। उसमें काम करने की शक्ति नहीं है। वह आलसी और अकर्मण्य है, इसलिए वह जब अपने बड़े भाई से इस प्रश्न पर फिर से विचार करने का निवेदन करता है, तब उसका बड़ा भाई उसे स्वीकार नहीं करता, वह अपने पूर्व निश्चय पर जमा रहता है। परन्तु बड़े घर की बेटी आनन्दी का बड़प्पन यहाँ अपना शुभ परिणाम दिखा देता है। वह लालबिहारी को क्षमा कर देती है। यही नहीं वह अपने पति को मना लेती है, और सम्मिलित परिवार ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

निष्कासन—मर्यादा अपने पति परशुराम के साथ प्रयाग गंगा स्नान को गयी थी। मेले में वह पति से बिछुड़कर खो गयी। सेवा-समिति के स्वयसेवकों ने उसे सँभाला, परन्तु इसी बीच वह एक छोटे-से षड्यन्त्र में पड़ गयी। किसी व्यक्ति ने धोखा देकर उसे अपने यहाँ बुला लिया। उसके चंगुल से छूटकर मर्यादा एक सप्ताह में अपने पति के पास पहुँची। पति परशुराम ने पत्नी मर्यादा से अनेक उलटे सीधे प्रश्न किये। उसने अपनी सफाई दी और अपने निष्पाप होने की शपथ ली। परन्तु परशुराम ने उसकी एक न सुनी। उसे घर से निकाल दिया।

ग्राम-सम्बन्धी

अलग्योझा—भोला महतो ने दूसरा ब्याह किया था। उसकी पत्नी पन्ना अपने सौतेले लड़के रग्घू से दुर्व्यवहार किया करती थी। उसके अपने लड़के भी थे। रग्घू उनसे प्रेम करता था। कुछ ही दिनों में रग्घू का विवाह भी हुआ। उसकी पत्नी मुलिया झगड़ा कर के सम्मिलित कुटुम्ब से अलग हो गयी थी, फिर भी रग्घू का व्यवहार अपने सौतेले भाइयों से पहले जैसा ही बना रहा। वह पन्ना के लड़के और लड़कियों के लिए तरह-तरह के मनोरंजन जुटाता। उन्हें खिलाता-पिलाता और उनके साथ खेलता। अचानक रग्घू का देहान्त हो गया। भोला महतो पहले ही मर चुके थे। केदार पर, जो पन्ना का बड़ा लड़का था, गृहस्थी का सारा भार आ गया। वह अपने परिवार का तो सब काम करता ही, मुलिया की देख-रेख भी उसी के जिम्मे थी। जब पन्ना केदार से विवाह की चर्चा करती, वह चुप हो रहता। वह वास्तव में मुलिया के प्रति आकृष्ट था। अन्त में उसने मुलिया से ही विवाह किया और दोनों बिछुड़े परिवार फिर से एक हो गये।

पूस की रात—यह किसानों की गरीबी की कहानी है। तीन रुपये जो कुल पूँजी शेष है, महाजन डाँटकर ले जाता है। अब किसान के पास कुछ नहीं रहा। पूस की रात है। वह खेत ताकने अपनी मड़ैया में जाता है। उसके साथ उसका कुत्ता जबरा है। दोनों ठिठुर रहे हैं। हलकू ने जबरा के प्रति अपनी मौखिक सहानुभूति प्रकट की। जबरा ने अपनी पशु भाषा में उसकी हमदर्दी स्वीकार की। आखिर शीत से परेशान होकर दोनों एक दूसरे से लिपट गए। उतने में अरहर के खेत में कुछ आवाज सुनायी दी। जबरा दौड़कर गया और भूँकता रहा, परन्तु विपक्षी दल अधिक जोरदार था। खेत का अधिकांश भाग चर गया। हलकू की हिम्मत न हुई कि वह उठकर उधर जाता। निशा चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। उसने खेत चर जाने दिया। दूसरे दिन सबेरे जब उसकी पत्नी आयी और उसने देखा कि सारा खेत चर चुका है, तो उसने हलकू को फटकारना चाहा, पर हलकू को भीतर-ही-भीतर यह प्रसन्नता थी कि खेत चर गया, अच्छा ही हुआ, अब उसे पूस की रात में वहाँ सोना न पड़ेगा।

मुक्ति-मार्ग—झींगुर गाँव का किसान है। उसके खेतों में अच्छी फसल हुई थी। उसका दिल बढ़ा हुआ था। बुद्धू गडरिया अपनी भेड़-बकरियाँ लिये उसके खेत की मेड़ से जा रहा था। उसने रोका और डाँटा। बुद्धू को भी कुछ कम गर्मी न थी। वह बकरियों को बढ़ाता चला आया। खेत को थोड़ा-सा नुकसान हो गया। झींगुर ने उसे अच्छी तरह पीट-पाट दिया। गाँव-भर में इस घटना से अशान्ति छा गयी। लोग शंका करने लगे कि अब गाँव के खेतों की कुशल नहीं। यही हुआ भी। ऊख के खेत तैयार थे। बुद्धू ने उनमें आग लगा दी और जब सब किसान आग बुझा रहे थे, तब बुद्धू ही सबसे अधिक तत्परता के साथ आग बुझाने में संलग्न था। झींगुर को असलियत का पता लग गया और उसने बुद्धू से बदला लेने की ठान ली। उसने हरिहर चमार से सलाह की। बुद्धू से ऊपर-ऊपर मेल बनाये रखा और अपनी एक बछिया उसे चराने को दी। दूसरे दिन बछिया मरी पायी गयी। बुद्धू पर गोहत्या का प्रायश्चित्त लगाया गया। उसे तीर्थ-यात्रा करनी पड़ी, भीख माँगनी पड़ी, पाँच सौ ब्राह्मणों को खिलाना पड़ा। बुद्धू के घर तबाही आ गयी। झींगुर का हाल पहले से ही बेहाल था। अब दोनों अपना-अपना पेशा छोड़कर मजदूरी करने लगे। दोनों की हालत दयनीय हो गयी।

बलिदान—समय के फेर से हरखसिंह हरखू हो गये थे और समय के परिवर्तन से कल्लू कालिकादीन बन गया था और मंगरू मंगलसिंह हो गये थे। हरखू का कारबार चौपट हो गया था, केवल खेती रह गयी थी। उसके मरने के बाद समस्या और भी जटिल हो गयी। जमीदार ने उसके लड़के गिरधारी से सौ रुपये नजराने माँगे। खेतों की नयी लिखा-पढ़ी करनी थी। गिरधारी के पास एक पैसा भी न था। खेत कालिकादीन ने अपने नाम लिखा लिये दो बैल बचे थे, उन्हें मंगलसिंह ने खरीद लिया। गिरधारी इस संकट को बर्दाश्त न कर पाया, वह मर गया और भूत बनकर अपने खेत के आसपास फिरने लगा। खेत परती पड़ गये। कालिकादीन की हिम्मत न पड़ती थी कि उस ओर जायँ।

शंखनाद—भानु चौधरी के तीन पुत्र थे—वितान, शान और गुमान। वितान मामले-मुकदमे देखा करता था। शान खेती का काम सँभालता था।

गुमान को कोई काम न था। वह मस्त घूमा करता था। दंगल का भी शौकीन था, पर भाभियाँ उसे चैन न लेने देती थीं; उसकी बेकारी पर व्यंग्य-बाण चलाये बिना न मानतीं। परन्तु गुमान को औरतों के यह चोंचले ज्यादा परेशान न करते थे, किन्तु उसकी कमी उसकी पत्नी को पूरी करनी पड़ती। घर का बड़े-से-बड़ा औरछोटे-से-छोटा काम उसी को करना पड़ता। थोड़े दिनों के लिए गुमान को कपड़ों की एक दुकान करा दी गयी, पर शीघ्र ही गुमान ने उसे भी फूँक-तापकर बराबर कर दिया। आखिर बँटवारे की बारी आयी। वितान और शान गुमान से अलग हो जाना चाहते थे। गुमान को इसमें कोई आपत्ति न थी। उसने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। गुरुदीन नाम का एक खोंचेवाला हर हफ्ते अपना खोंचा लेकर उस गाँव में आया करता। वितान और शान के लड़के-बच्चे ठाठ से मिठाइयाँ लेकर खाते, पर गुमान के लड़के धान को कुछ भी न मिलता। वह रोता-चीखता अपनी माता के पास जाता और उसका आँचल पकड़कर खोंचेवाले की ओर ले जाना चाहता। माता बहुत बहलाती, फुसलाती, पर धान न मानता। आखिर माँ ने एक दिन उसे दो-तीन थप्पड़ लगा दिये। गुमान यह सब दृश्य देख रहा था। उसे अपने बच्चे की यह दशा देखकर असीम वेदना हुई। जो काम सैंकड़ों व्यंग्यबाणों ने न किया था, बच्चे के आँसुओं ने वही कर दिखाया। गुमान के कान में मानो शंखनाद-सा हुआ, और उसने निश्चय किया कि वह अब कुछ काम करेगा।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी

माता का हृदय—माधवी का पति मर चुका था। उसे एक ही लड़का था। वह भी राजनीतिक आन्दोलन में जेल भेज दिया गया था। माधवी ने सुना था कि उसके लड़के को अकारण दण्ड दिया गया है। दण्ड देने में मिस्टर बागची का प्रधान हाथ था। माधवी ने बदला लेने की सोची। वह एक दिन बागीची के घर आयी तो देखा कि वहाँ उत्सव मनाया जा रहा था। मिस्टर बागची मित्रों को दावत दे रहे थे। वे पुलिस अफसर थे और आज एक बड़ा मुकदमा जीत आये थे। माधवी ने उसी दिन उनके घर की नौकरी कर ली और बचा खिलाने लगी। मिसेज़ बागची एक अपाहिज-सी महिला थीं। उनका स्वास्थ्य ठीक न रहता। मिस्टर बागची को फ़ुरसत न थी कि बच्चे के

लालन-पालन की ओर ध्यान दें। माधवी ने अपने प्रेम-व्यवहार से बच्चे को पूरी तरह हाथ में कर लिया। वह किसी दूसरे के पास न जाता, माँ और पिता के पास भी नहीं। बच्चे का स्वास्थ्य भी अब सुधरने लगा। मिसेज़ बागची माधवी की परिचर्या से इतनी प्रसन्न थीं कि वे अपने बच्चे को माधवी को ही सौंप देना चाहती थीं। उन्होंने प्रस्ताव किया कि माधवी बच्चे को अपने घर ले जाय और वहीं उसको पाले-पोसे। बागची ने भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया। उनके पहले दो-तीन सन्तान मर चुके थे। माधवी आयी तो थी बागची से बदला लेने पर अब वह उनके पुत्र को लेकर घर की ओर चली!

नशा—ईश्वरी एक जमींदार का लड़का था और वीर एक गरीब क्लर्क का। दोनों साथ-साथ कालेज में पढ़ते और राजनीतिक विषयों की चर्चा किया करते। वीर ज़मींदारों की खूब निन्दा करता। एक बार ईश्वरी ने उसे अपने घर चलने को निमन्त्रित किया। वीर और ईश्वरी दोनों गाँव पहुँचे। यहाँ आकर वीर की आदतें बदलने लगीं। वह अब ईश्वरी की देखा-देखी नौकरों से काम लेता, उन पर शासन करता और अकसर उन्हें डाँटता-फटकारता। ईश्वरी के साथ गाँव में रहते हुए वह अमीरों का-सा जीवन व्यतीत करने लगा था। अब वह शान-शौकत ईश्वरी से बढ़कर बरतने लगा। पुरानी सब बातों को भूल-सा गया। एक दिन जब ईश्वरी और वीर गाँव से इलाहाबाद लौट रहे थे, गाड़ी में बड़ी भीड़ थी। ऊँचे दर्जे में जगह न मिलने के कारण उन्हें तीसरे दर्जे में बैठना पड़ा। वीर बड़े अनमने भाव से तीसरे दर्जे में बैठा, पर डिब्बे के प्रत्येक व्यक्ति से झगड़ा करता रहा। अपने बड़प्पन की भावना को वह इसी प्रकार प्रदर्शित कर रहा था। यहाँ तक कि उसने एक बेकसूर आदमी को दो-चार थप्पड़ भी लगा दिये। वीर का नशा पराकाष्ठा पर था, किन्तु इतने में डिब्बेवाले मुसाफिर बक-झक करने लगे। वीर पर व्यंग्य भी किये जा रहे थे। लोगों ने अप्रत्यक्ष रूप से धमकी भी दी। ईश्वरी ने कह-सुनकर मामले को शान्त किया। अब वीर का नशा उतर रहा था।

बड़े भाई साहब—दो भाइयों में छोटा अधिक प्रतिभाशाली और चंचल था। बड़ा अधिक मन्दबुद्धि और गम्भीर था। छोटे भाई पर शासन करने के लिए उसने गम्भीरता धारण कर रखी थी। छोटा भाई जरा भी चंचलता

दिखाता, उसे बुरी तरह डांट पड़ती। आरम्भ में जब छोटा भाई बड़े से कई श्रेणियाँ नीचे पढ़ता था, बड़ा बड़ी सहूलियत से डाँट लेता था। पर क्रमशः बड़ा कक्षा में फेल होने लगा और धीरे-धीरे छोटा भाई उसकी बराबरी पर आ गया। यही नहीं, उस वर्ष की परीक्षा में बड़ा फिर अनुत्तीर्ण हुआ और छोटे को प्रथम स्थान मिला। अब बड़े भाई को डाँटने के लिए गुंजाइश नहीं रह गयी थी, फिर भी वह अपने बड़प्पन का ठेंगा छोटे के सिर रखा ही करता। छोटा भाई भी उसकी डाँट-फटकार का बुरा न मानता था।

पंच परमेश्वर—जुम्मन और अलगू दो मित्र थे। जुम्मन की एक मौसी थी, जिसकी कुछ ज़मीन जुम्मन ने दाब रखी थी। बदले में जुम्मन उसे खाना-कपड़ा दिया करता। कुछ समय बाद जुम्मन का व्यवहार कठोर हो गया और मौसी को अब खाने-कपड़े के भी लाले पड़ रहे थे। उसने पंचायत की। अलगू, जो जुम्मन के परम मित्र थे, सरपंच बनाये गये। सार्वजनिक निर्णय के अवसर पर अलगू चौधरी व्यक्तिगत मैत्री को भूल गये और उन्होंने फैसला दिया कि मौसी को माहवार खर्चा दिया जाय। जुम्मन यह सुनकर सन्नाटे में आ गये, पर पंच परमेश्वर का फैसला था, कैसे न स्वीकार करते। दूसरा अवसर जुम्मन को भी मिला। वे अलगू और समझू साह के एक झगड़े में सरपंच बनाये गये। अलगू ने अपना एक बैल समझू के हाथ बेचा था। उसके पैसे बाकी थे, पर इतने में वह बैल जो समझू को बेचा गया था, मर गया। निश्चय ही वह समझू की ज्यादती से मरा था, पर अलगू के पैसा माँगने पर उसने इन-कार कर दिया। पंचायत बैठी, जुम्मन ने फैसला दिया। उन्होंने अलगू को बैल के पूरे दाम दिलाये। पंच के आसन से वे सत्य का अपलाप न कर सके। फैसले को सुनकर अलगू का हृदय भर उठा। जब दोनों मित्र गले मिल रहे थे तो सारे दर्शक मुग्ध थे।

कफन—घीसू गाँव का चमार था। माधव उसका लड़का था। माधव की अभी हाल ही में शादी हुई थी। उसकी स्त्री घर का सब काम करती, पति और ससुर की भी सार-सँभार रखती। एक दिन वह प्रसव-वेदना से व्यथित थी; कोठरी में पड़ी कराह रही थी। घीसू और माधव पास के खेत से आलू चुराकर उन्हें भून रहे थे और गरम-गरम आलू खाते जा रहे थे। उनका यही

धन्धा था। काम-काज से हमेशा जी चुराते। माधव की स्त्री प्रसव-वेदना में मर गयी। उसके शव-दाह की समस्या सामने थी। घीसू ज़मींदार के यहाँ गया और अपना दुखड़ा सुनाकर दो रुपए ले आया। चन्दे से कुछ और पैसे भी इकट्ठे हो गये। ये दोनों कफन खरीदने निकले। रास्ते में सोचते जा रहे थे थे कि जीवन का यह कैसा व्यंग्य है कि जिसे जीवित अवस्था में पहनने को मोटे-झोटे कपड़ों के भी लाले थे, उसे मरने पर नया कफ़न ओढ़ाया जाय। इतने में शराब की दूकान मिली। दोनों एक दूसरे की ओर क्षण-भर देखकर इशारे से सहमति पाकर दूकान में पहुँचे। जी भरकर शराब पी और शराब के साथ पेट भरकर खाना भी खाया। इसके पश्चात् नशे में नाचते-गाते, उछलते-कूदते रहे। उन्हें उस समय घर पर रखी लाश का भी ध्यान न था!

राजनीति और समाज-सम्बन्धी

शान्ति—इसी शीर्षक की यह दूसरी कहानी है। शान्ति एक अंग्रेजी पढ़े-लिखे सज्जन के घर ब्याह आयी है। वह पुराने विचारों की महिला है। रामायण का नित्य पाठ करती है। सीधे-सादे लिबास में रहती है। नव शिक्षित पतिदेव को यह पसन्द नहीं। उन्हें पुरानी सभ्यता से चिढ़ लगती थी। वे पुराने आदर्शवाद की अपेक्षा नवीन यथार्थवाद के हिमायती थे। तुलसीदास को नहीं, आस्कर वाइल्ड को पसन्द करते थे। पत्नी को भी वे इसी नये साँचे में ढालना चाहते थे। धीरे-धीरे यही हुआ। पत्नी अब नये साँचे में ढल चुकी थी। वह खूब ठाट-बाट से रहती, अभ्यागतों का स्वागत करती, क्लब जाती और टेनिस खेलती थी। क्रमशः उसका यह रहन-सहन पतिदेव को खटकने लगा। वे एक बार बीमार पड़े। शान्ति उनकी देखभाल करती, पर उसे समय कम मिलता। मरते-मरते पतिदेव को अपनी पत्नी की वह पुरानी रहन-सहन अच्छी लगने लगी।

ऐक्ट्रेस—तारा नाम की एक अभिनेत्री थी। वह शकुन्तला का अभिनय कर रही थी। नगर के रईसजादे श्री निर्मलकान्त उसका अभिनय देखकर मुग्ध हो गये। उसे कीमती उपहार भेंट किया। उससे मिलने की इच्छा व्यक्त की। तारा जब निर्मलकान्त से मिली तो उसके रूप-शील को देखकर मुग्ध हो गयी। कुँवर निर्मलकान्त नगर के प्रमुख रईस थे। वे युवक थे, किन्तु तारा

की अवस्था पैंतीस के लगभग थी। दोनों का मिलना-जुलना होता रहा, घनिष्ठता बढ़ती रही। अन्त में कुँवर निर्मलकान्त ने विवाह का प्रस्ताव किया। तारा पहले तो अत्यन्त प्रसन्न हुई, परन्तु कुछ ही देर बाद सोचने लगी, क्या वह निर्मलकान्त के योग्य है ? क्या उसका यौवन अब भी शेष है ? क्या उसकी जीवनी पवित्र रही है ? इन सब प्रश्नों ने उसे झकझोर डाला। उसकी अन्त-रात्मा ने कहा कि उसे यह विवाह नहीं करना चाहिए। यह निर्मलकान्त के प्रति अन्याय होगा। दूसरे दिन जब विवाह होने वाला था, ऐक्ट्रेस गायब हो गयी थी। वह डोंगी पर सवार होकर गंगा के उस पार जा रही थी।

अग्नि-समाधि—पयाग अपनी पत्नी रुक्मिनि के साथ कुछ दिनों तक सुखपूर्वक रहा। बाद को वह कुछ आलसी हो गया और उसने साधुओं की संगति कर ली। वहीं चिलम भरता, भजन सुनता और जो कुछ मिल जाता, खाता। बीच-बीच में वह रुक्मिनि से कुछ पैसे भी माँग लिया करता था। इनसे वह अपना ऊपरी खर्च चलाता। पर धीरे-धीरे रुक्मिनि भी उससे खिंचने लगी, उसने पैसा देना बन्द कर दिया। तब पयाग एक नयी औरत लेकर घर पहुँचा। रुक्मिनि उसे देख कर स्तम्भित हो गयी, पर उसने नवागन्तुक का स्वागत किया। अब रुक्मिनि दिन-भर काम करती, पैसे लाती और पयाग को देती। सिलिया, पयाग की नयी स्त्री, घर ही में रहा करती, पर उसे घर में रहना पसन्द न था। वह बाहर जाकर पैसे कमाना चाहती थी। रुक्मिनि उसे बाहर जाने से रोकती थी, पर सिलिया अपने हठ पर दृढ़ रही। वह बाहर जाती, पैसा कमाती और पयाग को देती। वह इतने पैसे लाती जितने रुक्मिनि कभी न लाती थी। वह जवान थी, अधिक परिश्रम करती थी। अब रुक्मिनि और सिलिया में कलह रहने लगा। एक दिन रुक्मिनि घर से भाग खड़ी हुई। इसी बीच पयाग की मड़ैया में आग लग गयी। वह दौड़ा और जलती हुई मड़ैया को मोटी लाठी से टेककर उठाकर भागा। अग्नि का छाता-सा उसके ऊपर तन गया था। लपटें बढ़ती जाती थीं। पयाग चाहता था कि वह किसी प्रकार इस अग्नि-छत्र को गाँव बाहर तक पहुँचा दे, जिससे गाँव को कोई खतरा न रहे, पर ऐसा करना सम्भव न हुआ। आग के टुकड़े टूट-टूटकर पयाग की देह पर गिरने लगे। सहसा रुक्मिनि वहीं खड़ी दिखायी दी। उसने पयाग को जलते देखा

तो दौड़ कर आयी, अग्निमण्डप को अपने सिर पर रखकर टेक लिया और पयाग को उससे अलग कर निरापद कर दिया। परन्तु रुक्मिनि की रक्षा न हो सकी। वह ज्योंही उस जलती मड़ैया को लेकर आगे बढ़ी, वह टूटकर उसके ऊपर गिर पड़ी। रुक्मिनि को अग्नि-समाधि मिल गयी। पयाग भी काफी जल चुका था। उसकी दवा-दारू होती रही, पर वह बचा नहीं, कुछ ही दिनों में मर गया।

मैकू—ताड़ीखाने में स्वयंसेवकों का पहरा था। जो कोई आता स्वयंसेवक उसे रोकते, जमीन पर लेट जाते, छाती पर पैर रखकर जाने को कहते। कोई क्रुद्ध होता, मारता-पीटता, तो खुशी से सहन करते, मन में मलाल न आने देते। एक दिन प्रसिद्ध पियक्कड़ मैकू और कादिर भी वहीं पहुँचे। स्वयंसेवकों ने उन्हें भी रोका। मैकू ने रोकनेवाले स्वयंसेवक को खूब कसकर एक तमाचा लगाया। पाँचों उँगलियाँ उसके गाल पर उभर आयीं। मैकू भीतर गया। परन्तु इसी बीच उसके मन ने उसे धिक्कारा। उसने अपनी आँखों स्वयंसेवक के गाल पर पाँचों उँगलियों की छाप देखी थी। उसे ग्लानि हुई। ठेकेदार ने उसे बढ़िया शराब भेंट की, पर उसने अस्वीकार कर दी। उसने मुफ्त पीने को कहा, पर मैकू को वह भी स्वीकार न था। सारा दृश्य उसे काट-सा रहा था। वह वहाँ के पियक्कड़ों को देखकर सहसा उत्तेजित हो उठा, डंडा उठाया और सबको पीट चला। ठेकेदार को भी मारा और शराब के सारे भाँडे उलट दिये। ताड़ीखाना खाली हो गया।

समर-यात्रा—गाँव में स्वयंसेवकों का दल आनेवाला था। स्वागत की तैयारियाँ हो रही थीं। कोदई चौधरी के दरवाजे पर शामियाना लग रहा था। स्वेच्छापूर्वक सभी अपना-अपना उपहार लिये पहुँच रहे थे। गाँव की सबसे बूढ़ी महिला नोहरी थी। उसने कभी अच्छे दिन देखे थे, पर आज वह विपन्न थी; फिर भी उसके दिल में नई उमंग लहरें ले रही थीं। उसने गांधी बाबा का नाम सुन रक्खा था। उन्हें देख भी चुकी थी। आज उन्हीं की पलटन उसके गाँव आ रही थी। ज्योंही स्वयंसेवकों का जत्था पहुँचा, नोहरी ने अपने आनन्द-नृत्य द्वारा उसका स्वागत किया। गाँव-भर के लोग नोहरी का यह चमत्कार देखकर दंग रह गये। कुछ देर बाद स्वयंसेवकों के नायक का जनता की सभा में भाषण होने लगा। उन्होंने सत्याग्रह में शरीक होने के लिए गाँव-

वालों का आह्वान किया था। भाषण चल ही रहा था, इतने में पुलिसवालों ने आकर सभा को घेर लिया। भगदड़ मच गयी। सभास्थल खाली हो गया। केवल नोहरी बची थी। उसने दारोगा साहब को खूब फटकारा। उसकी इस फटकार से कोदई चौधरी को भी बल मिला और वे भी दारोगा के सवालों का साफ-साफ जवाब देने लगे। और लोग भी धीरे-धीरे एकत्र होने लगे। दारोगा ने कोदई को गिरफ्तार किया और स्वयंसेवकों के नायक को डाँटते हुए तरह-तरह के सवाल करने लगा। नायक शांत भाव से सब सवालों का जवाब देने लगे। धीरे-धीरे और भीड़ बढ़ने लगी, लोग एकत्र होने लगे। भारतमाता की जयजयकार ने लोगों के मन से भय का भूत भगा दिया। नायक ने गाँव से सत्याग्रही माँगे। तुरंत पाँच सत्याग्रही सत्याग्रह-सेना में नाम लिखाने आये। सबके नाम लिख लिये गये। दूसरे दिन प्रातःकाल गाँव की भीड़ गये सत्याग्रहियों को विदा करने के लिए गाँव के मुहाने तक गयी। नोहरी भी साथ थी, सबकी उमंग बढ़ा रही थी।

× × ×

यदि हम ऊपर की कहानियों को प्रेमचन्दजी की कहानी-कला का औसत उदाहरण मान लें, और यह भी स्वीकार कर लें कि इन कहानियों में जो विषय, जो विचारणा, जो जीवन-दृष्टि और जो आदर्श प्रेमचन्दजी के हैं, वे उनकी कहानियों का पतिनिधित्व करते हैं, तो हमें इनके विवेचन द्वारा प्रेमचन्दजी की कहानी-कला का मूल्यांकन करने में सरलता होगी। आरम्भ में हम नारी-सम्बन्धी कहानियों को लेकर देखते हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि वे सभी कहानियाँ भारतीय नारी को उच्च कर्त्तव्य की ओर अग्रसर करने का लक्ष्य रखती हैं। निर्माण की दृष्टि से इनमें सभी कहानियाँ एक ही स्तर की नहीं हैं, परन्तु सभी एक उच्च आशय को लेकर अवश्य लिखी गयी हैं। 'आहुति' कहानी निर्माण-कौशल की दृष्टि से अत्यन्त साधारण है। दो पुरुष पात्रों के बीच एक नारी का कभी इस ओर और कभी उस ओर खिंचना कहानियों की एक पिष्टपेषित विशेषता है। आनन्द में कतिपय गुण हैं, जिनकी ओर रूपमणि आकृष्ट होती है। विश्वम्भर में वे गुण नहीं हैं, परन्तु उसमें एक विशेषता है जो आनन्द की सारी विशेषताओं से ऊपर उठ जाती है। उसमें राष्ट्र की सेवा करने की

लगन है। यही एक गुण रूपमणि को उसकी ओर आकृष्ट कर लेता है, जिसके कारण वह आनन्द को छोड़कर उसकी ओर हो लेती है। कला की दृष्टि से यह अत्यन्त साधारण कहानी है। इसमें चित्रित मनोविज्ञान भी कोई विशेषता नहीं रखता। घटनाओं का उल्लेख भी सामान्य स्तर का ही है। बस, इसमें केवल देश-सेवा के आदर्श के प्रति नायिका का झुक जाना दिखाया गया है। कहानी भावात्मक, आदर्शात्मक और प्रचारात्मक विशेषताओं से ऊपर नहीं उठ पायी।

'कायर' कहानी भी किसी ऊँचे कलात्मक स्तर पर नहीं पहुँचती। प्रेमी-प्रेमका को वचन देकर बदल जाता है। प्रेमिका अधिक दृढ़ता का परिचय देती है। वह माता-पिता से अपना स्पष्ट आशय बता देती है, किन्तु प्रेमी में इतना साहस नहीं कि वह आस-पास की परिस्थिति से ऊपर उठ सके। तुलना में प्रेमिका का चरित्र अधिक ऊँचा उठाया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त कोई बड़ी विशेषता कहानी में नहीं आयी।

'निष्कासन' को तो कहानी कहना भी कठिन है। हम परशुराम और मर्यादा को आमने-सामने बातें करते हुए देखते हैं। मुश्किल से पाँच मिनट बातें हुई होंगी। इसी बीच मर्यादा ने अपने पिछले सात दिनों की आकस्मिक और संकट-पूर्ण कहानी संक्षेप में सुनायी। कोई परिणाम न निकला। पति ने उसे घर से निकाल ही दिया। इस कहानी में, यदि यह कहानी कही जाय, केवल एक व्यंग्य है—पुरुष की कठोरता और उसकी रूढ़िवादिता के प्रति। व्यंग्य तीव्र और प्रभावशाली है, परन्तु इसके अतिरिक्त कहानी के कोई तत्व इसमें नहीं मिलते।

शेष दो कहानियाँ 'बड़े घर की बेटी' और 'शान्ति' अपेक्षाकृत अच्छी कहानियाँ हैं। 'बड़े घर की बेटी' में भावात्मक उतार-चढ़ाव काफी सुन्दर चित्रित हुए हैं। साथ ही आनन्दी का आदर्शात्मक चरित्र भी झलक उठा है। परन्तु इस कहानी से कहीं अधिक सुन्दर 'शान्ति' नामक कहानी बन पड़ी है। पति के मरजाने पर एक सभ्य और शिक्षित परिवार की नारी के ऊपर उत्तरदायित्व की भावना कितनी प्रबल हो उठती है, यह अनुभव और निरीक्षण की वस्तु है। पत्नी की यह इच्छा कि उसकी पुत्री का विवाह उसी साज-बाज के साथ हो,

वैसे ही उपयुक्त वर को वह सौंपी जाय जैसे वर को पिता जीवित रहता तो पुत्री को सौंपता, कितनी स्वाभाविक और तथ्यपूर्ण है। यह तो कहानी का पहला पहलू हुआ। उसका दूसरा पहलू, जो सुनीता और उसके नवविवाहित पति से सम्बन्ध रखता है और भी मार्मिक बन पड़ा है। सुनीता को यह स्वीकार नहीं कि उसका पति चाहे किसी भी कारण हो, उसकी उपेक्षा करे। नारी का यह सहज संकल्प बड़े कौशल के साथ चित्रित हुआ है। इस संकल्प पर स्थिर रह-कर सुनीता मृत्यु का भी सामना करती है। इससे कहानी में मार्मिक प्रभाव-शालिता आ गयी है। इस कहानी का निर्माणात्मक कौशल, भावात्मक और बौद्धिक स्तर, जीवन-सम्बन्धी अनुभव की मार्मिकता और समाज का एक प्रगति-शील उद्देश्य, सभी कुछ उच्च श्रेणी के हैं। प्रेमचन्दजी की सुन्दरतम कहानियों में इसकी गणना की जा सकती है।

प्रेमचन्दजी की ग्राम-सम्बन्धी कहानियाँ भी कला, वस्तु-चित्रण और भाव-चित्रण की दृष्टि से कई स्तरों की हैं। 'अलग्योझा' आवश्यकता से अधिक लम्बी कहानी है, परन्तु पूरी कहानी में आकर्षण कम नहीं होता। इसमें भी कई उतार-चढ़ाव हैं, परन्तु ये उतार-चढ़ाव लम्बे समय के अन्तर्गत घटित होते हैं। इसलिए इसमें वह प्रभावशालिता नहीं, जो 'बड़े घर की बेटी' के उतार-चढ़ाव में है। पन्ना का रग्घू से चिढ़ना किन्तु रग्घू का पन्ना के लड़कों से हिले-मिले रहना; मुलिया की पन्ना के प्रति अन्यमनस्कता, किन्तु पन्ना के लड़के केदार का उसी मुलिया से आकृष्ट होना और विवाह कर लेना, वस्तु-वैषम्य का अच्छा उदाहरण उपस्थित करते हैं। फिर भी कहानी कदाचित् श्रेष्ठतम श्रेणी की नहीं बन पायी, जिसका कारण उसकी दीर्घता है।

'मुक्ति-मार्ग' में भी बुद्धू और झींगुर के बीच बड़ी दूर तक खींच-तान चलती रहती है। घटना-चित्रण में नाटकीय तत्व के साथ-साथ वैचित्र्य भी मिला हुआ है। ये दोनों एक दूसरे के दुश्मन हैं, पर मिलकर दुश्मनी करते हैं। मैत्री की आड़ में वैमनस्य चलता रहता है। किन्तु इस मनोविज्ञान की अपेक्षा कहानी का अंत अधिक प्रमुख हो गया है। वैमनस्य का फल दोनो व्यक्तियों को एकदम विपन्न कर देने में दिखाया गया है। इस फल या परिणाम की ओर हम इतनी जोर से खींच दिये जाते हैं कि कहानी के भीतर का मनो-

वैज्ञानिक चमत्कार पीछे छूट जाता है। सन्तुलन का अभाव इस कहानी का दोष है।

'बलिदान' कहानी में हरखू की गरीबी और उसके लड़के गिरधारी की बढ़ती हुई लाचारी का चित्रण काफी संवेदना-पूर्ण है। परन्तु गिरधारी के मर जाने पर उसका भूत होकर खेत में बैठना और कालिकादीन का भय से खेत को छोड़ बैठना, कहानी के प्रभाव को अनावश्यक रूप से हलका कर देते हैं। सामान्य जीवन से परे प्रेमचन्दजी जहाँ कहीं 'अलौकिक' तत्वों को लाते हैं, वहाँ वह प्रायः कहानी की मार्मिकता घटा देते हैं। उनमें इस प्रकार के वस्तु-निरूपण का सम्यक् सामर्थ्य नहीं है।

'शंखनाद' कहानी में भी वर्णन का कौशल अच्छा दिखायी देता है। तीनों भाइयों की अलग-अलग स्थितियों और मनोवृत्तियों का चित्रण कथा में रोचकता लाता है। विशेषकर गुमान के स्वभाव-चित्रण में सुन्दर रेखाओं का विनियोग हुआ है। कहानी अन्त में मनोवैज्ञानिक बना दी गयी। मनोवैज्ञानिक ही नहीं, उसमें उपदेशात्मकता का पुट भी रख दिया गया है। किसी चित्रण-प्रधान कहानी के अन्त में मनोविज्ञान की ऐसी योजना चित्रण के सौन्दर्य को घटा देती है और यदि उस मनोविज्ञान में उपदेशात्मकता भी निहित हो, तब तो कहानी का स्वारस्य और भी घट जाता है।

'पूस की रात' इस दृष्टि से एक उत्तम कहानी है। वह छोटी है पर बड़ी मर्मपूर्ण। ज्योंही घर की सारी पूँजी, तीन रुपए, महाजन को दे दिये जाते हैं, कहानी आरम्भ होती है, विपत्ति आरम्भ होती है। रात में खेत ताकने का सारा चित्रण बहुत ही सटीक उतरा है। किसान और कुत्ते की पारस्परिक चर्चा कहानी में एक अजीब टीस पैदा करती है और अन्त में खेत चर जाने पर किसान का प्रसन्न होना प्रभाव को पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है। कहानी का निहित उद्देश्य—गरीबी का व्यंग्यपूर्ण चित्रण—पूरी स्पष्टता के साथ उतर सका है, परन्तु विशुद्ध व्यंजना के रूप में; कहीं किसी उपदेश के द्वारा नहीं।

मनोवैज्ञानिक कहानियों में 'माता का हृदय' और 'पंच परमेश्वर' भावात्मक या आदर्शात्मक मनोविज्ञान को ले कर चली हैं। माधवी अपने पुत्र का बदला लेने गयी थी, पर विरोधी के पुत्र को अपने घर ला रखती है। उसकी

आरम्भिक उत्तेजना से उसके अन्तिम सौमनस्य तक जो घटनाएँ घटित होती हैं, वे बहुत कुछ स्वाभाविक हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक नारी, या औसत नारी भी, उसी पथ का अनुसरण करेगी, जिस पथ का अनुसरण माधवी ने किया। फलतः यह कहानी भावना-प्रधान हो गयी है। यही बात 'पंच परमेश्वर' कहानी की भी है, जिसमें अलगू और जुम्मन, जो आपस में बारी-बारी से मैत्री और झगड़ा कर चुके हैं, पंच के आसन पर पहुँचकर ऐसा फैसला करते हैं, जो सच्चे अर्थों में न्यायपूर्ण है, जिसमें व्यक्तिगत सम्बन्ध का कोई असर नहीं। कहानी आदि से अन्त तक उपयुक्त वातावरण का निर्माण करती है और यह कहीं से बोध नहीं होता कि लेखक जान-बूझकर किसी उपदेश की योजना कर रहा है। वस्तुतः ऐसी कहानियों को ही वातावरण-प्रधान कहानी कहा जा सकता है।

'नशा' और 'बड़े भाई साहब' कहानियाँ मनोविज्ञान की स्वाभाविक गति-विधि को लेकर उपस्थित होती हैं। 'नशा' कहानी में एक साधारण परिवार का युवक एक सम्पन्न परिवार में पहुँच जाने पर किस प्रकार व्यवहार करता है, इसी का विवरणपूर्ण उल्लेख किया गया है। 'बड़े भाई साहब' कहानी में भी बड़े भाई का नैसर्गिक बड़प्पन चित्रित किया गया है। वे जानते हैं कि उनका यह बड़प्पन अयथास्थान है—गलत जगह पर है। फिर भी बड़े भाई की स्वाभाविक गरिमा उनको बाध्य करती है। भीतरी परिस्थिति में भी उनके बड़प्पन के संस्कार उनका पीछा नहीं छोड़ते। इन दोनों कहानियों में मनोवैज्ञानिक चित्रण काफी गहरा है, परन्तु उतना गहरा नहीं, जितना 'कफन' कहानी में। 'कफन' कहानी की विशेषता यह है कि इसमें मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ एक कठोर सामाजिक वास्तविकता भी चित्रित हुई है। बल्कि यह कहना चाहिए कि सामाजिक चित्रण के अन्तर्गत ही मनोवैज्ञानिक छाया-चित्र उपस्थित हुए हैं। घीसू और माधव का चोरी के आलू खाना—उस समय जब माधव की स्त्री प्रसव-वेदना से मरणासन्न हो रही है, और दुबारा उन दोनों का शराब की दूकान पर ताड़ी पीना—उस पैसे से, जो कफन के लिए चन्दे में मिले हैं, अत्यन्त मर्मपूर्ण जीवन-परिस्थिति के द्योतक हैं। यह चित्रण मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान का चित्रण नहीं है, बल्कि जीवन की वास्तविकता का चित्र

है। इसी कारण यह चित्र इतना मार्मिक हो सका है। घीसू और माधव अपने समस्त अवगुणों और दोषों के रहते हुए भी हमारी सहानुभूति से वंचित नहीं होते। पाठक का सारा ध्यान समाज के उस प्रपीड़न की ओर खिंच जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप घीसू और माधव, घीसू और माधव हैं!

शेष कहानियों में से सामाजिक स्थितियों और प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखनेवाली एक कहानी 'शान्ति' है, जिसमें एक पत्नी पति के आदेश से पुरानापन छोड़कर 'नवीना' बनती है, पर फिर उसी की इच्छा से पुरानेपन को अपनाती है। इस बीच में पतिदेव इतने बड़े मानसिक परिवर्तनों से होकर गुजरते हैं कि उनका सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। यह भी एक उपदेशात्मक कहानी ही बनकर रह गयी है। इसका कथानक भी पिष्टपेषित है।

'ऐक्ट्रेस' कहानी भी यथार्थ चित्रण के साथ भावात्मकता को प्रमुख बना कर लाती है। तारा और निर्मलकान्त प्ररस्पर प्रेम-प्रस्ताव करते हैं। दोनों विवाह की तैयारी करते हैं, पर समय के ठीक पहले ऐक्ट्रेस तारा को यह ज्ञात होता है कि वह निर्मलकान्त के प्रति अन्याय कर रही है। उसकी आयु निर्मल की आयु से अधिक है। बस, यहीं से उसका मन बदल जाता है और वह विरक्त होकर कहीं चली जाती है। लेखक ने तारा के द्वारा जो आत्मचिन्तन कराया है, वह भावुकतापूर्ण है।

'अग्निसमाधि' में प्रेमचन्दजी ने प्रतीक-योजना करने की चेष्टा की है। जब पयाग अपनी लाठी पर जलती हुई मड़ैया को लेकर दौड़ता है, तब यह आभाषित होता है कि यह जलती हुई मड़ैया वस्तुतः कोई प्रतीक है। इसी ज्वलित अग्नि में रुक्मिनि भी आ फँसती है और उसी अग्नि-समाधि में मिल जाती है। इस प्रतीक-योजना में प्रेमचन्दजी पूर्णतः सफल नहीं हुए। ऐसी कहानियों में प्रस्तुत या प्रत्यक्ष वस्तु को, अप्रस्तुत या अप्रत्यक्ष वर्णन द्वारा, बड़े कौशल से व्यक्त करना पड़ता है। इस प्रकार का बौद्धिक कौशल प्रेमचन्दजी में कम है।

'मैकू' और 'समर-यात्रा' कहानियाँ सीधे राजनीतिक आन्दोलनों से सम्बन्ध रखती हैं। कला में इतने ऊपरी स्तर का प्रत्यक्ष चित्रण बहुत उपादेय नहीं हाता। सम्भावना यह रहती है कि वस्तु-जगत अपनी सत्ता को कहानी के

कल्पना-जगत में पूरी तरह खो नहीं देगा और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कहानी में कलात्मक प्रौढ़ता नहीं आ सकेगी। यही बात इन दोनों कहानियों के सम्बन्ध में चरितार्थ हुई है। 'मैकू' कहानी में तो कहानी का कोई रंग ही नहीं चढ़ा। एक व्यक्ति ताड़ीखाने में आता है; स्वयंसेवक को, जो धरना दे रहा है, एक तमाचा लगाता है और उसी क्षण वह ताड़ीखाने और शराब से नफरत करने लगता है! इतनी जल्दी ऐसा आकस्मिक परिवर्तन, न तो यथार्थ है और न मनोवैज्ञानिक। परन्तु कहानी ने इतना अवसर ही नहीं दिया कि यह भाव-परिवर्तन स्वाभाविक बन पाता। प्रत्यक्ष घटना की मोटी भूमिका पर कहानी खड़ी करने की यह एक स्पष्ट त्रुटि है। 'समरयात्रा' कहानी भी कहानी न होकर एक दिन की घटना-शृङ्खला ही ठहरती है। समय की सीधी पगडंडी पर घटनाओं की परेड कहानी नहीं कहलाती। यदि इस घटनाक्रम में नोहरी का विलक्षण व्यक्तित्व न आता, तो कहानी और भी बेजान हो जाती। कहानी का अन्तिम अंश राष्ट्रीय भावात्मकता से भरा हुआ है। प्रेमचन्दजी को पुनः एक अनुकूल वातावरण बनाना पड़ा है, जिसमें कहानी का भावात्मक उद्देश्य अस्वाभाविक न प्रतीत हो। परन्तु वातावरण के निर्माण में प्रेमचन्दजी को इस कहानी में वह सफलता नहीं मिली, जो 'पंच परमेश्वर' में मिली है। इसका कारण भी कदाचित् यही है कि अत्यन्त प्रत्यक्ष राजनीति सौम्य और संयत कला का विषय नहीं बन सकती।

× × ×

अब हमें प्रेमचन्दजी की समस्त कहानियों पर एक साथ भी विचार कर लेना है। सबसे पहले हम उनकी कहानियों के निर्माण-क्षेत्र को देखते हैं। लेखक की कल्पना, उसकी रुचि और अध्ययन, उसकी जीवन-सम्बन्धी अभिज्ञता उसे कितने व्यापक क्षेत्रों में ले गयी है? यहाँ हम यह कहने को बाध्य होते हैं कि प्रेमचन्दजी की कहानियों का क्षेत्र बहुत अधिक प्रसरित नहीं है। उन्होंने सामयिक जीवन की ही कहानियाँ लिखी हैं और वे भी प्रायः राष्ट्रीय उत्थान के विशिष्ट उद्देश्य से। उनकी कल्पना तथा उनके अध्ययन और अनुभव उनको जीवन के विविध क्षेत्रों में नहीं ले जा सके और स्पष्ट लक्ष्य की प्रमुखता के कारण उनकी कहानियों में तटस्थ चित्रण, वस्तु का स्वतन्त्र निरीक्षण और स्वतन्त्र परिणाम-दर्शन पूरी मात्रा में नहीं आ पाया। यह उनकी कहानियों की मुख्य

सीमा है, परन्तु इस सीमा के अन्तर्गत उन्होंने विस्तृत और अशेष कार्य किया है। उनकी कहानियों की संख्या और परिणाम किसी बड़े कलाकार के ही उपयुक्त हैं। हम कह सकते हैं कि वस्तु-चयन में और व्यापक रूप से वस्तु-ग्रहण की क्षमता में जो कमी दिखायी देती है, उसकी बहुत कुछ पूर्ति प्रेमचन्द-जी ने सीमित वस्तु की विविधता और अनेकरूपता द्वारा पूरी कर ली है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रेमचन्दजी की मुख्य प्रेरणा, जिसके आधार पर उन्होंने कहानियों का निर्माण किया, प्रगतिशील थी। वे समाजहित और समा-जोत्थान की भावनाओं से प्रेरित थे। इस मूल प्रेरणा के कारण प्रेमचन्दजी की कहानियों में एक विलक्षण आशावाद, मानव-महत्त्व के प्रति अमिट विश्वास और समाज की अनिष्टकारी शक्तियों के विरुद्ध एक कठोर व्यंग्य का भाव भरा हुआ है। यह प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की विशेषता रही है और इसका शुभ परि-णाम उनकी कहानियों में सर्वत्र देखा जाता है। परन्तु इस उदात्त उद्देश्य के कारण अनेक स्थलों पर कलात्मक त्रुटियाँ भी रह गयी हैं। उदाहरण के लिए उनकी कितनी ही कहानियों में हलकी भावुकता, आदर्शात्मक और उपदेशात्मक प्रवृत्ति (जिसे इतिवृत्तात्मकता भी कह सकते हैं) स्थान पा गयी है। कहानियों में वस्तु और परिस्थिति के साथ भाव की जो संयुक्त और अविच्छेद्य सृष्टि होनी चाहिए वह अनेक बार उपेक्षित हो गयी है। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्दजी ने सर्वत्र वस्तु और भाव के नैसर्गिक तारतम्य का ध्यान नहीं रखा। वे भावना में बह गये हैं, जिससे उनकी कहानियाँ वास्तविक वस्तु-निरीक्षण और तज्जन्य प्रभावशालिता से अनेक बार वञ्चित रह गयी हैं। परन्तु अपनी प्रौढ़ कृतियों में प्रेमचन्दजी अधिक तटस्थ और अधिक मार्मिक निरीक्षण से काम ले सके हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनकी पिछले समय की कहानियाँ अधिक प्रभावशालिनी हुई हैं।

कला की दृष्टि से भी निरन्तर परिवर्तन होता गया है। यहाँ कला से हमारा तात्पर्य निर्माण-कौशल अथवा कहानी के विधान पक्ष से है। प्रेमचन्दजी की आरम्भिक कहानियाँ न केवल आकार में बड़ी हैं, वे दीर्घ समय का भी संग्रह करती हैं, जिससे उनमें गतिशीलता की कमी आ जाती है। अनावश्यक वर्णना-त्मक उनकी प्राथमिक कहानियों में अधिक है। आगे चलकर प्रेमचन्दजी की

कहानियाँ अधिक संयत होने लगीं, किन्तु मध्यकाल में भी उनकी कहानियों की वर्णनप्रधानता (descriptive element) पूरी तरह छूटी नहीं। नमूने के तौर पर यदि मध्यकाल की किसी एक कहानी को लेकर देखें, तो उसमें पूर्ववती कहानियों की अपेक्षा अधिक सचेत कला (निर्माण-कौशल) के दर्शन होंगे। 'एक्ट्रेस' कहानी ऐसी ही एक कहानी है। इसमें प्रेमचन्दजी ने नयी और उन्नततर शैली को अपनाया है, परन्तु इसमें भी प्रकरणों की कमी नहीं है। जिन कहानियों में प्रेमचन्दजी ने संख्या देकर अनेक-प्रकरणों की सूचना दी है, प्रायः वे सभी कला की दृष्टि से अनावश्यक विस्तार में चली गयी है। मुख्यतः एक ही प्रकरण लेकर उसे आदि से अन्त तक हीरे के कण की भाँति खूब तराशकर चमका देना कहानी के श्रेष्ठ कलाकार का कार्य होता है। प्रेमचन्दजी केवल दस प्रतिशत कहानियों में इस विकसित पद्धति का प्रयोग कर सके हैं। प्रेमचंद-जी की प्रायः सभी कहानियाँ सामाजिक पृष्ठभूमि पर वर्णनात्मक शैली में लिखी गयी हैं। उनमें शैली-सम्बन्धी विविधता भी नहीं है।

कहानी की श्रेष्ठता किस तत्त्व या किन तत्त्वों में है, इस पर विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी श्रेष्ठता प्रायः उन्हीं तत्त्वों में है, जिनमें अन्य साहित्यांगों की श्रेष्ठता रहा करती है। सबसे पहले लेखक या रचनाकार की कल्पना शक्ति का, उसकी उद्भावना का, विस्तार और वैशिष्ट्य देखना पड़ता है। यह शक्ति जितनी ही समृद्ध होगी, लेखक उतने ही विस्तृत जीवन-क्षेत्रों को कला का विषय बना सकेगा। इस कल्पना-शक्ति की सीमा में लेखक के व्यक्तित्व के वे सभी उपकरण आ जाते हैं, जो उसकी रचना में सहायक हुआ करते हैं। दूसरी मुख्य शक्ति लेखक की जीवन-दृष्टि होती है। स्वस्थ जीवन-दृष्टि का लेखक ही श्रेष्ठ कहानियों की उद्भावना कर सकता है। यदि उसकी कहानियों में अन्य अनेक त्रुटियाँ हैं, किन्तु उसकी जीवन-दृष्टि में उन्नायक प्रभाव वर्तमान है, तो उसकी उन अनेक त्रुटियों का परिमार्जन हो जाता है। प्रेमचन्दजी की कहानियाँ इस विशेषता से समन्वित हैं। तीसरी विशेषता कहानियों में निहित भावात्मक तत्त्व होती है। सच्चे अर्थों में प्रभावशाली भाव-सृष्टि जीवन की वास्तविक गतिविधि के निरीक्षण और चित्रण से आती है। वस्तुन्मुखी परिस्थितियाँ और उन पर काम करनेवाली मानव-चेतना जब

लेखक की तूलिका में सजीव होकर एकाकार हो जाती है। तभी सच्चा भावात्मक चित्र बन पाता है। कहानी की भावात्मकता कोई उधार ली हुई वस्तु नहीं होती। उसका जन्म और विकास लेखक के वास्तविक निरीक्षणों और अनुभवों में होता है। अतएव जिस लेखक में तटस्थ अनुशीलन के साथ सच्ची भावप्रवणता होगी, वही श्रेष्ठ कहानीकार बन सकेगा।

कहानी का अन्तिम वैशिष्ट्य उसमें निहित बौद्धिक तत्त्व से भी परखा जाता है। बौद्धिक तत्त्व ही जीवन-दृष्टि को दिशा देता है। बौद्धिक क्षमता एक ओर जीवनानुभवों से उत्पन्न होती है और दूसरी ओर उन्हीं अनुभवों को परिपुष्टता और विस्तार भी देती है। बिना अनुभव के बुद्धि का प्रयोग यदि शुष्क और एकांगी है, तो बुद्धि के योग के बिना अनुभवों में वास्तविक सजीवता नहीं आती। प्रेमचन्दजी की कहानियों में विचार पक्ष भी क्रमशः पुष्ट होता गया है और उनकी प्रौढ़ काल की कृतियों में उनकी बौद्धिकता कहानियों को सुन्दर रीति से आलोक देती रही है। सच पूछिए तो लेखक की कल्पनाशक्ति, उसकी भावात्मकता और उसकी बौद्धिक क्षमता सभी तत्त्व बहुत कुछ अभेद्य हैं और कलाकार के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं। इन समस्त शक्तियों के पूर्ण समाहार से ही श्रेष्ठ कलाकृतियों का उद्भव होता है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्दजी की कहानियों में उत्तरोत्तर इन तत्त्वों का समुचित विकास और समाहार होता गया है, परन्तु उच्चतम स्तर की निर्माण-क्षमता प्रेमचन्दजी की थोड़ी ही कहानियों में पायी जाती है। वे साधारण और व्यापक प्रयोजन की दृष्टि से श्रेष्ठ कलाकार हैं किन्तु विशिष्ट और सूक्ष्म प्रयोजन की पूर्ति थोड़ी ही कहानियों में कर पाये है।

———

प्रेमचन्द : कहानीकार

[श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त]

कहानी का जन्म पूर्व में हुआ। आजकल भी सिन्दबाद और अलादीन अथवा हितोपदेश की कहानियों से हमारा मनोरंजन होता है। परन्तु आधुनिक साहित्यिक गल्प कई शताब्दियों तक पश्चिम में निवासकर अब पूर्व को लौटी है। सेन्ट्सबरी के कथनानुसार कहानी के चार अंश होते हैं। कथानक (Plot), चरित्र-चित्रण (Characters), वर्ता (Dialogue) और वर्णन अथवा वातावरण (Description)। पश्चिम के, विशेषकर इङ्गलैण्ड के, कहानीकारों का कथानक अनाकर्षक होता है। चरित्र-चित्रण ही उनका सफल होता है।

यह स्वाभाविक-सी बात मालूम होती है कि पूर्व में फिर उत्कृष्ट कहानी-लेखकों का जन्म हो, क्योंकि इस कला में पूर्व सदा से निपुण रहा है। केवल कहानी का रूप बदल गया है।

प्रेमचन्द ने 'मानसरोवर' के 'प्राक्कथन' में लिखा है—'सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' 'प्रेम द्वादशी' की भूमिका में आपने लिखा है—'वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।' प्रेमचन्द का विशेष महत्त्व यह है कि अपने उपन्यास और कहानियों में उन्होंने भारत की आत्मा को सुरक्षित रखा है।

उनकी रचनाओं का स्मरण करते ही भारत के ग्राम, यहाँ का कृषक-वर्ग, उच्च-कुल की ललनाएँ, आम और करौंदे के पेड़, यहाँ के पशु-पक्षी स्मृति-पट पर घूम जाते हैं। आपकी रचनाएँ पढ़कर देश के मनुष्य और आदर्श हमारी दृष्टि में ऊपर उठ जाते हैं।

प्रेमचन्द और सुदर्शन दोनों ही पहले उर्दू में लिखते थे। 'सप्तसरोज' और 'सेवासदन' का उपहार देकर प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य में प्रवेश

किया। इन रचनाओं में जो रस, अनुभूति और प्रतिभा है, उसके आगे प्रेमचन्द न बढ़ सके।

उपन्यास और गल्प भिन्न कला है। यह आवश्यक नहीं कि सफल उपन्यासकार अच्छा गल्प-लेखक भी हो। उपन्यास में जीवन का दिग्दर्शन होता है, गल्प में केवल झाँकी मात्र होती है। मानव-चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को, किसी घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी लिखी जाती है। जीवन के सभी अंगों पर या मानव-चरित्र की सभी जटिलताओं पर कहानी प्रकाश नहीं डाल सकती। प्रेमचन्द लिखते हैं—'कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।

प्रेमचन्द सफल उपन्यासकार और गल्प-लेखक थे। इस लेख में हम उनकी कहानी-कला पर कुछ विचार करेंगे।

(२)

'सप्त-सरोज' प्रेमचन्द का पहला कहानी-संग्रह है। इसके विषय में शरद् बाबू ने यह सम्मति दी थी—'गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भावपूर्ण हैं। रवीन्द्र बाबू के साथ इनकी तुलना करना अन्याय और अनुचित साहस है। पर और कोई भी बंगला लेखक इतनी अच्छी गल्पें लिख सकता है या नहीं इसमें सन्देह है।

रवि बाबू की भाषा में जो माधुरी और रस है, उनकी रचना में जो अनुभूति और पीड़ा है, उसकी समता प्रेमचन्द नहीं कर पाते। परन्तु प्रेमचन्द की रचना में अपने अनेक गुण हैं, जो और कहीं नहीं मिलते। ग्रामीण कृषकों का हृदय कौन इतनी अच्छी तरह जानता है? गांधी के अतिरिक्त और किसने इतनी तपस्या से ग्राम्य-जग को पहचानता है? 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता का ऐसा चित्रण और कहाँ मिलेगा?

ग्राम्य-जग का चित्र खींचते हुए आप कहते हैं—'वहाँ आम के वृक्षों के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज दाँते थे; और जब चाहते भूसे में मुँह डालकर अनाज का एक गाल खा लेते थे। गाँव के बढ़ई और चमार, धोबी और

कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजाकर अपने कर्तब दिखा रहा था। कवीश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमङ्ग पर थी।'

—'उपदेश', सप्त-सरोज।'

इस संग्रह में दो कहानियाँ तो बड़ी ही उच्चकोटि की हैं—'बड़े घर की बेटी, और 'पंच-परमेश्वर'। किसी भी साहित्य को ऐसी रचनाओं पर गर्व हो सकता है।

'बड़े घर की बेटी' छोटे-से गाँव में आयी, जहाँ वह रेशमी स्लीपर न पहन सकती थी, जहाँ नाम के लिए कोई सवारी भी न थी। न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवारों पर चित्र। फिर भी उसने यहाँ की गृहस्थी सम्भाल ली। एक बार खाना बनाते समय देवर से कहा-सुनी हो गयी और उसने आनन्दी को खड़ाऊँ खींच मारा। वह बहुत रोयी। उसके पति भी झल्लाये। घर से अलग होने की नौबत आ गयी। अब उसका देवर भी पछता रहा था और आँसू बहा रहा था। आनन्दी पिघली। उसने बीच-बचाव कर शान्ति करवा दी।

मानव स्वभाव का यह बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्र है। प्रेमचन्द की रचनाओं को पढ़कर मनुष्य पर हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है। उनमें वास्तविकता और आदर्शवाद का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। हम यह कभी नहीं सोचते कि यह चरित्र कल्पना-जग के हैं। उनके वर्णन में वास्तविकता होती है, किन्तु उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी रहता है।

जो कथा-शैली प्रेमचन्द ने यहाँ अपनाई उसको अन्त तक निभाया। 'बड़े घर की बेटी' एक हद तक कठोर होती चली जाती है, फिर अत्यन्त नम्र हो जाती है। जैसे लोहे की पत्ती जितने जोर से खींची जायगी, उतनी ही शक्ति से वह उचटेगी। या धनुष की प्रत्यञ्चा जितनी ही खींची जायगी उतनी ही दूर वह बाण को फेंकेगी। उनकी इस शैली को गणित की रेखाओं से समझ सकते हैं। एक हद तक कथा का चढ़ाव होता है; फिर वह पीछे हट जाती है।

इसी प्रकार 'पंच-परमेश्वर' भी एक हद तक गिरते हैं, फिर सँभल जाते हैं। पिछले वर्षों की लिखी हुई कहानियों के संग्रह 'मानसरोवर' में भी इस शैली की अनेक गल्पें मिलती हैं।

प्रेमचन्द में सच्चे साहित्यकार की सब अनुभूतियाँ थीं। मनुष्य-स्वभाव पर उन्हें श्रद्धा थी। कसौटी पर चढ़कर मनुष्य सच्चा ही उतरता है। उदाहरणार्थ, कुछ बाद की लिखी कहानी 'ईश्वरीय न्याय।'

उनकी भाषा ग्रामीण-जीवन-सी ही सीधी-सादी है। उनकी उपमाएँ दैनिक जीवन से ली गयी हैं। 'जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य जरा-जरा-सी बात पर तिनक उठता है।' (बड़े घर की बेटी) 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठ देने पर भी कहीं-न-कहीं से टूट ही जाती है।' (सौत)।

भाषा मुहावरेदार काफी है। 'पहले घर में दिया जलाते हैं, फिर मस्जिद में।' कहीं-कहीं पर बड़ा कोमल व्यंग्य है। 'इञ्जिनियरों का ठेकेदारों से कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मधुमक्खियों का फूलों से। यह मधुरस कमीशन कहलाता है। कमीशन और रिश्वत में बड़ा अन्तर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों ही का सर्वनाश कर देती हैं। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहाँ न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय....।' (सज्जनता का दण्ड)।

'सप्त-सरोज' में प्रेमचन्द की कहानी-कला का जो रूप बना, वह अन्त तक बना रहा। इधर कुछ उसमें परिवर्तन होने लगा था, किन्तु अनेक वर्षों तक उनकी कथा के पात्र ऐसे ही वातावरण में, ऐसे ही स्वरूप से भ्रमण करते रहे।

(३)

'नव-निधि' में बहुत करके ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। कहानियाँ सभी मनोरंजक हैं। किन्तु प्रेमचन्द की गल्प-कला इन कहानियों में उतनी उच्च कोटि की नहीं। कथानक के उतार-चढ़ाव में और चरित्र-चित्रण में लेखक की कल्पना को उतनी स्वतन्त्रता नहीं। प्रेमचन्द की कहानी कला का एक विशेष गुण कथानक-गुम्फन है। कसीदे के समान घटना का जाल उनकी कल्पना बनाती है। किन्तु 'नव-निधि' में उनकी कल्पना बँध-सी गयी है।

ऐतिहासिक कहानी की नस्ल खच्चर के समान है। न वह इतिहास है, न

सफल कहानी ही। लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephen) ने उसे वर्ण संकर (Hybrid) बताया है। ऐतिहासिक कहानी तब सकल होती है, जब ऐतिहासिक वातावरण में कल्पना के चरित्र विचरें। ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर कहानीकार अपनी सब स्वतन्त्रता खो देता है। 'नव-निधि' में 'धोखा' नाम की कहानी सुन्दर है। शायद इसके पात्र और इसका कथानक कल्पित है।

'नव-निधि' की पिछली तीन गल्पें 'अमावस्या की रात्रि', 'ममता' और 'पछतावा' प्रतिभापूर्ण हैं। इनमें प्रेमचन्द की स्वाभाविक कहानीकला का चमत्कार है। जो शैली उन्होंने 'सप्तसरोज' में अपनायी थी, उसी को सफलतापूर्वक निबाहा है। इनमें मनुष्य के हृदय की, उसके भावों की अच्छी सूझ है।

यह ऐतिहासिक कहानियाँ अधिकतर मुगल साम्राज्य के मध्याह्नकाल की हैं। पहली दो कहानियाँ 'राजा हरदौल' और 'रानी सारन्धा' बुन्देलों की वीरता और आन का चित्रण हैं। इन कहानियों को पढ़कर मन में राजपूताने की वीर-कथाएँ हरी हो जाती हैं।

'प्रेम-पूर्णिमा' में प्रेमचन्द की कहानी-कला में कुछ विकास न हुआ। अधिकतर कहानी सुगठित हैं और 'सप्त-सरोज' के पथ पर चली हैं। 'ईश्वरीय न्याय', शंखनाद', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन', आदि कहानी 'पंच-परमेश्वर' और 'घर की बेटी' जैसी उत्कृष्ट कहानियों से टक्कर लेती हैं। 'शङ्खनाद' और 'दुर्गा का मन्दिर' तो प्रेमचन्दजी ने अपने 'प्रेम-द्वादशी' नामक बारह सर्वोत्तम कहानियों के संग्रह में भी रखी है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'सप्त-सरोज' और 'प्रेम-पूर्णिमा' के बीच उनकी कला का कुछ ह्रास ही हुआ। अधिकतर कहानियाँ पुरानी लिखी हुई जान पड़ती हैं, अथवा यह हो सकता है कि उनकी कला एक परिपाटी को अपनाकर विकसित न हो सकी।

प्रेमचन्द का विशेष गुण उनका मनोविज्ञान है। हृदय के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव समझने में वे निपुण हैं। 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन' आदि गल्पें इसी सूझ के कारण सफल हैं।

जहाँ ग्राम्य-जग की ओर प्रेमचन्द ने मुख मोड़ा है, वहाँ उन्होंने आशातीत सफलता पायी है। 'शंखनाद' नाम की कहानी में ग्राम्य-जीवन का विशद वर्णन

है। पात्रों के नामों तक में ग्रामीणता भरी है। उनके नामों से हमें काफी सन्तोष मिलता है—भानु चौधरी के लड़के वितान, शान और गुमान चौधरी, मिठाई बेचनेवाला गुरदीन; गुमान चौधरी का लड़का धान। गुमान के व्यसन—मुहर्रम में ढोल बजाना, मछली फँसाना, दंगल में भाग लेना। इस ग्राम्य-जीवन के चित्रण में अवश्य ही दैवी शक्ति है।

किन्तु बार-बार हमारे मन में उठता है कि प्रेमचन्द मध्य-वर्ग के मनुष्यों को नहीं पहचानते, विशेषकर नगर के मध्य-वर्ग को। न इनसे प्रेमचन्द को कुछ सहानुभूति ही है। जिस प्रकार ग्राम में इतनी पीड़ा होते हुए भी ग्रामीण के हृदय में उदारता है, उसी तरह अनेक नागरिक भी हृदय में व्यथा छिपाये पड़े हैं। रवि बाबू इन्हें खूब पहचानते थे।

प्रेमचन्द की विशेष अकृपा उन व्यक्तियों पर है जो पश्चिम की संस्कृति के दास हो चुके हैं। ऐसे मनुष्यों को धर्म और नीति का ज्ञान नहीं। 'धर्म-संकट' नाम की कहानी में कामिनी को अच्छी-भली अ-सती बना दिया है। जब देश में अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति अनुराग बढ़ रहा है, तब ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था।

परन्तु कलाकार का एक विशेष उत्तरदायित्व होता है। कला धर्म के आडम्बर से परे है। वह नैतिकता का ऊँचा उठता रूप हमें दिखाती है। 'प्रेम-पूर्णिमा' की कुछ कहानियों से हमें ऐसा भासित हुआ कि यदा-कदा उनकी कला, धर्म आदि के आडम्बर से दब गयी है। 'सेवा-मार्ग', 'शिकारी राजकुमार' और 'ज्वालामुखी' कुछ इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

कहानी के इतिहास में नैतिक कथा का स्थान बहुत नीचा है। 'हितोपदेश' और 'ईसप' की कथाएँ बच्चे ही अधिक चाव से पढ़ते हैं।

कभी-कभी तो ईसप की कथाओं के नैतिक विचार की भाँति प्रेमचन्द भी अपनी कहानियों का अन्त मोटे अक्षरों में छापते हैं। 'यही ईश्वरीय न्याय है'; 'यह सच्चाई का उपहार है'; 'यही महातीर्थ है' आदि। हिन्दी के सौभाग्य से प्रेमचन्द की कला का यह रूप अस्थिर रहा।

'प्रेम-पचीसी' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द की कला में कुछ नये अणु दीखे। इन कहानियों के लिखने के समय सत्याग्रह का बवंडर चल रहा होगा। प्रेमचन्द

के व्यक्तित्व का मनोहर अंश उनकी गान्धी-भक्ति है। अपनी कला से जो कुछ देश की सेवा वह कर सके, उन्होंने की। 'सुहाग की साड़ी', 'दुस्साहस' आदि राजनैतिक रंग लिये कहानियाँ हैं। 'आदर्श-विरोध' और 'पशु से मनुष्य' भी इसी गहन समस्या पर विचार हैं। गांधी आन्दोलन का सुन्दर रूप चित्र-कला में कनु देसाई ने दिखाया। प्रेमचन्द की कला को भी हम इस देश-व्यापी संग्राम से अलग नहीं कर सकते।

'मूढ़' और 'नाग-पूजा' में ऐसा लगता है कि शायद प्रेमचन्द जादू आदि पर विश्वास करते हों। जीवन में इतने रहस्य भरे पड़े है कि मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती है।

प्रेमचन्द पशु-जीवन से भी भली-भाँति परिचित हैं। 'स्वत्वरक्षा' एक घोड़े के चरित्र का दर्शन है। 'पूर्व-संस्कार' में जवाहर नाम के बैल का अच्छा वर्णन है। उनकी कहानियों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

'दफ्तरी', 'बोड़म', 'विध्वंस', आदि सूक्ष्म चरित्र-चित्र हैं। इस कला में प्रेमचन्द खूब दक्ष हैं। यदि ऐसे चित्र एकत्रित किये जायँ तो शायद ही जीवन का कोई अंग इनसे अछूता पाया जाय। प्रेम-पचीसी' की सर्वोत्तम कहानियों में 'बूढ़ी काकी' अवश्य गिनी जायगी। यह कहानी बड़ी सच्ची और मर्मभेदी है। 'लोकमत का सम्मान' उनकी अच्छी कहानियों से टक्कर ले सकती है।

किन्तु प्रेमचन्द को शायद 'आत्माराम' अधिक भाती थी। इसे उन्होंने 'प्रेम-द्वादशी' में भी स्थान दिया है। कहानी मनोरंजक है। किन्तु इसकी विशेषता घटना-प्राधान्य है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द का अपनी कला पर पूर्ण अधिकार है। कहानियों में एक प्रकार की सरलता-सी है। किन्तु जिस आशा को लेकर हम 'सप्त-सरोज' छोड़कर उठे थे, वह अभी पूर्ण नहीं हुई। कलाकार किसी एक लकीर का ही फ़कीर नहीं होता।

'प्रेम-प्रतिमा' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द ने उस आशा को पूरा किया।

(४)

'प्रेम-प्रतिमा' की कहानियाँ हिन्दी के उस जागृति-काल की हैं, जब 'माधुरी' के प्रकाशन ने हिन्दी में नव-जीवन-संचार किया था। इन कहानियों में प्रौढ़ता,

रस, विनोद सभी हैं।

'मुक्ति-धन', 'डिग्री के रुपये', 'दीक्षा', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ उनकी कला के सर्वोच्च शिखर पर हैं। इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि यह प्रेमचन्द के कला-जीवन का मधु-मास था। इन कहानियों में विचित्र स्फूर्ति और हृदय की उमङ्ग है।

'बूढ़ी काकी' में विनोद की झलक है; हृदय की व्यथा भी है। इस संग्रह में अनेक कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें निरा विनोद-भाव है।

'मनुष्य का परम धर्म', 'गुरु मन्त्र', 'सत्याग्रह' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। इनमें हिन्दुओं के पूज्य पण्डों का अच्छा खाका खींचा गया है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द की भाषा भी खूब निखर गयी है। मदिरा का वर्णन देखिए, 'सफेद बिल्लौर के गिलास में बर्फ और सोडावाटर से अलंकृत अरुण-मुखी कामिनी शोभायमान थी।' (दीक्षा) और देखिए—'उषा की लालिमा में, ज्योत्स्ना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-बिन्दु में भी वह सुषमा और शोभा न थी, श्वेत-हिम-मुकुट-धारी पर्वतों में भी वह प्राण-प्रद शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् विन्ध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।' (भूत)

इस संग्रह की अनेक कहानियाँ मुस्लिम संस्कृति के चित्र हैं—'क्षमा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात', 'लैला'। प्रेमचन्द की शैली इस विषय के सर्वथा अनुकूल है। कुछ उर्दू साहित्य के सम्बन्ध से, कुछ गान्धीजी के हिंदू-मुसलिम एकता के पाठ से प्रेमचन्द मुस्लिम संस्कृति को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

'शतरंज के खिलाड़ी' बड़े ऊँचे दर्जे की कहानी है। इसमें लखनऊ के नवाबी राज्य का सन्ध्या-काल दिखाया गया है। लेखनी में वही ओज और मार्मिकता है जो हम हसन निजामी की पुस्तक 'मुगलों के अन्तिम दिन' में देखते हैं—वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रङ्ग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-

विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिसरी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं; तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़कीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गँजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं।'

'बाबाजी का भोग', 'मनुष्य का परम धर्म' और 'गुरु-मन्त्र' प्रेमचन्द की शैली में भारी परिवर्तन की द्योतक हैं। इनमें भावों के उतार-चढ़ाव, घटना-चक्र-व्यूह, मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ आदि कुछ नहीं। यह जीवन की केवल झाँकी मात्र हैं। निबन्ध या स्केच से इनका निकट सम्बन्ध है। इन्हें अँग्रेजी में Slices from life—जीवन के टुकड़े कहते हैं। जैनेन्द्रजी ने इसी कला को अपनाया है। कभी-कभी तो यह कहानी निबन्ध मात्र होती है। इनका न कुछ आदि है, न अन्त है। केवल वास्तविक जीवन का एक टुकड़ा काटकर आपके सामने रख दिया गया है।

'मानसरोवर' में इस नवीन शैली की कहानियाँ यथेष्ट संख्या में हैं : 'मुक्ति का यश', 'बड़े भाई साहब', 'गृह-नीति', 'ठाकुर का कुआँ', 'झाँकी', 'आख़िरी हीला', 'गिला' इत्यादि। इन कहानियों का अन्त बड़ा स्वाभाविक है। जीवन में मृत्यु, आत्महत्या आदि ही नाटक का-सा अन्त नहीं होते। पहली कहानियों में प्रेमचन्द ऐसा अन्त बहुधा पसन्द करते थे।

'मानसरोवर' के प्राक्कथन में प्रेमचन्द ने कहा है, 'अब हिन्दी गल्प लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गयी है। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-

चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए अब स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव, स्पर्शी चित्रण है।......'

इस शैल की कहानियों में 'गिला' बड़ी सुन्दर है। यह चरित्र-झाँकी है।

यह स्पष्ट है कि 'मानसरोवर' के रचना-काल में प्रेमचन्द अपनी कला के एक-छत्र अधिपति थे। 'गोदान' से यह भावना और भी दृढ़ हो जाती है। 'अलग्योझा', 'ईदगाह' आदि कहानियाँ उनकी कला के शिखर पर हैं। यह लगभग उसी कोटि की हैं जिसमें शरत् बाबू की कहानी 'बिन्दो का लड़का' है, वही स्वाभाविकता, वही सरलता, कथा में वही धारा-प्रवाह।

हिन्दी के दुर्भाग्य से जब प्रेमचन्द की कला इतनी परिपक्व, उनकी शैली इतनी प्रौढ़ और उनकी भाषा इतनी रसमय हो गयी थी, उनका निधन हो गया।

(५)

कलाकार अपने स्वतन्त्र जग की सृष्टि करता है। एक क्षण के लिए प्रेमचन्द के आदर्श संसार को देखिए।

यहाँ कृषक-वृन्द ऋण और कष्ट से मुक्त, सुखी और स्वतन्त्र हैं। पूस की रात में वह आग के सामने तापते हुए पूर्वजन्म की कथा कहते हैं और सुख के गाने गाते हैं। जमींदारों का और सरकारी कर्मचारियों का मान-मर्दन हो चुका है। वह किसी अतीतकाल की कथा के समान मिथ्या और दूर हैं। यह राम-राज्य का पुनरागमन है।

मध्यवर्ग उदार, दयापूर्ण और सुसंस्कृत है। इनके जीवन पर भारत की प्राचीन संस्कृति की छाप है। यहाँ भारत की आत्मा भारतीय कलेवर में दीखेगी। पश्चिम के भौतिक रंग का यहाँ नाम-निशान भी नहीं।

यदि इस संसार में कोई रईस है, तो बिड़ला-बन्धुओं की भाँति दानी और दयालु है।

इस जग में कोई झगड़ा, कलह और अशान्ति नहीं। यहाँ हिन्दू और मुस्लिम एक दूसरे की संस्कृति को स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते हैं।

यहाँ आपको सब प्रकार के जीव मिलेंगे। दफ़्तरी, धोबी, बौड़म, ओझे, किसान, कहार, चमार; किन्तु सब नीयत के साफ़ और हृदय के उदार।

मुस्लिम संस्कृति के यहाँ आपको बड़े उच्च आदर्श दीखेंगे। किस प्रकार दाऊद ने अपने पुत्र की हत्या करनेवाले को क्षमा कर दिया, तैमूर का पाषाण-हृदय कैसे हमीदा के विचारों से पिघला, लैला के संगीत से किस प्रकार फ़ारस का राजकुमार मोहित होकर फ़क़ीर हो गया।

क्या यह जग केवल कल्पना-मात्र है? साम्यवाद के भक्त इस जग में विश्वास नहीं करते। यह कल्पना मात्र है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने प्रेमचन्द को मूक जनता का प्रतिनिधि कहा है। प्रेमचन्द का क्षेत्र ग्रामीण-जग और किसानों का हृदय है। यहाँ वे अद्वितीय हैं। किन्तु मध्य और कुलीन वर्ग के भावों की जिस गहराई में रवि बाबू अथवा शरत् बाबू पैठते हैं, वह प्रेमचन्द का क्षेत्र था ही नहीं।

मनुष्य में प्रेमचन्द का अटल विश्वास है। अपने संसार में अनेक उदार-चित्त मनुष्यों को उन्होंने बसाया है। अवसर पड़ने पर यह सब बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' अवसर पर कोई नीचा नहीं रहता है।

इस प्रकार के चित्रण के लिए स्वयं अपने पास विशाल हृदय होना चाहिए। यही प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विभूति है।

———

प्रेमचन्द की कला

(डा० रामविलास शर्मा)

प्रेमचन्द का ध्येय समाज-सुधार था; कला की बातें गौण होकर आती हैं, उनका लक्ष्य पहले उस ध्येय की पुष्टि करना ही है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कला के बारे में उन्होंने सोचा न था, विशेषकर उस कला के बारे में जिसका कहानी और उपन्यास के निर्माण से सम्बन्ध है। युवावस्था में प्रेमचन्द ने बहुत से उपन्यास पढ़े थे—उनकी संख्या अनगिनती न रही हो, परन्तु उनमें भले-बुरे, कलात्मक और कलाहीन का हिसाब लगाया गया था। तिलस्मी होशरूबा, चंद्रकांता संतति, बंकिमचंद्र और रेनॉल्ड के अनुवाद और कुछ न मिला तो नवलकिशोर प्रेस से निकले पुराणों के उर्दू अनुवाद सभी कुछ उन्होंने पढ़ा था। 'मेरी पहिली रचना' और 'जीवनसार' (कफ़न) में उन्होंने अपने इस उपन्यास-प्रेम और अपनी पढ़ाई का हाल लिखा है। अपनी रचनाओं में प्रेमचन्द का ध्येय समाज-सुधार था; एक समाज सुधारक चंद्रकांता संतति और रेनॉल्ड के अनुवाद पढ़े, कुछ अचरज-सा लगता है। परन्तु इससे सिद्ध होता है कि प्रेमचन्द को कथा-मात्र से प्रेम था; जो पढ़ते थे, उसमें उनके लिए पहला आकर्षण कहानी थी। इसलिए सुधार का लक्ष्य होते हुए भी उनकी खुद की रचनाओं में कहानी-तत्व गौण होकर नहीं आया। पाठक उन्हें कथा के आनन्द के लिए पढ़ सकते हैं; सुधार का लक्ष्य छिपा हुआ है। भले-बुरे, सभी श्रेणियों के उपन्यास पढ़ने से प्रेमचन्द की चिन्तनशक्ति उर्वर हुई; प्रत्येक महान् प्रतिभा को अपने लिए एक बना-बनाया ढाँचा न चाहिए, जिसका वह अनुसरण करे, उसे अपने विकास के लिए केवल संकेत, थोड़ा सहारा चाहिए जिससे वह अपनी मौलिकता को खोज सके। प्रेमचन्द की विचित्र और बहु प्रकार की पठन सामग्री ने उनकी रचना-शक्ति के लिए खाद का-सा काम किया और वह 'सेवासदन' जैसा आधुनिक उपन्यास लिख सके। केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचन्द 'सेवासदन' को फिर न पा सके; अपने अन्य बड़े उपन्यासों में उन्होंने निर्माण का ढंग ही बदल दिया था।

'सेवासदन' में पाठक का ध्यान सुमन पर केंद्रित रहता है; विषम सामाजिक परिस्थितियों में उसका विवाह होता है, पति से विछोह और बाद में वेश्या-जीवन आरंभ होता है। अंत में वह सेवासदन में स्वयं आश्रय खोजती दूसरों के आश्रय का प्रबंध करती है। आरंभ से अंत तक सुमन पर से पाठक की दृष्टि नहीं हटने पाती और वही कहानी के ऊहापोह का कारण बनती है। परंतु सेवासदन की आधुनिकता इस निर्माण में ही नहीं है; उसकी महत्ता घटनाओं के तारतम्य, विशेषकर परिस्थिति, घटना और चरित्र के सामंजस्य में है। 'सेवासदन' में घटनाओं का सम्बन्ध चरित्र तक, कथा के कुछ पात्रों तक ही नहीं रहता; वह फैलकर परिस्थिति, समाज की विशिष्ट अवस्थाओं तक पहुँच जाता है। प्रेमचन्द के पहले के उपन्यासकार इस सामाजिकता को न पहचान पाये थे, उनके उपन्यास कुछ पात्रों की कथाएँ हैं—प्रेमचन्द के उपन्यास समाज का प्रतिबिम्ब हैं, पात्र केवल सामाजिक दशाओं के चित्रण में सहायता करते हैं। और अंत तक पहुँचते-पहुँचते 'सेवासदन' की कथा का केन्द्र सुमन न होकर वेश्या-जीवन हो जाता है। सुमन की समस्या एक बृहत् समस्या में घुल-मिल जाती है। फिर भी सुमन का चित्रण अत्यंत सजीव है; उसमें वैयक्तिक विशेषताएँ हैं और वह केवल एक सामाजिक परिस्थिति या किसी वर्ग का प्रतीक मात्र नहीं है। वर्ग और व्यक्ति दोनों को उनका उचित स्थान दिया गया है। आरंभ में दारोगा कृष्णचंद्र की ऐसी परिस्थिति दिखायी गयी है कि उन्हें कन्या के विवाह के लिए घूस लेना और फलतः जेल जाना पड़ता है। कोई दूसरा होता तो सब कुछ निबाह ले जाता परन्तु कृष्णचन्द्र की सिधाई स्थिति के संभालने में बाधक होती है। वहीं से सुमन की विपत्ति-कथा का आरम्भ होता है। बाद में शहर में, उसका पति, पड़ोसी भोली रंडी, पद्मसिंह आदि उसके घर छोड़ने और रंडी बनने में सहायक होते हैं। सुमन की व्यक्तिगत चेष्टाएँ अनुकूल परिस्थितियों से प्रेरित होती हैं और उनका एक निश्चित दशा में अंत होता है। इसके बाद वेश्याओं को लेकर नगर में जो आन्दोलन चलता है, उससे समाज का व्यभिचार, उसकी पतित अवस्था हमारे सामने आ जाती है। प्रेमचन्द ने नगर के प्रमुख व्यक्तियों के सुन्दर रेखाचित्र दिये हैं और वह व्यंग्य-पूर्ण चित्रण देखते ही बनता है। सुमन के जीवन की दूर तक प्रतिक्रिया होती

है और उसकी बहन को अविवाहित ही विधवा बनना पड़ता है। 'सेवासदन' में नगर के, बाजार के, बागों, और मन्दिरों के, सेठ-साहूकार, वकील, सुधारकों के, और नदी के किनारे के मल्लाहों के चित्रण से, हम सुमन को उसके चारों ओर के वातावरण में, सामाजिक परिस्थितियों के बीच देख सकते हैं। प्रेमचन्द के पहले हम कथाएँ पढ़ते थे; यहाँ नित्यप्रति की देखी-सुनी पाते हैं, कल्पना से यथार्थ में आते हैं।

'सेवासदन' में कथा-सूत्र एक ही है; 'रंगभूमि,' 'प्रेमाश्रम' आदि की भाँति कई कथाएँ एक साथ नहीं चलतीं। उन बड़े उपन्यासों की श्रेणी से अलग प्रेमचन्द का दूसरा सुगठित उपन्यास 'निर्मला' है। अपने घर में अविवाहित दशा से लेकर मृत्युपर्यन्त निर्मला ही कथा का केन्द्र है। फिर भी घटनाओं में अन्तर नहीं पड़ता, अविलम्ब एक दूसरे का अनुसरण करतीं वे हमारे सामने आती हैं। निर्मला की दोहाजू से शादी होती है और फिर बाबू तोताराम की गृहस्थी की विचित्र समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। मंसाराम की मृत्यु के बाद निर्मला का जीवन लक्ष्यहीन हो जाता है और रोग और दरिद्रता में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ भी निर्मला के सहारे, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रेमचन्द वयस्क दोहाजू के विवाह से उत्पन्न घरेलू समस्याओं का ताना-बाना बुनते हैं। निर्मला के जीवन की घटनाओं में मग्न, कथा का आनन्द लेता हुआ पाठक, समाज की इन गुत्थियों को भी सुलझाता चलता है। इसी श्रेणी में 'प्रतिज्ञा' उपन्यास भी आता है। अमृतराय और पूर्णा कथा का केन्द्र हैं; अमृत केवल विधवा से शादी करने की प्रतिज्ञा करते हैं; और पूर्णा विधवा हो जाती है परन्तु अनेक कारणों से फिर भी उनकी शादी नहीं होती। यहाँ भी कथा के साथ विधवा-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। 'ग़बन' इस कोटि के उपन्यासों में सबसे लम्बा है। यहाँ मूल समस्या गहनों को लेकर खड़ी हुई है। जालपा गहने चाहती है; उसके ससुर और पति मिथ्या सामाजिक मर्यादा के फेर में एक कमजोरी के बाद दूसरी कमजोरी की तरफ बढ़ते जाते हैं और जब जालपा सजग हो जाती हैं तब भी उसका पति रामनाथ नहीं सँभल पाता क्योंकि वह पतन की राह में बहुत आगे बढ़ चुका है। केवल जालपा का हठ और उसका त्याग, साथ ही सामाजिक

परिस्थितियाँ जो रमानाथ के सोते आत्मसम्मान को जगा देती हैं, उसे फिर मनुष्य की तरह जीवन बिताने योग्य बनाती हैं। आज का समाज किस तरह हमारी कमजोरियाँ उभारता है और हमें शीघ्र-से-शीघ्र पतित होने में सहायता देता है, इसका सूक्ष्म चित्रण यहाँ मिलता है। साथ ही रमा और जालपा की कहानी से भी हमारा ध्यान नहीं हटने पाता। उसी कथा को उभारने के लिए रतन और उसके पति वकील की कथा भी आ जाती है, परन्तु वह बहुत छोटे परिमाण में है।

अन्य उपन्यासों में दो या अधिक कथाएँ साथ साथ चलती हैं और मूल कथा किसे कहें, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' में एक ओर ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर, गायत्री, कमलानंद आदि जमींदार वर्ग के पात्र हैं, उनकी समस्याएँ है, उनकी कथा है, दूसरी ओर गौसखाँ के किसान, मनोहर, बलराज कादिर आदि हैं, उनकी समस्याएँ हैं, उनकी भी कहानी है। परन्तु ये कहानियाँ जितनी अलग ऊपर से जान पड़ती हैं, उतनी वास्तव में नहीं हैं। दोनों का एक दूसरे से निकट का सम्बन्ध है और ये एक दूसरे की आश्रित हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस कोटि के मुख्य उपन्यास, 'प्रेमाश्रम' रंगभूमि और 'गोदान' गाँवों से सम्बन्धित हैं और इसलिए प्रेमचन्द को वहाँ के दो वर्गों का चित्रण करना आवश्यक था। 'सेवासदन,' 'ग़बन' और 'निर्मला' की समस्याएँ एक ही वर्ग या परिवार की हैं अथवा वहाँ वर्ग संघर्ष इतना स्पष्ट नहीं हो पाया था। गाँवों में जमींदार एक तरफ, किसान एक तरफ—दोनों के खेमें जुदा-जुदा हैं। इसलिए किसानों का शोषण चित्रित करने के लिए उन्हें जमींदारों का चित्रण करना ही था। और प्रेमचन्द दोनों वर्गों को निकट से जानते थे, इसलिए बड़े परिमाण पर उन्होंने उनके चित्र बनाये हैं; गायत्री और ज्ञानशंकर की प्रेमलीलाओं से किसानों का निकट का सम्बन्ध है। जब गायत्री का कृष्ण-प्रेम उमड़ता है, वह सनातन धर्म की सभाएँ करती है, धर्मशालाएँ बनवाती है, तो इसका बोझ किसानों के कंधों पर ही पड़ता है। ज्ञानशंकर की व्यक्तिगत धूर्तता और उनका पाखंड उन्हें एक आदर्श हृदयहीन जमींदार के रूप में हमारे सामने रखता है। और अंत में मायाशंकर और किसान दोनों वर्गों का सहकारिता की खेती में, एक वर्गहीन समाज में अंत होता है। 'प्रेमा-

श्रम' में खूब विभिन्नता है; उसका ध्येय किसानों को सरकारी और जमींदारी शासन के नीचे पिसता हुआ दिखाना है। इसलिए एक गठित कथा को लेकर चलना घातक होता। अनेक आधुनिक उपन्यासकार कथा को छोड़कर केवल सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हैं। अपनी विशृङ्खलता से ही वे पाठक पर एक प्रभाव छोड़ना चाहते हैं। प्रेमचन्द में वैसी विशृङ्खलता नहीं है। रूसी क्रांति के पूर्व के उपन्यासकार टाल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि की भाँति कथासूत्रों को लेते हुए वे सामाजिक परिस्थितियों का चित्र देते हैं। निर्माणकला की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' उतना ही महत्व-पूर्ण है जितना 'सेवासदन'। 'सेवासदन' का क्षेत्र संकुचित है, 'प्रेमाश्रम' का बृहत्। पूरा उपन्यास पढ़ने पर गाँवों का समाज, उसकी समस्याएँ, शोषण-यंत्र की विचित्र गति-विधि, सभी से हमारा परिचय हो जाता है। प्रत्येक महान् कृति की भाँति हम उसके लिए कह सकते हैं, यह जीवन का ही चित्र है।

'रंगभूमि' की कथा के दो केन्द्र हैं, एक सूरदास दूसरे विनयसिंह। सूरदास के पास थोड़ी-सी जमीन है; जॉन सेवक उस पर अपना तमाखू का कारखाना बनाना चाहते हैं। यही सारे झगड़े की जड़ है। सूरदास के चारों ओर भैरों, जगधर, नायकराम आदि देहात के अन्य पात्र हैं; भैरों की स्त्री सुभागी को लेकर एक टण्टा खड़ा हो जाता है। कारखाना बनने से कुछ गाँववालों को अपना लाभ भी दिखाई देता है। वे डटकर, एक होकर सेवक साहब का विरोध नहीं कर पाते। सूरदास और उसके गुट को अपना केन्द्र मान प्रेमचन्द ने उस गाँव की दशा चित्रित की है जो पुरानी मान-मर्यादा के विचारों के होते हुए भी नये उद्योग-धंधों के आक्रमण से अपने अस्तित्व को नहीं बचा सकता। सेवक और सूरदास के बीच ताहिर अली, जो सेवक के क्लर्क हैं, अपनी छोटी-सी कथा लिये आते हैं। भले सीधे आदमी, परिस्थिति की मार से, जान-बूझ कर अधर्म का काम करते हैं, और उन्हें सजा भी मिलती है, अधर्म की नहीं, अपनी सिधाई की। सूरदास के विरोधी दल में सेवक के साथ कुँवर भरतसिंह, राजा महेन्द्र प्रतापसिंह, आदि मिले हुए हैं। भरतसिंह ही सबसे पहले कारखाने के हिस्से खरीदने को तैयार होते हैं। महेन्द्रसिंह जमीन दिलाने को कहते हैं। हाकिम क्लार्क भी सेवक के लालच दिखाने पर

उनकी सहायता करते हैं। जमीन के मालिक जमींदार, जागीरदार, आदि भूमि-पति से आधुनिक पूंजीपति बन सकते हैं। इन भूमिपतियों, नये व्यापारियों और इनके सहायकों के साथ एक गुट आदर्शवादियों का है जिसमें कुछ द्वंद से अलग हो जाना चाहते हैं, कुछ उसे सुलझाना चाहते हैं, और परिस्थिति की थपेड़ों से कुछ प्रतिक्रियावादी होकर जन-पक्ष के दमन में भी सहायक हो जाते हैं। विनयसिंह को अपनी माता से पुराने ढंग की आत्म-त्याग और देश-सेवा की शिक्षा मिली है। वह एक आदर्शवाद लिये जीवन में प्रवेश करते हैं, परन्तु परिस्थिति उन्हीं के जीवन में एक द्वंद उत्पन्न कर देती है और वह कभी इस ओर, कभी उस ओर अर्द्ध-निष्क्रिय-से झोंके खाया करते हैं। प्रभुसेवक इस द्वन्द से दूर हो अपने आपको कविता में भूल जाना चाहते हैं। उनके पिता बार-बार उन्हें व्यापार की भँवर में डालना चाहते हैं, परन्तु कमल-पत्र की भाँति उन पर पानी चढ़ता ही नहीं है। सोफी विनय से प्रेम करती है; उसका कार्य-क्रम विनय से ही प्रभावित होकर बनता है। राजपूताने की रियासतों में जब विनय से अलग वह षडयंत्रकारियों से मिल जाती है, तो विनय के कार्यों की प्रतिक्रिया के ही कारण। कुँवर भरतसिंह की पत्नी रानी जाह्नवी के देश-प्रेम का स्रोत पुत्र है : मेरा पुत्र महान हो, यह उनकी कामना है, और उसके महान् बनने के लिए देश-सेवा एक साधन है। इन आदर्शवादियों में कोई भी समस्या को ठीक तरह नहीं सुलझा पाता। सेवक और सूर का संघर्ष चला करता है और अंत में सूर के साथ सारा गाँव जैसा कि हम देख चुके हैं, तहस-नहस हो जाता है। इस तरह कथा के अनेक सूत्र एकत्र कर प्रेमचन्द एक वृहत् सामाजिक परिवर्तन का चित्र दे सके हैं; मूल कथा विनय और सोफी का, या सूर और सुभागी की नहीं रहती—उपन्यास का कथानक एक सामाजिक परिवर्तन हो जाता है और प्रेमचन्द की कला इसे चित्रित करने में पूरी तरह सफल हुई है।

'कर्मभूमि' का ढाँचा अन्य उपन्यासों से भिन्न है। यहाँ पर दो कथाएँ हैं, एक चमारों के गाँव की, एक नगर की, परन्तु दोनों ही अमरकांत के व्यक्तित्व से जुड़ी हुई हैं, साथ ही दोनों का ही सम्बन्ध अछूतों से है। एक तरफ अमरकांत के गाँव में लगान-बन्दी का आन्दोलन चलता है, दमन होता है, दूसरी तरफ नगर

में मन्दिर-प्रवेश के लिए सत्याग्रह होता है, गोली चलती है, अछूतों के लिए नये मकान बनें, इसके लिए म्यूनिसिपैलिटी के विरुद्ध आन्दोलन चलता है। अछूत समस्या का यहाँ भी बृहत् चित्र खींचा गया है, उसके आर्थिक, सामाजिक पहलू हमारे सामने आते हैं। अमरकांत की कहानी अछूत आन्दोलन की कहानी बन जाती है। कथा के दो क्षेत्र होने से प्रभाव कम नहीं होता वरन् वे एक दूसरे की सहायता करते हैं और एक निश्चित कलात्मक प्रभाव के अंग बन जाते हैं। निर्माण की दृष्टि से 'कायाकल्प' प्रेमचन्द का सबसे निर्बल उपन्यास है। चक्रधर की कहानी और रानी देवप्रिया की पारलौकिक गाथा काफी दूर-दूर चलती हैं। यद्यपि अन्त में वे एक हो जाती हैं परन्तु उन्हें एक करने में जितना विलम्ब लगता है, उससे पाठक धीरज खो बैठता है। कथाओं के असम्बद्ध होने पर भी लेखक का ध्येय राजा-जमींदारों का चित्रण करना स्पष्ट रहता है। ये पात्र इतने मौलिक और मजेदार हैं कि उपन्यास की रोचकता नष्ट नहीं होती। 'गोदान' का ढाँचा बहुत कुछ 'प्रेमाश्रम' जैसा है—एक गुट होरी के चारों ओर किसानों का है, दूसरा गुट रायसाहब के चारों ओर उच्च वर्ग के लोगों का है। इनमें मेहता और मालती भी हैं, जो गाँववालों से सहानुभूति रखते हैं परन्तु लड़ाई में कूदकर, डटकर उनका पक्ष लड़ नहीं सकते। इन्हीं के साथ पत्रकार, मिलों के मालिक, शहर के अमीर-आवारा आदि भी हैं जो होरी की गरीबी से अलग उच्चवर्ग की ऊपरी चमक-दमक का चित्र पेश करते हैं लेकिन यह वर्ग मूल चित्र के पृष्ठभाग में ही रहता है; चित्र में का अधिक भाग होरी और उसके साथियों का ही दिया गया है। इसका कारण यह है कि होरी की मुख्य लड़ाई उतनी इस उच्च वर्ग के साथ नहीं है जितनी गाँव के ही महाजनों से। 'गोदान' का कथानक किसान-महाजन संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चित्र की पूर्णता के लिए है। कथाक्रम में 'प्रेमाश्रम' की ही भाँति तीव्रता है—वहाँ एक गाँव-का-गाँव स्वाहा हो जाता है, यहाँ होरी पूरे महाजन वर्ग और उसके सहायक जमींदार वर्ग के कारिंदों से युद्ध करता हुआ परास्त होता है। किसान-महाजन संघर्ष का होरी ही एक महान् प्रतीक बन जाता है और उसका अकेला चरित्र कथा की एकसूत्रता में सहायता करता है। उसके अनेक सहायक पात्र हैं जो शोषण चक्र में पिसते दिखायी देते हैं। शोषकों

में भी काफी विचित्रता है; इसलिए कथा की एकता के साथ उसकी विचित्रता और रोचकता में कमी नहीं होने पाती।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं में पैठते हुए भी परिस्थितियों के अनुसार उसका उत्थान-पतन दिखाते चलते हैं। सारा व्यापार अत्यन्त स्वाभाविक और मानव-सुलभ हो उठता है, और पाठक पर सत्यता की छाप डालता है। 'काया-कल्प' में चक्रधर का और 'रंगभूमि' में विनयसिंह का पतन, इसके दो उदाहरण है। 'कर्मभूमि' में अमरकान्त का भी कुछ ऐसा हाल होता है। आत्मानन्द महंत का गुरुद्वारा घेर लेने के पक्ष में हैं, अमरकांत पहले समझौते की बात करना चाहते हैं। एक बार वह अफसरों से मिलने जाते हैं। उनके व्यवहार से वह मुग्ध हो जाते हैं; चमारों से आत्मीयता और बंधुत्ववाला भाव कुछ क्षणों को लोप हो जाता है। 'अफसरों की सोहबत ने कुछ अफसरी शान पैदा कर दी थी।' लोगों से कहा—'हाकिम परगना तुम्हारी हालत जाँच करने आ रहे हैं। खबरदार! कोई उनके सामने झूठा बयान न दे।...तहकीकात में देर जरूर लगेगी; लेकिन राज्य-व्यवस्था में देर लगती ही है।...रुपए में आठ आने छूट का ज़िम्मा मैं लेता हूँ। सब्र का फल मीठा होता है, इतना समझ लो।' धीरे-धीरे आत्मानंद भी अमरकांत की सलाह मान गये। वह सभा में लोगों को बाकी लगान दे देने की सलाह दे रहे थे। उसी समय अमरकांत को घर का पत्र मिला, जिसमें उसकी स्त्री सुखदा की गिरफ्तारी और जेल-यात्रा का वृत्तांत था। तुरंत ही अमर की कल्पना अपनी वीरांगना नारी के अतिरञ्जित चित्र खींचने लगी। 'ऊपर असीम आकाश में केसरिया साड़ी पहने कौन उड़ी जा रही है? सुखदा! सामने की श्याम पर्वत-माला में गोधूलि का हार गले में डाले कौन खड़ी है?' इसका परिणाम यह हुआ कि उसने सभा में बड़ा ही उग्र भाषण दिया और अपना पक्ष छोड़कर लगान-बन्दी का ज़ोरों से समर्थन किया। परिस्थिति के चक्र में उत्थान-पतन दोनों होते हैं। 'ग़बन' में ज़ोहरा रमानाथ को फँसाना चाहती है, परन्तु उसकी स्त्री जालपा को राजबंदियों के निःसहाय कुटुम्बों में बर्तन माँजते देख उसका हृदय पसीज उठता है और वह जालपा की सबसे बड़ी हितू बन जाती है। 'गोदान' में विलास-प्रिय मालती के चरित्र का विकास भी ऐसा ही हुआ है।

मनुष्य के भावों और विचारों में किस तरह छोटी-छोटी गुत्थियाँ पड़ती और सुलझती हैं, इसका चित्रण करने की प्रेमचन्द्र में अद्भुत क्षमता है। गोदान का १० वाँ अध्याय एक उदाहरण है। होरी रात से अपने खेत के पास की मड़ैया में लेटा है; उसकी स्त्री धनिया खबर लाती है कि उसके लड़के गोबर की छोड़ी हुई स्त्री झुनिया उसके यहाँ आश्रय चाहती है, पाँच महीने का उसके गर्भ है। धनिया उसे घर में रखने के पक्ष में नहीं है, होरी उसे हाथ पकड़ दूर कर देने की बात कहता है। दोनों घर की ओर चले तो पति-पत्नी में विवाद होने लगा। धनिया को चिन्ता हुई, रात को कहाँ जायगी; कहीं डरडरा न जाय। घर तक पहुँचते धनिया होरी को कसम खाने लगी कि उसपर हाथ न उठाये। और घर के भीतर जब होरी पहुँचा तो सामाजिक मर्यादा-ज्ञान के ऊपर उसकी ग्रामीण सहृदयता जाग उठी; अपने पैरों पर पड़ी झुनिया से वह यही कह सका—'डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह।' मानव-चरित्र में ऐसे घात-प्रतिघात उनके उपन्यासों में भरे पड़े हैं। इसी लिए उन्हें पढ़ते ही उनकी यथार्थता पर विश्वास हो जाता है—प्रेमचन्द ने मनुष्य की कमजोरियों और शहज़ोरियों का निकट से अध्ययन किया था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट मालूम होता है।

कहानी में चरित्र-विकास और कथानक के नियम दूसरे ही हैं। सूक्ष्म मनोविज्ञान की बातें यहाँ खूब उभर कर आती हैं और कहानी को सुंदर बना देती हैं। दूसरे प्रेमचन्द की शब्द-चित्रण की प्रतिभा के लिए यहाँ विशेष क्षेत्र रहता है। 'रंगभूमि' में ताहिरअली, नायकराम, राजा महेन्द्रप्रताप आदि के जैसे शब्द-चित्र उन्होंने दिये, या 'गोदान' में महाजनों के, 'प्रेमाश्रम' में चपरासी-कारिंदों के—ऐसे शब्द-चित्र कहानी की जान हो जाते हैं। थोड़े में एक पात्र को सजीव आँखों के सामने खड़ा कर देने की क्षमता कहानी को सफल बनाने में विशेष सहायता देती है। प्रेमचन्द का व्यंग्य भी यहाँ खूब निखर आता है। जैसे शंखनाद' में चौधरी के बड़े लड़के बितान 'एक सुशिक्षित मनुष्य थे। डाकिए के रजिस्टर पर दस्तख़त कर लेते थे। बड़े अनुभवी, बड़े मर्मज्ञ, बड़े नीतिकुशल। मिर्जई की जगह कमीज पहनते, कभी-कभी सिगरेट भी पीते, जिससे उनका गौरव बढ़ता था। प्रेमचन्द दो-चार बातों को शब्दचित्र में ऐसा सजा देते हैं

कि सारा चित्र जी उठता है; रेखाचित्र को सफल बनाने के लिए जैसे उसके सभी अंगों को पूरा-पूरा बनाना आवश्यक नहीं होता, केवल कुछ रेखाओं से ही वह सजीव हो उठता है। इसके साथ प्रेमचन्द का छिपा हुआ हास्य, चारित्रिक विशेषताओं पर व्यंग्य करता हुआ चलता रहता है। उपन्यास और कहानियों में वह समान रूप से देखने को मिलता है। 'दंड' (मानसरोवर, तीसरा भाग) कहानी में कचहरी उठ जाने के बाद 'अहलकार और चपरासी जेबें खन-खनाते घर जा रहे थे। मेहतर कूड़े टटोल रहा था कि शायद कहीं पैसे-वैसे मिल जायँ। कचहरी के बरामदों में साँड़ों ने वकीलों की जगह ले ली थी। पेड़ों के नीचे मुहर्रिरों की जगह कुत्ते बैठे नज़र आते थे।' 'शतरंज के खिलाड़ी' उनके व्यंग्य और हास्य का सुन्दर नमूना है। 'कफन' में करुणा और हास्य अद्भुत रूप से मिले हुए हैं। कहीं-कहीं यह हास्य, यथार्थ के संघर्ष में आकर अत्यन्त कटु हो गया है। 'नशा' (मानसरोवर पहला भाग) में एक ठाकुर पूछने आता है, स्वराज्य में जमींदारों की जमीन छीन ली जायगी कि नहीं। कहानी का लेखक जो अपने मित्र के यहाँ जमींदार का स्वाँग बनाये हुए है, कहता है कि जो जमीन न देंगे, उनकी छीन ली जायगी, और अपने इलाके में स्वराज्य होते ही वह जमीन किसानों के नाम पर हिबा कर देगा। ठाकुर वहीं चलना चाहता है, परंतु लेखक बताता है कि अभी उसे अख्तियार नहीं है; होने पर बुला लेगा। मोटर ड्राइवरी सिखाकर ठाकुर के ड्राइवर बनने की बात भी पक्की हो गई। नतीजा यह हुआ 'उस दिन ठाकुर ने खूब भंग पी और अपनी स्त्री को खूब पीटा और गाँव के महाजन से लड़ने को तैयार हो गया।' मोटेराम-वाली कहानियों में हास्य बहुत उथला है, परन्तु यह उथलापन तब आता है जब प्रेमचन्द हास्य की ही कहानी लिखना चाहते या हास्यपूर्ण परिस्थिति बनाना चाहते हैं। उनका हास्य सबसे सफल तब होता है जब चरित्र-चित्रण या वर्णन के साथ वह मिल जाता है या मनुष्य की छोटी-छोटी कमजोरियों की ओर इंगित करता है।

चरित्र-चित्रण के लिए शब्द-चित्र ही एक साधन नहीं है; ज्यादा काम वर्तालाप से लिया जाता है। पात्रों की बातचीत से उनके चरित्र की विशेषता दिखाने में प्रेमचन्द ने कमाल किया है। बातचीत बहुत ही स्वाभाविक होती है

और पात्रों के अनुसार भाषा में भी परिवर्तन हुआ करता है। धाराप्रवाह बोलनेवाली बातूनी स्त्रियों का 'गोदान' की धनिया एक उदाहरण है; अपनी बातों से वह बड़ों-बड़ों के छक्के छुड़ा देती है और उसकी भाषा ऐसी रोचक होती है कि उसकी वक्तृता सुनते जी नहीं अघाता। मनुष्यों की बातचीत की स्वाभाविकता का तो कहना ही क्या; पशुओं के मूक संभाषण को भी प्रेमचन्द ने शब्दों में बाँध दिया है। पशु जिस प्रकार कुछ सोचते हैं, सोचने के बाद मिलकर कोई काम करते हैं,—कम-से-कम उनके कार्यों से भासित ऐसा होता है कि वे सोच रहे हैं, उस दशा का चित्रण 'दो बैलों की कथा' (मान० दू० भा०) में मिलता है। 'दूध का दाम' में टामी और मंगल की बातचीत ने यथार्थ और कल्पना के संमिश्रण से एक विचित्र भाव-जगत् तैयार कर दिया है। मंगल जमींदार के यहाँ से निकाल दिया गया है; वहाँ लौटकर नहीं जाना चाहता; टामी से सलाह करता है। खाओगे क्या टामी, मैं तो भूखा ही लेट रहूँगा।' टामी कूँ-कूँ कर उत्तर देता है—'इस तरह का अपमान तो जिंदगी-भर सहना है। यों हिम्मत हारोगे, तो कैसे काम चलेगा। मुझे देखो न, अभी किसी ने डंडा मारा, चिल्ला उठा; फिर ज़रा देर बाद दुम हिलाता हुआ उसके पास जा पहुँचा। हम तुम दोनों इसी लिए बने हैं भाई।'

अधिकांश कहानियों में प्रेमचन्द एक ही प्रधान घटना रखते हैं; कथानक की गति उसी की ओर होती है, और पाठक का ध्यान एक ही धारा में बहता है। उनकी सबसे सुन्दर कहानियों में कथा का समय भी थोड़ा ही होता है। 'कफन' में सारी घटनाएँ बिना टूटे हुए कुछ घंटों में हो जाती है। ऐसे ही उनकी अन्य सुन्दर कहानी 'पूस की रात' (मान० पहला भाग) में केवल एक रात की घटनाओं का वर्णन है। 'शतरंज के खिलाड़ी' निर्माण-कला का सुन्दर उदाहरण है। 'सद्गति' में भी घटनाओं का क्रम टूटने नहीं पाता; दुखी चमार जब से घर से साइत बिचरवाने चलता है, तब से उसकी मृत्युपर्यंत उस पर से पाठक की दृष्टि एक क्षण को भी नही उठने पाती। जहाँ इस समय की एकता का विचार नहीं होता, वहाँ भी मूल समस्या एक ही हो, इस बात का ध्यान रखा जाता है। सारी बात प्रभाव की होती है; प्रेमचन्द की कहानी का प्रभाव सधा हुआ और संगठित होता है। कहने कुछ लगे और कह गये कुछ, ऐसा

देखने को नहीं मिलता। चरित्र-चित्रण और वार्ता दोनों का लक्ष्य ही इस प्रभाव को उभारता रहता है। अन्त में कहानी पढ़ने पर पाठक को एक तृप्ति मिलती है; समस्या सुलझ जाती है और पाठक आगे के लिए चिंतित नहीं रहता। कथा के आनन्द को प्रेमचन्द अधूरा नहीं रखते।

इसके साथ ही कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचन्द अपनी कथा के लिए उचित 'सेटिंग' तैयार कर लेते हैं। उनकी वर्णन शक्ति चित्र के पृष्ठभाग को सजाने में सहायता देती है। 'पूस की रात' में ठंढ का बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन है। थोड़े से ही शब्दों में प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष को वह सजग कर देते हैं। 'आकाश पर तारे भी ठिठुरते मालूम होते थे' या 'रात में शीत को हवा से धधकाना शुरू किया' ऐसे वाक्य गाँव में पूस की ठंढ की कल्पना करा देते हैं। कहीं-कहीं उनका प्रकृति-वर्णन कवित्वपूर्ण होने के साथ हल्की भावुकता लिये होता है। परन्तु बार-बार उनकी भाषा अपनी वर्णन-क्षमता से हमें अचम्भे में डाल देती है। 'अन्तस्तल की गहराइयों से एक लहर-सी उठती हुई जान पड़ी, जिसमें उसका अपना अतीत जीवन टूटी हुई नौकाओं की भाँति उतराता हुआ दिखायी दिया।' (जेल—समरयात्रा) मनोभावों को दर्शाने के लिए उनकी चित्रमय व्यंजना देखते ही बनती है। जब बुढ़िया नोहरी दुखी हुई तो 'उसके मुख की झुर्रियाँ मानो रेंगने लगी' (समर-यात्रा समर०)। शब्द चित्र करुणा की व्यंजना साथ लिये हैं। भाषा को सबल बनाने के लिए प्रेमचन्द ने साधारण-से साधारण बात को भी अपनाने में असाहित्यिकता का मान नहीं किया। 'मिस मालती मेहता के साथ चलने को तैयार हो गयी। खन्ना मन में ऐंठकर रह गये। जिस विचार से आये थे, उसमें जैसे पंचर हो गया।' (गोदान) भोला एक जगह 'अपील भरी आँखों' से होरी को देखता है और दूसरी जगह गोबर के शब्द 'तपते हुए बालू की तरह (धनिया के) हृदय पर पड़े और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गये।' प्रेमचन्द की सफलता का रहस्य बहुत कुछ उनकी भाषा है। पहले वह उर्दू में लिखते थे, इसलिए कुछ लोग कह देते हैं, उनके गद्य पर उर्दू की छाप है। प्रेमचन्द जैसे यथार्थ के विद्यार्थी के लिए उर्दू में बहुत दिन तक लिखना संभव न था। प्रेमचन्द के ग्रामीण पात्रों की भाषा देखने से यह स्पष्ट हो जायगा, क्या उनके

सूरदास, कादिर, होरी, मनोहर, बलराज, गोबर, धनिया, दातादीन, झिंगुरी-सिंह, आदि के उर्दू बोलने की कल्पना की जा सकती है। यद्यपि गाँव के किसान सचमुच तो अपनी दिहाती बोली में बात करते हैं, परन्तु वह बोली हिन्दी के अति निकट होने से प्रेमचन्द के लिखे वार्तालापों में घुल-मिल गयी है। किसानों को बातचीत कराने में प्रेमचन्द ने असाधारण रूप से देहात के मुहावरों और शब्दों को अपनाया है। देहाती बोली में हिन्दी के एकीकरण में उन्हें इतनी सफलता मिली है कि गाँव का रहनेवाला पाठक भी प्रेमचन्द के किसानों की बात सुनकर उसे अस्वाभाविक नहीं कह सकता। प्रेमचन्द के मुसलमान पात्र जो शहर में रहते हैं, उर्दू बोलते हैं। परन्तु जो गाँव के हैं, वे हिंदी ही बोलते हैं। इससे साम्प्रदायिक भेद-भाव से परे भाषा की एकता का पता चलता है। गाँव के किसानों के लिए कौन भाषा सबसे सुलभ होगी, प्रेमचन्द के किसानों की बातचीत से देखा जा सकता है।

परन्तु प्रेमचन्द किसानों की बातचीत के लिए देहाती शब्द नहीं लेते; उनकी भाषा की गठन ही उस देहाती बोली की भूमि पर हुई है। जो सुन्दर मुहावरे, कहावतें, उपमाएँ और हास्य के पुट उनके गद्य में हमें मिलते हैं उन्हें प्रेमचन्द ने अपने गाँव की बोली से सीखा था। अपनी उपमाएँ उन्होंने बहुधा ग्रामीण जीवन से ली हैं। गाय मनमारे उदास बैठी थी, जैसे कोई वधू ससुराल आयी हो' (गोदान)। 'रग्घू खाने बैठा, तो कौर विष के घूँट-सा लगता था। ...दो चार ग्रास खाकर उठ आया, जैसे किसी प्रियजन के श्राद्ध का भोजन हो' (अलगोझा—मान० पहला भाग) 'तिलक मंडप से अभी तक आग की ज्वाला निकल रही थी। राजा साहब और उनके साथ के कुछ गिने-गिनाये आदमी उसके सामने चुपचाप खड़े थे, मानों श्मशान में खड़े किसी मृतक की दाह-क्रिया कर रहे हों' (कायाकल्प) इत्यादि। प्रेमचन्द की भाषा के अलंकार उसके प्रवाह में सहज ही सज जाते हैं। सारी बात अनुभव और सचाई की है। प्रेमचन्द जनता को जानते थे, उसकी भाषा को जानते थे; वहीं से उन्हें शक्ति मिली है। चमत्कार उत्पन्न करने के सैकड़ों उपाय हैं, परन्तु प्रेमचन्द को वे सोचने न पड़े थे। उनकी भाषा जितनी सरल और चमत्कार-पूर्ण है, उतनी ही वह जनता की भाषा में छिपे हुए वैचित्र्य और साहित्यिकता को गवाही देती है।

अस्तु, समाज-सुधारक प्रेमचन्द से कलाकार प्रेमचन्द का स्थान कम महत्व-पूर्ण नहीं है। उनका लक्ष्य जिस सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन-क्रम को चित्रित करना रहा है, उसमें वह सफल हुए हैं। उनके उपन्यासों की लम्बाई से अनुमान करना कि उनमें भरती की गयी है, भ्रमात्मक है। अपने बड़े उपन्यासों में उन्होंने समाज के बृहत् चित्र दिये हैं। उसके लिए वैसा परिमाण आवश्यक था। लम्बे उपन्यास लिखने में प्रेमचन्द अकेले नहीं हैं। विदेश के अन्य लेखकों ने भी जिनकी कथा-वस्तु इस प्रकार की रही है, ऐसे उपन्यास लिखे हैं। 'निर्मला' 'सेवासदन' आदि लिखकर उन्होंने दिखा दिया है कि वह एक सुगठित कथा लिख सकते हैं, परन्तु इनका कलात्मक प्रभाव बड़े उपन्यासों से भिन्न है। समाज के बड़े-बड़े परिवर्तन-क्रम, जिनमें हमारी सभ्यता का ध्वंस और निर्माण होता है, जिनमें समाज की बड़ी-बड़ी वर्ग-शक्तियाँ अपनी-अपनी हार-जीत के लिए प्राणपन से चेष्टा करती हैं, जिनमें व्यक्ति से ऊपर उठ हम समाज के समूहों को ही पात्र-रूप में कार्य करते देखते हैं, वह संघर्ष की विशद कल्पना, सामाजिक विकास का सूक्ष्म विश्लेषण और चित्रकार की बड़े परिमाण में निर्माणकला छोटे उपन्यासों में सुलभ नहीं है। कहानियों में शब्द-चित्रों के साथ वह कथा तत्व का पूरा ध्यान रखते हैं और हास्य और व्यंग्य उनके चित्रण को सजीव बनाते हैं। वार्तालाप में स्वाभाविकता ऐसी होती है कि जिस श्रेणी का व्यक्ति होता है, वैसी ही उसकी भाषा भी होती है। प्रेमचन्द के पात्रों की भाषा एक अध्ययन करने की वस्तु है; देहाती, हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी और इनके मिश्रण से बनी अनेक प्रकार की भाषा-शैलियाँ एक युग के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का इतिहास है। 'कफन' के चमारों से लेकर 'शतरंज के खिलाड़ी' के बीते युग के नवाबों तक सैकड़ों श्रेणियों के पात्रों का उनकी स्वाभाविक भाषा में बातचीत कराना समाज के अद्भुत ज्ञान का साक्षी है। ऐसी क्षमता संसार के महत्तम साहित्यिकों में ही पायी जाती है। प्रेमचन्द का गद्य देहाती भाषा की दृढ़ भूमि पर निर्मित हुआ है; कहावतें, मुहावरें, उपमाएँ उन्होंने वहीं से खीची हैं; भाषा की सरलता के लिए भी उन्हें वहीं से प्रेरणा मिली है। प्रेमचन्द की कला का रहस्य एक शब्द में उनका देहातीपन है, ग्रामीण होने के कारण वह समाज के हृदय में पैठकर उसके सभी तारों से

सम्बन्ध स्थापित कर सके हैं। अपनी भाषा के लिए, अपने चित्रण के लिए, वह अवश्यकतानुसार अपने देहात के अनुभव पर निर्भर हो सकते थे और उसने उन्हें कभी धोखा नहीं दिया। देश के गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति, उनसे उनके प्रगाढ़ परिचय और उनके चित्रण की सचाई ने ही उन्हें सफल कलाकार बनाया है।

———

प्रेमचन्द और कला

[हंसराज 'रहबर']

"साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते है।"

—प्रेमचन्द

प्रेमचन्द के जीवन की जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद उनके साहित्य पर बहस की गुञ्जाइश नहीं रहती। प्रत्येक लेखक की कला उसके जीवन का अंग होती है। कोई लेखक जितना ही अपने समय की आत्मा को पहचान लेता है और इतिहास की विकासात्मक शक्तियों को समझकर उनका साथ देता है, उतना ही उसका साहित्य शाश्वत, प्रभावशाली और व्यापक होता है और उतना ही वह स्थायी और मूल्यवान होने के कारण शताब्दियों और युगों तक पढ़ा जाता है। प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ कहानियाँ और एक दर्जन उपान्यास लिखे। उन्हें सिलसिलेवार पढ़ने से हमारे देश का बीसवीं सदी के शुरू पैंतीस-छत्तीस वर्ष का इतिहास तैयार हो जाता है। अर्थात् प्रेमचन्द के साहित्य का इतिहास हमारे देश के राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों का इतिहास है।

लेकिन उनका साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब मात्र ही नहीं है, उन्होंने जीवन के जो गहरे और अमिट रेखा-चित्र तैयार किये हैं, उनसे हमें यह भी पता चलता है कि जीवन की ये रेखाएँ किस दिशा में आगे बढ़ रही हैं और घटनाओं की ऐतिहासिक धारा का आगामी रुख क्या है? अर्थात् लेखक का काम सिर्फ जीवन को चित्रित करना ही नहीं होता, बल्कि जहाँ जीवन की कमी हो उसे निर्माण करना भी होता है। प्रेमचन्द ने यह कार्य भी बड़ी अच्छी तरह पूरा किया है। परिस्थितियों और वातावरण का निरीक्षण करने के उपरान्त वह बड़े इत्मीनान से कहते हैं—

'लेकिन यह सब होने पर भी हमारा भविष्य उज्ज्वल है। मुझे इसमें

सन्देह नहीं। भारत की आत्मा अभी जीवित है।'

परिवर्तन सदा व्यक्तियों और घटनाओं में प्रकट होते हैं; लेकिन इन परिवर्तनों का कारण सामने आनेवाले व्यक्तियों और घटनाओं ही में नहीं, समाज में निहित होता है। लेखक का काम यह है कि वह इन व्यक्तियों और घटनाओं का निरीक्षण करके इन कारणों की जड़ें समाज में खोज निकाले। जितना वह इस उद्देश्य में सफल होता है, उतना ही उसका साहित्य प्रभावशाली और उपयोगी होता है। जहाँ वह इस निरीक्षण में असफल रहता है, वहीं उसका साहित्य प्रभावहीन और दुर्बल हो जाता है।

इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि लेखक समाज में से कुछ व्यक्तियों और घटनाओं को उदाहरण के रूप में चुन लेता है और उनके द्वारा वह समस्त समाज अथवा पूरे जीवन का निरीक्षण करता है। खुद प्रेमचन्द ने इस बात को यों कहा है:—

'साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं; पर मेरे विचार से उनकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।'

लेकिन जीवन की आलोचना साहित्य की पहली मंजिल है। लेखक का काम इस मंजिल पर रुक जाना नहीं, बल्कि आगे बढ़ना है। बालजक और चार्ल्ज डिकन्स आदि लेखकों ने भी अपने समाज की भरपूर और निर्भीक आलोचना की है, क्योंकि उन्हें यह भय नहीं था कि ऐसा करने से वे समाज की जड़ें हिला देंगे। और ना ही उन्हें इस बात की जरूरत महसूस होती थी, क्योंकि पूँजीवाद अपनी पराकाष्ठा पर था और उसका प्रतिद्वन्द्वी कोई ऐसा आन्दोलन अभी नहीं था, जिसका उद्देश्य इससे बेहतर समाज स्थापित करना हो। उस समय आलोचना ही साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा थी।

लेकिन जब क्रान्ति का युग हो, जब पुराने और जर्जर के स्थान पर नये और उन्नत समाज के निर्माण के लिए संघर्ष हो रहा हो, तो लेखक का काम पक्षपात के साथ लोगों को संघर्ष के लिए तैयार करना होता है। अगर उस समय आलोचना को कर्म की प्रेरणा से अलग रखा जाय, तो लेखक

लेखक नहीं रहता या कम-से-कम लेखक अपने कर्त्तव्य का पूर्ण ढंग से पालन नहीं करता। ऐसे युग में उत्तम और श्रेष्ठ साहित्य वही होता है, जिसमें जीवन की आलोचना के साथ जीवन को आगे बढ़ाने के लिए कर्मशील होने की प्रेरणा भी मिलती है। प्रेमचन्द गा जीवन की आलोचना को साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा कहते हैं; लेकिन वह स्वयं क्रियाशील होने की प्रेरणा भी देते हैं—

'जिस समाज का आधार ही अन्याय पर हो. उसकी सरकार के पास दमन के सिवा और क्या दवा हो सकती है। एक दिन आयेगा, जब आज के देवता, कल कंकर-पत्थर की तरह उठा-उठाकर गालियों में फेंक दिये जायेंगे और पैरों से ठुकराये जायेंगे।'

(कर्मभूमि)

लेकिन यह मंजिल भी दूसरी मंजिल है। आखिरी और तीसरी मंजिल इससे आगे है, जो काफ़ी कठिन है, जिस पर पाँव डगमगाते हैं। लेखक की परीक्षा इसी मंजिल पर पहुँच कर होती है। यहीं खरा और खोटा परखा जाता है। यह मंजिल है संघर्ष को सफलता के साथ अपने प्राकृतिक परिणाम तक ले जाना, समाज की नयी शक्तियों को पुरानी और जर्जर शक्तियों से टकरा देना। यह काम सहज नही, बहुत कठिन है। लेखक अपने वर्ग के अनुसार पुराने समाज के साथ हज़ारों बन्धनों से बँधा हुआ होता है। जब तक वह एक-एक सम्बन्ध तोड़कर अपने आपको पुराने समाज से अलग न कर ले, जब तक वह सक्रिय रूप से अपने आपको नये समाज के साथ पूर्ण रूप से जोड़ न ले, जब तक कि वह अपने आपको नये समाज की नई शक्तियों का अविच्छेद अंग न बना ले, तब तक कंकर-पत्थर के देवताओं को उठाकर फेंकते समय उसका हाथ काँप जायेगा, वह अपने संघर्ष को अधूरा छोड़ देगा और दुर्बलता और पराजय को छिपाने के लिए झूठे दर्शन का आसरा लेगा।

जब हम इस मंजिल पर पहुँचते हैं तो प्रेमचन्द का प्रतिवाद स्पष्ट हो जाता है, हमें उनकी मानसिक सीमाओं का बोध होता है। तब हम यह भी जान लेते हैं कि उन्होंने, 'साहित्य अपने समय का प्रतिबिम्ब होता है'—क्यों कहा है और केवल 'जीवन की आलोचना' ही को साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा क्यों

बताया है, जब कि वह खुद उससे बहुत आगे जाते हैं।

प्रेमचन्द ने चूंकि स्वतन्त्रता-संग्राम को आगे बढ़ाने के लिए साहित्य-रचना की थी, वह स्वयं भी नौकरी से इस्तीफा देकर इस आन्दोलन में शामिल हो गये थे। इसलिए उन्होंने जीते-जागते क्रियाशील पात्रों की रचना की है, जो सिर्फ स्वतन्त्रता-संग्राम के बारे में सोचते ही नहीं, बल्कि उसमें शामिल होते हैं और सक्रिय भाग लेते हैं। लेकिन उनके कर्म की एक सीमा है। जब कर्म उससे आगे बढ़ने लगता है, तो उसे झट रोक देते हैं और झूठे दर्शन का आसरा लेकर अपने मन को सान्त्वना देते हैं और कई बार तो सान्त्वना भी प्राप्त नहीं होती। मन में कुरेद लगी रहती है।

उदाहरणार्थ उनके उपन्यास 'कायाकल्प' को लीजिए। उपन्यास का नायक चक्रधर सच्चे और ओजस्वी नौजवान के रूप में हमारे सामने आता है। उसे समाज की जर्जर परम्पराओं, शठता और गुलामी से घृणा है। वह स्वतन्त्र, सुन्दर और समृद्ध समाज का निर्माण चाहता है। इसलिए वह सच्ची और न्याय संगत बातें करता है। हम उसे अत्यन्त निर्भीकता के साथ कहते हुए सुनते हैं—'मैं बदनामी के भय से अन्याय करना उचित नहीं समझता।'—और न्याय अथवा अन्याय की जड़ें भौतिक स्थिति में होती हैं; इसलिए चक्रधर कहता है:—

'यह भौतिकवाद ही हमें आध्यात्मिकवाद की ओर ले जायगा। जीवन के वे रहस्य जिन पर अब तक पर्दा पड़ा हुआ है, खुल जायेंगे।'

वह कर्मशील युवक है। कुल की परम्परागत मान्यताओं और रीति-रिवाज से विद्रोह करता है और साम्प्रदायिक दंगे रोकने के लिए अपने प्राण खतरे में डाल देता है। लूट-खसोट, अत्याचार अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह करता है। उत्पीड़ित वर्ग का साथ देता है। लेकिन जब कृषक लूट-खसोट से तंग आकर अत्याचार को मिटाने के लिए तैयार होते हैं, राजा के कारिन्दों, अफसरों और सिपाहियों पर आक्रमण करते हैं, तो चक्रधर का दिल काँप जाता है वह आगे बढ़कर और स्वयं आहत होकर इस स्वाभाविक घटना को रोक देता है और मन को समझाने के लिए मिथ्या दर्शन की आड़ लेता है:—

'वह सोच रहा है, यह हत्याकाण्ड क्यों हुआ! मैंने तो भूल कर भी किसी

से ऐसा करने को नहीं कहा।...यह हमारी नीयत का फल है। हमारे त्याग और सदुपदेश में स्वार्थ निहित है। यदि हमारी नीयत साफ़ हो, तो जनता के मन में राजाओं पर चढ़ दौड़ने का जोश ही पैदा न हो।'

विदित है कि यहाँ चक्रधर ने भौतिकवाद के दर्शन को अलग फेंककर आध्यात्मिक का आवरण ओढ़ लिया है और वह कृषकों के स्वाभाविक क्रोध के भौतिक कारणों की उपेक्षा करके उसे 'नीयत' 'मन' और व्यक्तियों के सिर थोप रहा है। जो सर्वथा प्रतिक्रियावाद का दर्शन-शास्त्र है। लेकिन चूंकि वह वास्तव में प्रतिक्रियावादी नहीं, बल्कि ईमानदार है, इसलिए उसके मन को इस मिथ्या दर्शन से सन्तोष नहीं मिलता। कुरेद लगी रहती है। सोचता है :—

'फिर अगर अत्याचार का विरोध न किया जाय तो संगठन से लाभ ही क्या?'

अब होता यह है कि चूँकि संगठन में कोई लाभ दिखायी नहीं देता, इसलिए चक्रधर सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यास धारण कर लेता है। एकान्तसेवी और निष्क्रिय जीवन व्यतीत करता है। चूंकि उसने भौतिकता का मार्ग छोड़ दिया है, इसलिए जीवन के गुप्त रहस्यों पर पर्दा ही पड़ा रहता है। और प्रेमचन्द की कला ने आवागमन के गोरखधंधों में उलझकर अपना तत्व खो दिया है। एक गैर मार्क्सवादी लेखक ने इस उपन्यास पर आलोचना करते हुए लिखा है:—'रब्त और रवानी पहले हिस्सा में कुछ ज्यादा है,' मगर रफ्ता-रफ्ता कम होते-होते गायब हो गयी।' कारणों में जाने की जरूरत नहीं। मिथ्यादर्शन में हृदय को पकड़ने की सामर्थ्य नहीं होती।

इसी प्रकार 'डामुल का कैदी' कहानी उस समय तक रोचक और दिलचस्प बनी रहती है, जब तक प्रेमचन्द मिल के मालिक सेठ की धन लोलुपता, मुनाफाखोरी और पाखंड का भाँडा फोड़ते हैं और मज़दूरों के कर्तव्य को उभारते हैं। लेकिन जब गोपीनाथ मजदूरों के संघर्ष का नेतृत्व करने की बजाय उनके क्रोध और सेठ के बीच में पड़कर हड़ताल तोड़ने का काम करता है और घायल होकर मर जाता है, तो फिर आवागमन का वही अस्वाभाविक क्रम आरम्भ होता है और कहानी निस्सार और शुष्क होकर रह जाती है।

उनके एक दूसरे उपन्यास 'कर्मभूमि' को लीजिए। इस उपन्यास का

नायक अमरकान्त, चक्रधर से अधिक सजग और सचेत व्यक्ति है। उसके चरित्र में अधिक प्रौढ़ता और दृढ़ता है, जो निश्चय ही अनुभव और क्रियाशीलता से उत्पन्न हुई है। हम अपनी आँखों से उसके व्यक्तित्व का विकास होते देखते हैं। वह चक्रधर से बहुत आगे की बात सोचता है। जिसका कारण यह है कि सन् १६३० के नमक सत्याग्रह में सन् १६२२ का अंधविश्वास और खिलाफत का-सा धार्मिक रंग शामिल नहीं था। अब स्वतंत्रता का आन्दोल धर्म-निष्ठा पर निर्भर नहीं था, उसका एक ठोस आर्थिक आधार बन चुका था और उसमें क्रान्तिका ी नवयुवकों का साहस और उत्कट भावना शामिल थी। प्रेमचन्द का यह नायक भी परिस्थितियों के अनुकूल इसी अन्दाज से सोचता है—

'मैं किसी रिश्ते या दौलत को अपनी आत्मा के गले की जंज़ीर नहीं बना सकता। मैं उन आदमियों में नहीं हूँ, जो ज़िदगी की जंज़ीरों को जिदगी समझते हैं। मैं जिंदगी की आरज़ुओं को जिंदगी समझता हूँ।'

लेकिन जंज़ीरें केवल सोचने ही से नहीं टूट जातीं और न कामनाएँ पूरी होती हैं। अमरकान्त उसका ऐतिहासिक और सहज उपाय सोचता है:—

'वह अब क्रान्ति ही में देश का उद्धार समझता था—ऐसी क्रान्ति में, जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे, जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नयी सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़कर चकनाचूर कर दे। जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकनेवाले राज्य से मुक्त कर दे।'

अपने इस स्वप्न को सार्थक और चरितार्थ करने के लिए वह सूदखोर और चोरी का माल हड़पनेवाले पिता से विद्रोह करता है। उसका घर और धन त्याग कर गाँव में जाकर किसानों और मजदूरों में रहने लगता है। लेकिन जब यही किसान-मजदूर उसके स्वप्न को सार्थक करने के लिए तैयार हो जाते हैं, धन और धर्म के आधार पर टिकनेवाले राज्य का अन्त करने के लिए आक्रमण शुरू करते हैं, तो अपने ही 'सभ्य' और 'शिक्षित' वर्ग को, इन गँवारों के प्रहार की ज़द से प्रभावित देखकर अमर का दिल काँप जाता है। वह क्रुद्ध उत्तेजित जन-समूह के सामने लेटकर अपने लंगोटिये साथी सलीम को साफ

बचा लेता है।

अब चूंकि अमर सत्याग्रह करके जेल जाने ही को कर्म की आख़िरी मंज़िल समझ लेता है, इसीलिए उसके मन में वह कुरेद भी नहीं होती, जो चक्रधर के मन में उत्पन्न हुई थी। फिर लुत्फ़ की बात यह है कि उसका धन का लोभी बाप भी 'हृदय परिवर्तन' के चूरन से शुद्ध होकर जेल में आ जाता है। वहाँ से रिहा होकर बेटा बाप के हाथ में हाथ डालकर उसी के घर में लौट आता है, जहाँ से विद्रोह करके वह व्यापक क्रान्ति करने और जीवन के मिथ्या आदर्शों का अन्त करके निकला था।

यह सत्याग्रही की जीत हो सकती है; पर क्रान्तिकारी की हार में संदेह नहीं। प्रश्न यह उठता है कि प्रेमचन्द का नायक अथवा आर्ट यह हार क्यों अंगीकार करता है? इसका कारण क्या है?

प्रेमचन्द को सुधारवादी बतानेवाले साहित्यकार और आलोचक कहते हैं कि यह गांधीवाद है।

उनकी यह बात मानने से किसी को भी संकोच नहीं हो सकता। निस्संदेह यह गांधीवाद है। लेकिन यहीं बात का अन्त नहीं होता। अब हमें यह देखना होगा कि गांधीवाद का सामाजिक आधार क्या है।

जिस प्रकार समाज में उत्पन्न होनेवाले परिवर्तन व्यक्तियों और घटनाओं में प्रकट होते हैं, उसी प्रकार समाज से उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक दर्शन भी व्यक्तियों और घटनाओं में उत्पन्न होता है। किसी दर्शन और विचार को किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित किया जा सकता है, लेकिन वह उसे आकाशवाणी के रूप में प्राप्त नहीं होता और न वह उस व्यक्ति विशेष के साथ उत्पन्न होता तथा मर जाता है। यही सिद्धान्त गांधीवाद पर लागू होता है जो गांधीजी के व्यक्तित्व से सम्बन्धित अवश्य है लेकिन हमें उसकी जड़ें अपने वर्ग-विभाजित समाज में, वर्गों में खोजने से मिलेंगी।

प्रेमचन्द सन् १६३५ में हिन्दी साहित्य-परिषद् की बैठक के सिलसिले में वर्धा गये और वहाँ उनकी गाँधीजी से पहली और अन्तिम भेंट हुई। लौटकर आये तो अपनी इस भेंट का जिक्र शिवरानी देवी से किया। वह गाँधीजी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित थे।

शिवरानी बोली—इसका मतलब है आप भी महात्मा गांधी के चेले हो गये।

प्रेमचन्द—"चेला बनने का मतलब किसी की पूजा करना नहीं, उसके गुणों को अपनाना होता है। मैंने उन्हें अपना कर ही तो 'प्रेमाश्रम' लिखा जो सन् १९२२ में छपा है।

शिवरानी—वह तो पहले ही लिखा जा रहा था, उसमें महात्मा गांधी की कौन खास बात हुई।

प्रेमचन्द—इसका अर्थ यह है कि वह जो कुछ करना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर रहा था।

शिवरानी—यह तो कोई दलील न हुई।

प्रेमचन्द ने कहा कि दलील की बात नहीं। वह भी मजदूरों-किसानों की भलाई के लिए आंदोलन चला रहे हैं और मैं भी कलम से यही कुछ कर रहा हूँ। (प्रेमचन्द घर में)

हजारों लाखों हिन्दुस्तानियों की तरह प्रेमचन्द ने भूल से यह समझ लिया कि गांधीजी जो कुछ चाहते हैं, वह पहले से वही कुछ कर रहे थे। 'प्रेमाश्रम' में मनोहर गौसखाँ को कत्ल करता है और प्रेमचन्द एक कलाकार की सहानुभूति और पक्षपात के साथ उसके कृत्य का समर्थन करते हैं, उसे वीर और शूरमा बताते हैं। लेकिन गांधीजी ने मनोहर के कृत्य का कभी समर्थन नहीं किया बल्कि वह मनोहर के कृत्य को आधे में ही रोकने के लिए आगे आये थे, कांग्रेस के नेता बने थे।

मनोहर का यह कृत्य कोई व्यक्तिगत कृत्य नहीं था, वह इस वर्ग का कृत्य था, जो लूट-खसोट से और घोर दरिद्रता से उत्पीड़ित था। गौसखाँ के बाद उसका अगला वार ज्ञानशंकर जमींदार, उसके संरक्षक अंग्रेज और सारे शोषक वर्ग पर पड़ता था। युद्ध के पश्चात् जनता का यह सामूहिक आन्दोलन शुरू हो चुका था। इस आन्दोलन को रोकने के लिए ही जलियाँवाला बाग का हत्याकांड घटित हुआ था। लेकिन जनता का जोश गोलियों से शान्त नहीं हुआ करता। यदि उनके आन्दोलन को स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़ने दिया जाता तो गोलियों से तपकर निकलनेवाली जनता न सिर्फ अंग्रेजी शासन का बल्कि

प्रत्येक प्रकार के शोषण का अन्त करके दम लेती। प्रेमचन्द जनता की जिस महानता के कायल थे, वह अन्तस्तल से उभर कर ऊपर आ जाती।

पूँजीवादी वर्ग ने भी जनता के यह तेवर पहचान लिये थे और उनसे वे स्वभावतः ही भयभीत थे। अब तक कांग्रेस-आन्दोलन कुछ पढ़े-लिखे लोगों और उनके अपने वर्ग तक सीमित था। श्रमिक वर्ग पहली बार स्वतन्त्रता-संग्राम में सम्मिलित हो रहा था। उसकी भावना को इस हद तक उभारना जरूरी था कि विदेशी सरकार से सौदा पटाया जा सके, समझौता हो सके, जॉन के स्थान पर गोविन्द को गद्दी पर बैठाया जा सके; लेकिन इस भावना को लूट-खसोट की सम्पूर्ण व्यवस्था से, इस समाज से टकराने से रोका जाये।

इस भय और दूरदर्शिता का नाम गांधीवाद है जिसका आश्रय व्यक्तिगत सम्पत्ति और सम्पत्तिशाली वर्ग की रक्षा करना है। गोया गांधीवाद वह वृक्ष है, जिसकी जड़ें 'रामराज्य' 'ट्रस्टीशिप,' 'हृदय-परिवर्तन,' 'सत्याग्रह,' 'अहिंसा' और 'सत्य' में निहित हैं; और उसकी छाया में विडम्बना पलती है।

देश में मजदूर आन्दोलन इतना सशक्त नहीं था कि गान्धीवाद का विवेचन करके उसके वर्ग-आधार को समझ लिया जाता। मध्यमवर्ग के स्वतन्त्रता-प्रिय सच्चे नौजवानों ने इस सिद्धान्त को अपना लिया, क्योंकि उनके सामने संघर्ष का और कोई व्यापक कार्यक्रम नहीं था और फिर मध्यमवर्ग यद्यपि श्रम की दृष्टि से मजदूर वर्ग के समीप होता है, लेकिन सामाजिक दृष्टि से वह पूँजीवाद की परम्पराओं को अपनाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और विरासत के संरक्षण की भावना उसके जन्मजात संस्कारों में निहित रहती है।

प्रेमचन्द का जन्म भी मध्यमवर्ग में हुआ था। उनकी भी गाँव में पैतृक भूमि थी। पैतृक घर था और 'घर' से उन्हें वह अनुराग था, जो मध्यमवर्ग के लोगों को हुआ करता है। इस अनुराग के कारण वे बार-बार देहात में जाने की इच्छा करते रहे। आखिर वे देहात में गये, पूर्वजों के कच्चे मकान की जगह पक्का मकान बनवाया और यही कारण था कि वे सन् १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन में बहुत चाहने के बावजूद जेल नहीं जा सके। सोचते रहे कि शिवरानी चली गयीं, यदि वे भी चले गये तो बच्चों का और घर का क्या बनेगा?

सत्याग्रह की लड़ाई इसी प्रकार लड़ी जाती थी कि घर भी बना रहे और जेल यात्रा भी हो जाये। बड़े आदमी जब जेल जाते थे, तो बाहर उनका कारोबार बराबर चलता रहता था।

प्रेमचन्द ने जीवन को खिलाड़ी की भाँति बिताने का जिक्र प्रायः किया है। यह खिलाड़ीपन का दर्शन भी गान्धीवाद ही की एक धारा है। उसने बहुत से लोगों को खिलाड़ी बनाया है; लेकिन उनके सिद्धान्त को चर्खे से बाँधे रखा है। प्रेमचन्द के अमरकान्त और चक्रधर भी खिलाड़ी थे। बड़ी ही शुद्ध भावना और ईमानदारी से आन्दोलन में शामिल हुए थे। लेकिन आज उन्हें ढूँढ़ना हो तो वे काँग्रेस के बड़े-बड़े नेताओं, पदाधिकारियों और मंत्रियों में मिलेंगे। चूँकि उन्होंने अपने कृत्य का विवेचन करके उसकी त्रुटियों और न्यूनताओं को नहीं समझा। चूँकि वे अहिंसा के पुजारी बनकर हार को ही जीत समझते रहे। जिसका परिणाम यह हुआ कि होते-होते पाखंड उनके जीवन का अंग बन गया और अब वे अपने इस पाखंड से गान्धीवाद को सार्थक और साकार बनाये हुए हैं।

प्रेमचन्द के यहाँ बड़ा खिलाड़ी—गांधी ही का दूसरा रूप 'रंगभूमि' का नायक सूरदास है, जो एक पैसे के लिए तीन-तीन मील दौड़ लगाता है, पैतृक सम्पत्ति—अपनी भूमि की रक्षा के लिए एकाकी और व्यक्तिगत ढंग से लड़ता है। वह यथार्थ से आँखें मूँद कर खिलाड़ी के सदृश लड़ता हुआ मर जाता है। प्रेमचन्द उसे सच्चा सत्याग्रही और आदर्श व्यक्ति कहते हैं, उसे प्रस्तुत करने में कलाकार के पक्षपात से काम लेते हैं।

यह आदर्श सम्पत्ति के संरक्षण का आदर्श है। अपने जन्मजात संस्कारों को बदलना आसान नहीं, बहुत कठिन हैं। इंसान अपने वर्ग की रूढ़िगत परम्पराओं को झटककर हजार बार आगे बढ़ता है और वे हजार बार मार्ग काट-कर नया रूप धारण करके सामने आ जाती हैं। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में जिन रूढ़िगत परम्पराओं का दामन झटक दिया था, गाँधीवाद के रूप में वे फिर सामने आगयीं और उन्होंने बिना पहिचाने उन्हें फिर अपना लिया।

इसके बाद जब सत्याग्रह, अहिंसा और जुलूसों से उनका विश्वास उठ जाता है और 'भाड़े के टट्टू' कहानी का नायक रमेश जेल से छूटकर वर्ग-

क्रान्ति की घोषणा कर देता है; लेकिन फिर 'कफन' कहानी में वे सिर्फ जीवन की आलोचना करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। कृषकों तथा मजदूरों की भावना को बिलकुल नहीं उभारते। घीसू और माधव को सिर्फ चंडूखाने में ले जाकर छोड़ देते हैं।

सन् उनत्तीस-तीस में और पैतीस-छत्तीस तक मजदूर आन्दोलन बहुत आगे बढ़ गया था। उन्होंने कानपुर, अहमदाबाद और बम्बई में बड़ी-बड़ी हड़तालें की थीं। प्रेमचन्द उनका जिक्र नहीं करते, अपनी रचनाओं को मध्यम वर्ग तक ही सीमित रखते हैं। 'गोदान' में मजदूरों की हड़ताल का गौण रूप से उल्लेख किया है। उसे भी बुरी तरह कुचल दिया जाता है। और मजदूरों पर जो अत्याचार और दमन होता है उसका प्रतिकार खन्ना के मिल को दैव-योग से आग लगाकर भावुकतापूर्ण ढंग से किया गया है। 'मिल मजदूर' फिल्म में समझौता कमेटी अर्थात् सुलह कमेटी मौजूद है। और 'डामुल का कैदी' कहानी में मजदूरों के संघर्ष की जो बाढ़ आती है, उसे आवागमन की मरुभूमि ने सुखा दिया है।

इन सब बातों के बावजूद मानवीय-प्रेम प्रेमचन्द के साहित्य की जान है। वह कदाचित् लूट-खसोट, अन्याय और अत्याचार सहन करने को तैयार नहीं। जिस प्रकार बिहार के भूकम्प ने उनके पक्के मकान में दरारें डाल दी थीं उसी प्रकार जीवन के अनुभवों, कटु और कठोर यथार्थ ने—घटनाओं के झटकों ने उनके गान्धीवाद में दरारें ही नहीं गढ़े डाल दिये। इस पेड़ की टहनियाँ झड़ चुकी थीं, सिर्फ जड़ शेष थी। लेकिन 'गोदान' में वह भी टूटती और सूखती हुई दिखायी देती है क्योंकि होरी किसान जिस भूमि पर जान देता है और दरिद्र होते हुए भी पूँजीवादी वर्ग की परम्पराओं से चिपटा हुआ है, अन्त में उसे खोकर मजदूर बनने के लिए विवश हो जाता है।

मध्यम-वर्ग को टूटकर मजदूर बनते दिखाना गांधीवाद के आधार आदर्श-वादी दर्शन की हार है और प्रेमचन्द की प्रगतिशील कला, दर्शन और साहित्य की जीत। उन्होंने समझ लिया था कि इस शोषण-व्यवस्था में मध्यम वर्ग के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखना सम्भव नहीं। इससे विदित है कि उनका कदम किस दशा में उठ रहा था और इसी से उनके साहित्य में ताजगी और निखार आ रहा था।

———

प्रेमचन्द की भाषा और शैली

[डा० जगन्नाथ शर्मा]

प्रेमचन्दजी की आरंभिक रचनाओं में प्रौढ़ता न थी। उन कृतियों को देखकर यह आशा नहीं की जा सकती थी कि कुछ ही दिनों में उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो जायगा। उस समय न तो उनकी भाषा ही संयत होती थी और न भाव-व्यंजना ही। वाक्यों की छोटाई पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि वे इसलिए छोटे नहीं होते थे कि भाव अधिक स्पष्ट हों, वरन् वे लेखक की भीरुता के कारण ऐसे लिखे जाते थे। उस समय वे बड़े-बड़े वाक्यों के सम्बन्ध का निर्वाह ही नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि भाषा में शिथिलिता उत्पन्न हो गयी है। एक-एक वाक्य में भाव टुकड़े-टुकड़े होकर रखे मिलते हैं। वाक्य-समूह असंबद्ध और धाराप्रवाह भिन्न-भिन्न होता था। इनके मुहाविरों के सुन्दर प्रयोग से भले ही सजीवता उत्पन्न होती जा रही हो, परंतु उनकी लेख-चातुरी की सराहना कदापि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उस समय की लिखी कहानियों में भावना का प्रौढ़ प्रसार भी नहीं मिलता। भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है। चरित्र-चित्रण में भी वह मनोवैज्ञानिक विवेचन और उत्थान-पतन न मिलेगा, जो आज स्वाभाविक-सा दिखाई पड़ता है। संस्कृत तत्समता का बनावटी प्रयोग यह दिखाता था कि एक मौलवी पंडित बनना चाहता है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि उनके संस्कृत शब्दों के प्रयोग में अपनापन न था। भाषा साधारणतः उखड़ी मालूम पड़ती थी। उस समय की एक कहानी का छोटा-सा अवतरण देखिए—

"हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है, जो उससे बाजी ले जाय। मालदेव की हार ने बुन्देलों की हिम्मत तोड़ दी है। अब सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली, चिराग रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज अब अंतिम स्वास ले रही है, जिससे हमारा मान था। मालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है। पर बुन्देलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ

जायेगा। कादिर खाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है; पर मेरा मालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि उसके हाथ में होती तो मैदान जरूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है, जो कादिरखाँ की तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी। यदि अबकी हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिए डूब जायगा।'

इन त्रुटियों का क्रमशः परिमार्जन होता गया। भाव-व्यंजना का जो प्रौढ़ रूप इनकी रचना में आज दिखायी देता है वह कुछ ही काल पूर्व इस प्रकार का था, यह आश्चर्यजनक है। इस प्रकार की आध्यवसायिक उन्नति कम देखने में आती है। उनकी उस समय की त्रुटियाँ संस्कारजन्य थीं। अतएव आज भी उनका कुछ-न-कुछ आभास मिलता ही है, पर वे विशेष खटकती नहीं। उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में चमत्कार का विशेष उपयोग नहीं किया। इसका आरंभ सदैव इतिवृत्तात्मक कथानक से होता है। जिस नवीनता एवं चमत्कार का दर्शन हमें 'प्रसाद' जी की रचनाओं में हो चुका है, ठीक उसके विपरीत इनकी रचना में मिलता है। उनकी भाव-व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखायी पड़ता है, पर इनकी रचना मृत्युलोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र है। उनकी भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती है, परन्तु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय है। उनके कथानक का समारंभ कुतूहल और चमत्कार के साथ स्वाभाविकता का आधार लेकर उत्पन्न होता है और इनका जगत् की स्थूल विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता है। एक स्वर्ग का आह्लाद-पूर्ण यौवन है और दूसरा हमारे साथ दिन रात रहनेवाला मृत्यु-लोक का सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम शृंगार पाते हैं, दूसरे में मानव-जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिंब दिखाता है और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।

इनकी शैली का विवेचन करते समय एक बात स्पष्ट सामने आती है। वह यह कि अपने विचारों को स्थूल बनाने के लिए उन्होंने सदैव 'जैसे', 'तैसे', 'मानों' का प्रयोग किया है। इससे उनका तात्पर्य केवल कथित विषय को

अधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा ही ज्ञात होती है। कहीं-कहीं तो यह अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होता। इससे भाव-व्यंजना अधिक सुन्दर हो गयी है। परन्तु अनेक स्थानों पर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय भी ज्ञात होता है। इस आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करने में यही तो अड़चन उपस्थित होती है कि यदि वह वास्तविकता का सीमोलंघन कर गयी तो सुन्दर के स्थान पर भयंकर ही नहीं वरन् अरुचिकर भी हो जाती है। जैसे—'व्याकुल हो गयी'—'जैसे दीपक को देखकर पतंग,' 'वह अधीर हो उठी जैसे खांड की गंध पाकर चींटी।' 'वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों की दृष्टियाँ बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आयी—जैसे वेदनापूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।' 'जैसे चाँदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलीन पड़ गयी थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चंद्ररूपी सुविचारों ने विकार रूपी तारागण को ज्योतिहीन कर दिया था।' 'जिस प्रकार अरुण का उदय होते ही पक्षी कलरव करने लगते हैं और बछड़े किलोलों में मग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सुमन के मन में भी क्रीड़ा करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।' 'जब युवती चली गयी तो सुभद्रा फूट-फूट कर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानो देह में रक्त ही नहीं, मानों प्राण निकल गये हैं।' 'वह कितनी निस्सहाय, कितनी दुर्बल है इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानो संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिए अब जीवन रोने के सिवा और क्या है?' 'उसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ शिथिल-सी हो गयी थीं, मानो वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो।' 'जैसे सुन्दर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुन्दर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से झोपड़े में जान आ गयी। अन्धी आँखों में पुतलियाँ पड़ गयी हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है—जैसे जेठ-बैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गयी है।'

कथोपकथन के क्रमिक विकास में इस बात की बड़ी आवश्यकता होती है कि उस मनुष्य की वाक्य-योजना में वह स्वाभाविक भावभंगी हो, जो वस्तुतः

नित्य के व्यवहार में प्राप्त होती है। बातचीत में प्रायः वाक्य का शुद्ध क्रम नहीं जाता। जैसे 'आप जाइए। आपको क्या पड़ी है?' को साधारण कथोपकथन में कहा जायगा—'जाइए आप। क्या पड़ी है आपको?' इसी कारण वास्त-विकतावादी अधिकतर नाट्य-प्रणाली का अनुसरण करते हैं। इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण प्रेमचंद में नहीं प्राप्त होता। वे सीधे-सादे व्याकरण के निश्चित मार्ग का अवलंबन समीचीन समझते हैं। इससे कथोपकथन की भाषा शिथिल-सी हो गयी है। जिन स्थानों पर इन्होंने इस नाट्य-प्रणाली का अनु-सरण किया है वहाँ पर जीवन आ गया है, परन्तु ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। 'मानो उसका कोई है ही नहीं संसार में' न लिख वे सदैव सीधा-सादा रूप 'मानो संसार में उसका कोई नहीं है' लिखते हैं। 'युक्ति कोई ऐसी बताइए कि कोई अवसर पड़े तो मैं साफ-निकल जाऊँ' ही लिखेंगे। इस प्रकार नाटको-पयोगी कथोपकथन प्रेमचंद की रचना में अधिक न मिलेगा। कहीं-कहीं जहाँ हृदय की धधकती अग्नि बाहर निकलने की चेष्टा करती है; अथवा जहाँ हृदय से, अधिक दिनों के संचित उद्‌गार, वायु के प्रबल वेग की भाँति निक-लना चाहते हैं वहाँ भाषा भी स्वभावतः संयत और भावुक हो गयी है, पर ऐसे स्थान हैं बहुत थोड़े। जैसे—'सुमन ने आँखें खोलीं और उन्मत्तों की भाँति विस्मित नेत्रों से शांता की ओर देखकर बोली—कौन शांति ! तू हट जा, मुझे मत छू, मैं पापिनी हूँ, अभागिनी हूँ, मैं भ्रष्टा हूँ, तू देवी है, साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे। इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया है, तू अपने उज्ज्वल स्वच्छ हृदय को पास मत ला, यहाँ से भाग जा। वह मेरे सामने नरक का अग्नि-कुण्ड दहक रहा है, यम के दूत मुझे उस कुण्ड में झोंकने के लिए घसीटे लिये जाते हैं, तू यहाँ से भाग जा। यह कहते-कहते सुमन फिर मूर्च्छित हो गयी।'

यों तो इनकी सभी रचनाएँ खिचड़ी भाषा में हुई हैं—उनमें हिन्दी-उर्दू का परिमार्जित सम्मिश्रण हुआ है; परन्तु कथोपकथन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। उसमें यदि बोलनेवाला मुसलमान है तो उर्दू की तत्समता और यदि हिन्दू है तो संस्कृत की तत्समता अधिक प्रयुक्त हुई है। इनका यह विचार उचित है अथवा अनुचित, स्वाभाविक है या अस्वाभाविक इसका

विवेचन यहाँ समीचीन न होगा; अतएव केवल इतिवृत्त का ही प्रदर्शन कराया जाता है। प्रेमचन्दजी को जहाँ कदाचित् अवसर प्राप्त हुआ है, वहाँ उन्होंने देहाती अथवा प्रांतीय भाषा का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त साधारणतः उनके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। इनसे भाव प्रकाशन में सुगमता अवश्य हुई है; परन्तु धारा-प्रवाह में बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ है। उनकी रचनाओं में—क्या उपन्यास, क्या छोटी-छोटी कहानियाँ, सबमें धारा-प्रवाह का बड़ा व्यतिक्रम पाया जाता है। भाव-व्यंजना बड़ी उखड़ी-पुखड़ी ज्ञात होती है। एक-एक वाक्य एक-एक बात लेकर अलग-विलग खड़े सामने आते हैं; एक के साथ दूसरे का कोई सामंजस्य नहीं। यह बात विशेषतः उन स्थानों में प्राप्त होती है जहाँ इतिवृत्तात्मक विवरण देना पड़ा है अथवा विषयोद्घाटन करना पड़ा है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्हें विषयारम्भ में बड़ी दुरूहता का सामना करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त इसका एक और कारण ज्ञात होता है। वह विषय का आकस्मिक आरम्भ न होना है। प्रत्येक विषय के आरम्भ में कुछ-न-कुछ भूमिका बाँधना प्राचीन परिपाटी का उद्बोधन करना है। यह विचार केवल प्राचीन कहकर ही नहीं टाला जा सकता। इसकी दूसरी दुर्बलता यह है कि इसमें वैसा आकर्षण भी नहीं रहने पाता। अँग्रेजी साहित्य में स्कॉट के उपन्यासों में भी यह बात विशेष रूप से पायी जाती है। इससे पाठक का मन सहसा पाठ्य-विषय में अनुरक्त नहीं होने पाता; वरन् भूमिका की झाड़ी में ही उलझकर रह जाता है। इसी भूमिका भाग में प्रेमचन्द की शैली विशेष उखड़ी जान पड़ती है। इन इतिवृत्तात्मक स्थलों में यदि नवीन और चमत्कारपूर्ण शैली को ग्रहण किया गया होता, तो इतना रूखापन न आने पाता। साथ ही पाठकों का चंचल चित्त भी विषय की ओर अविलम्ब आकृष्ट हो जाता।

यह शिथिलता सर्वत्र हो, यह बात नहीं है। भाषणों में स्थान-स्थान पर, जहाँ हृदय की उथल-पुथल का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है, वहाँ स्वभावतः भाव-शैली के साथ-साथ भाषा-शैली भी संयत एवं रोचक हो गयी है। वहाँ उनके छोटे-छोटे वाक्य बड़े प्रभावशाली तथा आकर्षक हो गये हैं। इसके अतिरिक्त उन स्थानों पर धारा-प्रवाह का भी सुन्दर निवहन पाया जा सकता है। यों तो ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं; पर जो हैं, वे बड़े ही मनोहर हैं। एक-

एक वाक्य दूसरे से भिड़े हुए हैं। इसी प्रकार भाव भी एक लड़ी में गुम्फित दिखायी पड़ते हैं। भावों के परिष्कार के साथ-साथ आकर्षण भी बढ़ जाता है। ऐसे स्थानों पर वाक्य-समूह समाप्त किये बिना वाचक रुक ही नहीं सकता। जैसे—

'मनोरमा अचानक तन्मय-अवस्था में उछल पड़ी। उसे प्रतीत हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुन्दरता और आनन्द अधिक प्रखर हो गया था—जैसे बत्ती उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह! तू फिर अपने मुँह से क्यों कुछ नहीं माँगता? आह! कितना विरागजनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला। मैं अब तनिक भी धीरज नहीं धर सकती। पानी उतार में जाने के लिए जितना व्याकुल होता है, श्वास हवा के लिए जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिए जितनी उतावली होती है, मैं उसी तरह उस स्वर्गीय संगीत के लिए व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की-सी मस्ती है; पपीहे की-सी वेदना है; श्यामा की-सी विह्वलता है—इसमें झरनों का-सा जोर है, आँधी का-सा वेग। इसमें सब कुछ है, जिसमें विवेकाग्नि प्रज्ज्वलित, जिससे आत्मा समाहित होता है, और अंतःकरण पवित्र होता है। नाविक, अब एक क्षण का विलम्ब मेरे लिए मृत्यु की यंत्रणा है। शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगंधि है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती, इस संगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत ही निकट।'

('आत्म-संगीत' शीर्षक कहानी से)

श्री प्रेमचन्दजी ने जिस समाज का चित्र अंकित करने का बीड़ा उठाया, वह दीन है। उसमें स्वर्गीय उल्लास नहीं है, उसमें उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं है; यही कारण है कि विशेषतः उन स्थानों पर, जहाँ उन्हें कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ा है, वहाँ एक दीप्ति उत्पन्न हो गयी है। हमारे व्यावहारिक संसार में दीनता का साम्राज्य है। उसमें नित्यप्रति अधिकांश ऐसे उदाहरण प्राप्त होते रहते हैं, जिन्हें देखकर करुणा का उद्रेक हुए बिना नहीं रह सकता। दीन मनुष्यों का विवरण देते समय उनकी भाषा बड़ी

मार्मिक और भाव-व्यंजना बड़ी ही द्रावक हुई है। भाषा का अत्यंत चलता-रूप ही उन्होंने अपनी रचनाओं में रखा है। बाबू देवकीनन्दन खत्री की भाषा का यह संस्कृत और परिमार्जित रूप है। प्रेमचन्दजी की प्रतिनिधि-स्वरूप यही भाषा है। उसी का प्रयोग उन्होंने अधिकतर किया है।

प्रेमचन्द : एक सर्वेक्षण

[डा० नगेन्द्र]

आज वर्षों बाद प्रेमचन्द के सर्वतः स्वीकृत श्रेष्ठतम उपन्यास 'गोदान' का एक बार फिर अध्ययन करने के उपरांत भी मेरी धारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन-दुखी जनता, गाँव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मज़दूर, निम्न-वर्ग के वे असंख्य श्रम-श्रांत वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी—उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, ज़मींदार, और हुक्काम, उधर मध्यवर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण-पन्थी पण्डित, पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वञ्चित नहीं थे। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको सत्-असत् की चेतना नहीं थी। नहीं, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रान्त थी और इस विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन में घृणा नहीं थी। उनके मन में मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होंने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परन्तु पाप को छोड़ उन्होंने कभी पापी से घृणा नहीं की। इसके लिए गांधी और गांधी से भी अधिक स्वयं गांधी को प्रभावित करनेवाले विदेश के मानव-वादी लेखकों का प्रभाव काफ़ी हद तक उत्तरदायी था, किन्तु मूलतः तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही संत था—उसके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद ने, जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभाव-जात था, युग-प्रथा-मात्र नहीं था। इसका उनके संस्कारों के साथ पूर्ण सामञ्जस्य था। इसी लिए इस धरा-तल पर पहुँचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदों से मुक्त हो जाती थी।

प्रगतिवादियों ने अपने मानव-मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्ग-चेतना का आरोप कर दिया है। परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने पूँजीपतियों और जमींदारों के दोषों को क्षमा नहीं किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ के प्रति भी वे निर्मम नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूँजीवादी भी तो मनुष्य है, जो उसी तरह दुःख-दर्द का शिकार है जिस तरह मज़दूर। राजनीतिक दलबन्दी में आकर अपने मन में इस तरह के खाने बना लेना कि उसके दुःख-दर्द का वहाँ प्रवेश ही न हो सर्वथा अप्राकृतिक एवं अमानवीय है, और जिसके हृदय में इस तरह का विभाजन सम्भव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन-मात्र। क्योंकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्भव नहीं है कि एक की विवशता हमें करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है वे सहानुभूति का दम्भ करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नहीं थी। पापी को उन्होंने क्षमा नहीं किया, शोषण के अपराधों की उन्होंने कहीं भी उपेक्षा नहीं की। उनके उपन्यासों में दंड का निषेध नहीं है—उनमें एक ओर बहिष्कार से लेकर कारावास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्म-घात तक का दंड है। परन्तु सहानुभूति का अभाव किसी भी अवस्था में नहीं है। प्रेमचन्द कहीं भी कठोर नहीं होते और कहीं भी दम्भ नहीं करते। यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी।

इसी व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। गांधी युग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सांगोपांग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी साहित्यकार में मिलता ही नहीं है, भारत के अन्य किसी साहित्यकार में भी मिलता है, इस में संदेह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएँ होती हैं—जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है, कुछ में नहीं; परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उसमें राग था। उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार

की प्रतिभा थी। इसी लिए उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरों में नहीं। आप हिन्दी के नये उपन्यासकारों से—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र से—उनकी तुलना कीजिए : एक ओर विशाल जन-समुद्र है दूसरी ओर व्यक्तियों के सरोवर-मात्र। शरत्, यहाँ तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यंत सीमित है।

जीवन के इस समग्र ग्रहण का परिणाम यह हुआ है कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों में अपने युग अर्थात् गांधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अत्यंत पूर्ण इतिहास दे दिया है। वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खंड का सामाजिक इतिहास लिखा जायगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और, यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नहीं देगा। इसके मूलतः दो कारण हैं : एक तो यह कि प्रेमचन्द ने अत्यंत सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि उन्होंने युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वाङ्ग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यंत स्वस्थ और साधारण व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहाँ 'नार्मल' के अर्थ में कर रहा हूँ। उनका दृष्टिकोण मनोग्रन्थियों से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था। उसमें प्रवृत्तियों का स्वस्थ संतुलन और अतिचार एवं अवचार का अभाव था। मनोग्रन्थि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से अनुभव करने और उचित रीति से जीवन-यापन करने में बाधक होती है। ये मनोग्रन्थियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं : अर्थ-मूलक और काम-मूलक। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है। गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप सम्भव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने

अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है। परन्तु उन्होंने अर्थ-वैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रन्थि नहीं बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है। उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हैं परन्तु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, मानसिक कुण्ठाओं के शिकार बनकर नहीं रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है, वे अनुपात-ज्ञान कभी नहीं खोते; समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझाकर उसके मूल कारणों को दूर करने से होगा, उसके द्वारा अभिभूत हो जाने से नहीं। यह सुस्थिर विवेक और उसका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति में उनका साथ नहीं छोड़ता; और इसी कारण प्रेमचन्द में किसी रूप में अतिवाद नहीं मिलता। गांधी-दर्शन में आस्था रखते हुए भी उन्होंने कहीं भी उसके प्रति अनावश्यक, विवेक-हीन उत्साह नहीं दिखाया है। गांधी-दर्शन के अहिंसा-सम्बन्धी अतिवादों को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ-दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है। और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धांतों द्वारा। उधर किसानों और मज़दूरों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति है; वास्तव में शोषित-वर्ग का इतना बड़ा हिमायती हिन्दी में दूसरा नहीं है। परन्तु जमींदारों और पूँजीपतियों के प्रति भी यह कलाकार अपना संतुलन नहीं खो बैठा—उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणों को सर्वथा नहीं भुला बैठा। किसानों और मज़दूरों में अपने सामाजिक और राजनैतिक स्वत्वों के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में किया है; परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है, अभावात्मक रूप को नहीं। कहीं भी उन्होंने ज़मींदारों और किसानों के प्रति घृणा एवं प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय नहीं समझा। दूसरे शब्दों में वर्ग-संघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होंने कहीं भी स्वतंत्र महत्व नहीं दिया। संघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना जीवन का ध्येय है, परन्तु वर्ग-संघर्ष को—मानव के प्रति मानव के संघर्ष को—एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रंगों में चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन

को उसी रंग में रँगकर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकांगिता और अतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

जीवन की काम-मूलक ग्रन्थियाँ कहीं अधिक विषम और सूक्ष्म-गहन होती हैं। फ्रॉयड के सिद्धांत को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रन्थियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ विश्व-साहित्य का बृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करता है। आज के जीवन में और साहित्य में तो इसका योग और भी अधिक है। स्वदेश-विदेश का साहित्यकार, कवि, नाटककार और सबसे अधिक उपन्यासकार इन काम-मूलक मनोग्रन्थियों से ही मुख्यतः उलझा है। भारत के उपन्यांस-सम्राट् शरत्चन्द्र तो एक प्रकार से इनसे अभिभूत थे। हिन्दी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल के उपन्यास भी काम-लिप्त हैं। प्रेमचन्द ने इस विषय में अद्भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है। इस क्षेत्र में उनके उपन्यासों में महा-काव्योचित दृष्टि-विस्तार मिलता है। महाकाव्यों में शृङ्गार, वीर आदि सभी प्रमुख वृत्तियों का यथोचित समावेश होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य सदैव जीवन-धर्म ही होता है। उनमें शृङ्गार की महत्व-स्वीकृति निःसदेह होती है, परन्तु वह कहीं भी अपने में स्वतन्त्र होकर प्रतिपाद्य नहीं बन जाता। काम जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है परन्तु वह समग्र जीवन नहीं है, और न जीवन का साध्य ही। अतएव जीवनार्थी के लिए उसमें आवश्यकता से अधिक अनुरक्ति रखना श्रेयस्कर नहीं है; ठीक इसी तरह जिस तरह कि उनके प्रति अनावश्यक विरक्ति और दमन का अभ्यास करना। जीवन-स्वास्थ्य का यही लक्षण है, और यह प्रेमचन्द में स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रेमचन्द ने भी जीवन-धर्म को ही अपने उपन्यासों का प्रतिपाद्य बनाया है। काम का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, परन्तु उसको प्रतिपाद्य का दर्जा कभी नहीं दिया। आरम्भ में उन्होने अवैध काम सम्बन्धों को प्रायः बचाया है, परन्तु बाद के उपन्यासों में इनको भी सहज रूप में अंकित कर दिया है। सामाजिक जीवन

का एक रूप यह भी है—कुल मिलाकर यह कल्याणकर नहीं है; परन्तु फिर भी इसका अस्तित्व तो है ही। बस इसी रूप में प्रेमचन्द ने इसका अंकन किया है—उसमें कहीं भी रस नहीं लिया। उनकी अपनी जीवन-घटना, जिसका उन्होंने श्रीमती शिवरानीजी से अन्तिम क्षणों में उल्लेख किया था, इसकी साक्षी है। स्वस्थ-साधारण जीवन के लिए कामोपभोग आवश्यक है, परन्तु वह जीवन का उद्देश्य किसी भी रूप में—और किसी भी दशा में नहीं हो सकता, व्यक्ति को उसमें खो नहीं जाना चाहिए। ऐसा करने पर जीवन का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यही था।

उपयोगितावाद और नीतिवाद

साधारण नार्मल व्यक्ति निसर्गतः उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है, और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में ये दोनों विशेषताएँ अत्यन्त मुखर हैं। दृष्टिकोण का संतुलन विचार-स्वातंत्र्य और मानसिक-स्वातंत्र्य के प्रतिकूल पड़ता है, क्योंकि संतुलित दृष्टिकोण जीवन का एक विशेष स्तर निश्चित कर उससे अपने को बाँध लेता है। वह हानि-लाभ के मान स्थिर कर लेता है और उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करता है। यही हानि-लाभ-गणना जीवन की प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार बन जाती है। स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र में हानि-लाभ की यह भावना सर्वथा भौतिक और तुच्छ हो जाती है, परन्तु जीवन के व्यापक और उच्चतर स्तर पर यह नीतिवाद का रूप धारण कर लेती है। स्वार्थी व्यक्ति जहाँ अपने तुच्छ और तत्कालिक हानि-लाभ की गणना में उलझा रहता है, वहाँ मनीषी व्यक्ति जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर व्यापक और स्थायी हानि-लाभ की चिन्ता में रत रहता है। पहले दृष्टिकोण के लिए पारिभाषिक शब्द भूतवाद है और दूसरे के लिए नीतिवाद। उपयोगिता का आधार है हानि-लाभ-विचार, और नीतिवाद का आधार है उचित-अनुचित अथवा शिव-अशिव विचार। हानि-लाभ जब एक का क्षणिक हानि-लाभ न रहकर अनेक का हानि-लाभ हो जाता है तो उसे ही शिव-अशिव की संज्ञा दे दी जाती है और उपयोगितावाद नीतिवाद का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचन्द का उपयोगितावाद इसी प्रकार का था। उसका मूल आधार था अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का अधिक-

से-अधिक हित। प्रेमचन्द के साहित्य पर सर्वत्र शिव का शासन है—सत्य और सुन्दर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृत रूप में जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ भी उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था। अतीत और आगत की रंगीन कल्पनाओं के लोभ में वे कभी नहीं पड़े। कला उनके लिए जीवन का एक प्रत्यक्ष साधन थी और उसका उपयोग उन्होंने व्यक्त रूप से निर्भ्रान्त होकर किया। कला की स्वतन्त्रता की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। केवल मनोरंजिनी कला को वे मदारियों और भाँड़ों का खेल समझते थे। आनन्द की उनके लिए कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी, वह सामाजिक जीवन के मूल्यों से अनुशासित हित का ही एक अंग था। जो आनन्द सार्वजनिक हित में योग नहीं देता, वह क्षणिक उत्तेजना-मात्र है, उसका कोई मूल्य नहीं। यही बात वे सौन्दर्य और सत्य (ज्ञान-विज्ञान) के लिए भी कहते थे। सुनते हैं, प्राचीन वास्तुकला की इमारतों को देखकर वे कहा करते थे कि ये सब कला के नाम पर यों ही व्यर्थ पड़ी हुई हैं, इनका सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

जीवन-दर्शन

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व है मानववाद। इस मानववाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दों में यह मानववाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचन्द की सहानुभूति व्यावहारिक उपयोगिता की सीमा से आगे नहीं बढ़ती या यों कहिए कि इस सीमा से आगे बढ़ना प्रेमचन्द उचित नहीं समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखंडता तक पहुँचने की उन्होंने जरूरत नहीं समझी—इसके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहाँ तक उनकी गति भी नहीं थी। अतएव उनका मानववाद एकान्त नैतिक है—उनकी सहानुभूति पर हिताहित-विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियंत्रण है। वे नैतिक मर्यादा की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत्-असत् से परे है—शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का, जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। इसलिए प्रेमचन्द का मानव वाद सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ पाया। वास्तव में अपने अंतिम रूप में मानववाद एक आध्या-

त्मिक दर्शन है और आत्मा की अखंडता का साक्षात्कार किये बिना मानववाद की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है। प्रेमचन्द स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे, द्रष्टा नहीं थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सका। उन्होंने इसमें विश्वास भी कभी नहीं किया; क्योंकि अपने ध्येय के लिए उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। उन्होंने तो अपने युग-जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान की भी खोज की। इसी लिए उनको मानववाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं : एक दक्षिण पक्ष का जनवाद जो जागरण-सुधार-मूलक है, दूसरा वाम पक्ष का जनवाद जो क्रांति-मूलक है। अपने युग धर्म के अनुकूल युग-पुरुष गांधी के प्रभाव में, प्रेमचन्द ने जागरण-सुधार-मूलक जनवाद को ही ग्रहण किया। गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को वे नहीं अपना सके।

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आदर्श और यथार्थ विषयक भ्रांति प्रायः पायी जाती है। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जिन उपन्यासों का प्रचार था उनमें अद्भुत और काल्पनिक का साम्राज्य था। उस समय हिन्दी-पाठकों के लिए उपन्यास का अर्थ था चित्र-विचित्र घटनाओं, दृश्यों एवं पात्रों का संकलन, जिनका इस लोक से नहीं कल्पना-लोक से सम्बन्ध था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें अपना नित्य-प्रति का जीवन, अपने पास-पड़ोस के लोग, अपनी व्यावहारिक समस्याएँ मिलीं। निदान उन्होंने इन उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरम्भ कर दिया। परन्तु जब इनका गंभीर अध्ययन होने लगा तो यह तुरन्त ही स्पष्ट हो गया कि ये उपन्यास सभी निर्भ्रान्त रूप से किसी-न-किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनाएँ नैत्यिक और यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।

इसी प्रकार उसके पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में प्रकृति की मनमानी नहीं चलती वरन् कलाकार का ही आदर्श काम करता है। वास्तव में प्रेमचन्द जैसा सुधारवादी उपन्यासकार आदर्शवादी न होता तो क्या होता ? उनका जीवन-

दर्शन, उनका नीतिवाद और उपयोगितावाद एक उत्कट आदर्शवाद के उप-करण-मात्र हैं। परन्तु अब यथार्थ का प्रश्न उठता है। इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द की कथाएँ नित्य प्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं। अर्थात् उनकी समस्याएँ इलाचन्द्र जोशी अथवा मार्क्स-वादी उपन्यासकारों की भाँति सैद्धांतिक अथवा प्रतिज्ञात्मक (Hypothetical) नहीं हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक एवं यथार्थ हैं। इसी प्रकार उनके पात्र और घटनाओं, तथा वातावरण, सभी में यथार्थता है। ऐसी स्थिति में उन्हें क्या समझा जाय ? यही उलझन पैदा हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह उलझन भ्रान्ति-मात्र है और इसका कारण यह है कि यथार्थ और आदर्श के विषय में ही लोगों को भ्रान्ति है। यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिसमें कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासम्भव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही, देखता है और चित्रित करता है। अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण हैं : एक रोमानी दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नों के रंगीन आवारण में लपेटकर देखता है और चित्रित करता है, तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढ़ता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है। प्रायः ये दोनों दृष्टिकोण—रोमानी और आदर्शवादी—सम्मिलित ही रहते हैं। परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है कि रोमानी धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा सम्भव हो। इसके विपरीत रोमानी दृष्टिकोण के लिए भी आदर्शवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि भाव और कल्पना का प्राचुर्य होते हुए भी उसमें किसी नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा आव-श्यक नहीं है। यह कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि उसे व्यवहार-जगत् प्रिय है या कल्पना-जगत्। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व, जैसा मैंने कहा, साधारण एवं व्यावहारिक था। साथ ही उनके जीवन-आदर्श भी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित थे। अतएव उन्होने व्यावहारिक धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है।—सारांश यह है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल

विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तु-गत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्न-द्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार जगत् की समस्याओं के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है; वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थवाद नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो। हाँ, यथार्थ उनकी शैली का अंग अवश्य है, उनके वर्णन अत्यन्त यथार्थ होते हैं, उनमें कल्पना के रूप-रंग न होकर वस्तु का यथा-तथ्य चित्रण रहता है। परन्तु दृष्टिकोण का निर्णय तो वर्णन की शैली से न करके उसके लक्ष्य से करना चाहिए। इसी लिए शैलीगत यथार्थ उनके आदर्शवाद के प्रतिकूल नहीं पड़ता, उसका अंग ही बन जाता है।

यहाँ तक मैंने तटस्थ रूप से, अपने वैयक्तिक रुचि वैचित्र्य को पृथक रखते हुए, प्रेमचन्द का महत्त्वांकन करने का प्रयत्न किया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुण्ठाओं से मुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण एक बहुत बड़ा गुण है—विशेषकर आज के कुण्ठाग्रस्त जीवन में। अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत कर सकना भी साधारण बात नहीं है। उधर अपनी कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा करना भी कलाकार का कर्त्तव्य है। और अंत में, इतना व्यापक दृष्टिकोण भी एक असाधारण विशेषता है, परन्तु फिर भी मेरा मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है। और इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द में कुछ ऐसे गुणों का अभाव है जो इनसे महत्तर हैं और जीवन और साहित्य में, जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

प्रतिभा के अनेक अंग हैं—तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता। इनमें से प्रेमचन्द के पास केवल व्यापकता ही थी—शेष तीन गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। वास्तव में 'नार्मल' व्यक्तित्व की यह सहज सीमा है कि व्यापकता की तो उसके साथ संगति पैठ जाती है परन्तु तेज-

स्विता, गहनता, और तीव्रता अथवा बौद्धिक सघनता एवं दृढ़ता के लिए उसमें स्थान नहीं होता।

तेजस्विता प्रतिभा का स्पष्टतम रूप है। यह गुण गहन आंतरिक संघर्ष की अपेक्षा करता है। अन्तर्द्वन्द्व की रगड़ खाकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व में तेज आता है—उसकी चेतना शक्ति अत्यंत प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। परन्तु प्रेमचन्द की साधारणता में इसके लिए अधिक स्थान नहीं है। व्यावहारिक व्यक्ति को सतर्क होकर इसको दबाना होता है क्योंकि व्यवहार-जगत् में तीव्र अनुभूतियाँ या प्रखर चेतना बाधक होती है। प्रेमचन्द के साहित्य में इस प्रकार की घटनाएँ तथा पात्र, अत्यन्त विरल हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन में प्रखर चेतना उद्‌बुद्ध कर सकें। तीव्र अंतर्द्वन्द्व के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते—उतर भी नहीं सकते। आत्मा की पीड़ा जो जीवन और साहित्य में गंभीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल-प्रेरणा कभी नहीं बन पायी। वह उनके जीवन-दर्शन के लिए अप्रासंगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को ही सम्पूर्ण महत्व दे डाला है। परन्तु जीवन में तो इनसे गहनतम समस्याएँ भी हैं—अंतर्जगत् की समस्याएँ—जिन्हें प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्व नहीं दिया। उनमें किसान-जमींदार, मज़दूर-पूँजीपति, छूत-अछूत, शिक्षा-अशिक्षा, आदि बाह्य जगत् के द्वन्द्वों का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और क्रान्ति, कर्त्तव्य और लालसा आदि अन्तर्जगत् के द्वन्द्वों का नहीं। यह बात नहीं कि ये प्रसंग आते ही नहीं। प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों और कहानियों में ये प्रसंग आये हैं, क्योंकि बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का पूर्णतः पृथक्करण सम्भव नहीं। वे एक दूसरे से लिपटे हुए हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने उनको वांछित महत्त्व नहीं दिया। पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने जितना महत्त्व दिया था उतना महत्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया। प्रेमचन्द उस युग की आध्यात्मिक क्लांति का सजीव चित्र नहीं दे पाये जिसने कि उसकी आत्मा को खोखला कर दिया था—जब कि पुराने विश्वास निर्जीव पड़ गये थे, नये विश्वासों में

प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पायी थी, और भारत की आत्मा निराधार-सी होकर कभी पीछे की ओर और कभी आगे की ओर दौड़ती थी। उन्होंने इस संघर्ष के बाह्य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुँच थी। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक ही सीमित रही है। जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े ही हल्के हाथों से छुआ है या छुआ ही नहीं है। कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नहीं हो सकता। परन्तु प्रेमचन्द का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता, चिंतन और गंभीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इसी लिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है, और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि में एक प्रकार का पोलापन मिलता है। विचारों की सघनता, जो गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमें नहीं है। यों तो विभिन्न समस्याओं का विवेचन करते समय अपने मत के प्रचार में उन्होंने पृष्ठ-के-पृष्ठ लिख डाले हैं, परन्तु उनका बौद्धिक तत्त्व साधारण विवेक-सम्मत तर्कवाद पर आश्रित होने के कारण काफी हलका होता है, और पाठक के विचार पर उसका कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए प्रसाद के 'कंकाल' को लीजिए। उपन्यास कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास उससे कहीं उत्कृष्ट हैं, परन्तु 'कंकाल' का बुद्धिपक्ष निश्चित ही अधिक समृद्ध है। प्रसाद के विवेचन जहाँ दार्शनिक चिंतन पर आश्रित हैं, वहाँ प्रेमचन्द के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर। व्यावहारिक व्यक्ति जिस प्रकार बाल की खाल निकालना पसन्द नहीं करता, काम-से-काम रखता है, इसी प्रकार प्रेमचन्द भी किसी प्रश्न के तल तक जाने का प्रयत्न नहीं करते। निदान उनमें सूक्ष्म चिंतन और विश्लेषण का भी प्रायः अभाव है।

वास्तव में ये साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव हैं। साधारण व्यक्तित्व कुल मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। महान् होने के लिए असाधारणता अपेक्षित है, क्योंकि प्रतिभा भी तो असाधारण लोकोत्तर शक्ति का नाम है। जीवन की असाधारणताओं का अनुभव कर साधारणत्व की प्राप्ति करना एक बात है, और असाधारणताओं को बचाकर लीक पर चलते रहना दूसरी। पहला लोकोत्तर प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व का काम है, दूसरा साधारण व्यावहारिक व्यक्ति का। प्रेमचन्द पहली श्रेणी में नहीं आते।

प्रेमचन्द एक समीक्षा

[सुश्री शचि रानी गुर्टू]

स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द ने हिंदी-उपन्यास के विपुल साहित्य-कान्तार में सर्व-प्रथम पगडंडियों का निर्माण किया। उनके पूर्व के उपन्यासकारों ने चरित्र-चित्रण, मानव जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों और मानसिक विश्लेषण तथा अन्तर्द्वन्द्व के ऊहापोहभरे चित्रों के निदर्शन का प्रयास नहीं किया था, साथ ही उनमें शील-वैचित्र्य की उद्भावना और अन्तर्भावों की विशद व्याख्या भी नहीं के बराबर थी। तत्कालीन उपन्यास-लेखक देवकीनन्दन खत्री, पं० किशोरी-लाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी के तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों में कथानक प्रायः प्रेम-प्रधान होते थे, चरित्र भी किसी एक विशेषता को ही लेकर चलते थे—या तो वे अत्यधिक दैवी-गुणों से सम्पन्न होते थे अथवा अत्यन्त पतित और निन्दनीय। चरित्रों के क्रमिक विकास एवं मानवीय गुण-दोषों को एक ही व्यक्ति में प्रदर्शित करने की ओर भी किसी का ध्यान अभी तक न गया था। उनका कोई पात्र आदर्श प्रेमी था—तो कोई नीच, निर्मम डाकू; कोई तिलस्मी अय्यार था—तो कोई जासूस और समस्त धूर्त्तताओं का ज्ञाता। उदार, परोपकारी, दयालु और विशाल हृदय व्यक्ति भी कभी, किसी क्षण, हीन प्रवृत्तियों के शिकार हो जाते हैं और दुष्ट व्यक्तियों में भी कभी-कभी अच्छाइयों की रश्मियाँ फूट पड़ती हैं—ऐसा इन उपन्यासकारों ने कभी सोचा न था। इसके अतिरिक्त उनके उपन्यासों में कथानक-सौन्दर्य और वैचित्र्य का भी विकास न हो सका, अतएव कथा की प्रगति के लिए बाह्य एवं अस्वाभाविक प्रसाधनों का प्रश्रय लेना पड़ा, जिसके फलस्वरूप उन्हें संयोग-वियोग, प्रेम-घृणा, सुख-दुःख, आनन्द-विषाद और कल्पित, कौतूहलपूर्ण दैवीघटनाओं का सहारा लेकर नयी-नयी कृत्रिम उलझनों की सृष्टि करनी पड़ी। कहना न होगा कि प्रेमचन्द ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने उपन्यास-क्षेत्र में युग-प्रवर्त्तक का

कार्य किया। उन्होंने उपन्यास की उत्कृष्ट भूमिका में प्रवेश करके उसकी श्लाध्य अंगपुष्टि की और ऐसे साहित्य का सृजन किया, जिसमें उपन्यास, कहानी, गल्प आदि के द्वारा मानवजीवन की ही भावनाओं को व्यक्त किया, उन्हीं के जीवन की नित्य-प्रति की अनुभूतियों का निदर्शन किया और उन्हीं के चरित्र के विविध, आकर्षक चित्र खींचे।

प्रेमचन्दजी के चरित्र-चित्रण का ढंग भी बड़ा ही निराला था। उनके प्रत्येक उपन्यास में अनेकों पात्र एक साथ मिलते हैं, किन्तु सब का व्यक्तित्व पृथक् दृष्टिगत होता है। उन्होंने अपने यथार्थ चित्रण के बल से उनकी व्यक्तिगत रुचि, आदर्श भावना, तथा उनके स्वभाव की विशेष प्रवृत्तियों के, उनके बातचीत, रहन सहन, रंग-ढंग, चाल-ढाल और उनके विशेष लक्षणों के चित्रण द्वारा उनका सच्चा चित्र पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है। हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वे सजीव चलते-फिरते नर-नारी, बालक-बालिकाएँ, वृद्ध-तरुण अपने ही अंगी व सहयोगी हैं, उनसे हमारा निकट का सम्पर्क है, हमारे हृदय को वे आकर्षित कर लेते हैं, अपनी ओर बरबस खींचते हैं, हम उनसे प्रसंगानुसार प्रेम तथा द्वेष करते हैं, उनकी हँसी के साथ हमारा आह्लाद फूट पड़ता है, उनके आँसुओं के साथ हमारे अश्रु भी ढुलक पड़ते हैं। वे हमारी राग-विराग की वृत्तियों से इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, हमारे जीवन में इतने घुल-मिल जाते हैं, हम पर अपना व्यापक और स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं कि हम उन्हें आजन्म नहीं भूल पाते।

प्रेमचन्दजी के कहानी कहने की प्रणाली भी अत्यन्त रोचक और सारगर्भित है। कथा में कल्पना की क्रीड़ा, वाग्वैचित्र्य और नये-नये प्रसंगों की उद्भावना भी बड़े ही कौशल और सुन्दर ढंग से हुई है। प्रत्येक घटना और दृश्य की अपनी-अपनी विशेषता है और वे विशृंखल होते हुए भी एक ऐसे सूत्र में बँधे चलते हैं कि उनमें पृथकत्व का आभास ही नहीं होने पाता। कभी-कभी तो पाठक को ऐसा भान होने लगता है कि ये सभी लघु-कथाएँ महत्वपूर्ण जीवन-विश्लेषण चित्र हैं, जिन्हें एक सूत्र में बाँधकर लेखक ने अपने बुद्धि-बल से एक विशद कथानक के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

प्रेमचन्दजी को मानव-चरित्र का भी अत्यधिक ज्ञान है और उनका विवेचन

भी बड़ी सफलता के साथ हुआ है। किसान-ज़मींदार, मजदूर-मिल-मालिक, शिक्षित-अशिक्षित, सच्चरित्र-दुश्चरित्र, स्त्री-पुरुष, सभ्य-ग्रामीण, बालक-बालिकाएँ आदि सभी पात्रों का वर्णन इतना आकर्षक और पूर्ण है कि वे उपन्यासों के रंगमंच पर अपना अभिनय करके अपना स्थायी प्रभाव हमारे हृदय-पटल पर अंकित कर जाते हैं। मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण और उनके उत्थान-पतन के चित्र अंकित करने में तो प्रेमचन्दजी ने कमाल कर दिखाया है।

उदाहरणार्थ—'प्रेमाश्रम' में से ज्ञानशंकर, 'रंगभूमि' में से सूरदास और विनय, 'सेवासदन' में से पद्मसिंह और सुमन, 'गोदान' में से होरी-धनिया, गोबर-झुनिया, मातादीन-सिलिया, मेहता-मालती, खन्ना-गोबिंदी, और 'ग़बन' में से रमानाथ और जालपा के चरित्रों को ले लीजिए। अपने नित्यप्रति के जीवन-क्षेत्र में हमें जिस प्रकार के मनुष्य मिलते हैं, उनकी ठीक प्रतिकृति उन्होंने खींच दी है।

'चूहिया दोहरी देह की काली-कलूटी, नाटी, कुरूपा, बड़े-बड़े स्तनोंवाली स्त्री थी।' 'गोबर साँवला, लम्बा, एकहरा युवक था।' 'बड़ी लड़की सोना लज्जाशीला कुमारी थी, साँवली, सुडौल, प्रसन्न और चपल। गाढ़े की लाल साड़ी, जिसे वह घुटनों से मोड़कर कमर में बाँधे हुए थी, उसके हल्के शरीर पर कुछ लदी हुई-सी थी, और उसे प्रौढ़ता की गरिमा दे रही थी। छोटी रूपा पाँच-छः साल की छोकरी थी, मैली, सिर पर बालों का एक घोंसला-सा बना हुआ, एक लंगोटी कमर में बाँधे, बहुत ही ढीठ और रोनी।' 'झींगुरीसिंह नाटे, मोटे, खल्वाट, काले, लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले आदमी थे—बिल्कुल विदूषक जैसे।' इसी प्रकार 'रंगभूमि' में सूरदास एक बहुत ही क्षीणकाय, दुर्बल और सरल व्यक्ति था। उसे दैव ने कदाचित् भीख माँगने के लिए ही बनाया था।' 'जॉनसेवक दुहरे बदन के गोरे-चट्टे आदमी थे। बुढ़ापे में भी चेहरा लाल था।...मुख की आकृति से ग़रूर और आत्मविश्वास झलकता था।' 'मिसेज़ सेवक के चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं, उनसे उसके हृदय की संकीर्णता टपकती थी।' प्रेमचन्दजी के इन चित्रों में जो स्वाभाविकता और ताज़गी है—उसका प्रमुख कारण है—मानव-स्वभाव की उनकी खरी परख और जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव। अपने उदार और

ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर उन्होंने जो संवेदना प्राप्त की है—उसी की व्यंजना उनके उपन्यासों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। इसके अलावा उन्हें ग्राम्य-जीवन, वहाँ के दृश्यों, खेलों, पुरुष तथा स्त्रियों के स्वभावों का, उनके सामाजिक, नैतिक और पारिवारिक जीवन-विशेषताओं का बहुत ही निकट-परिचय प्राप्त था। उनके कुछ पात्रों में ऐसे स्वाभाविक ढाँचे की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलती हैं कि जिन्हें सामने पाकर हमें यह भ्रम होने लगता है कि इनका और हमारा कहीं-न-कहीं साक्षात्कार हुआ है। निःसन्देह, उनके मनोहर और रस छलकाते चित्र बिल्कुल सच्चे और खरे उतरे हैं। उनमें मार्मिकता और अनूठी व्यजना है। उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है।

प्रेमचन्दजी आदर्शवादी कलाकार हैं। उनका मत है कि कला जीवन के लिए है न कि केवल कला के लिए। उनके यथार्थवाद पर आदर्शवाद का मानों मुलम्मा चढ़ा रहता है, किन्तु कहीं भी आदर्श के लिए कला की हत्या नहीं की गयी। आदर्शवाद एवं कला का बहुत सुन्दर समन्वय उनके उपन्यासों की विशेषता है।

प्रेमचन्दजी की एक दूसरी विशेषता है कि कथानक सामान्य होते हुए भी वे अपनी वर्णन-पटुता एवं आकर्षक-शैली से उसे सजीव बना देते हैं। जीवन का इतना रहस्यमय, गूढ़ और रंजनकारी चित्रण, वाह्य और अन्तर को समान कौशल से चित्रित करने की उनकी पटुता तथा हृद्गत भावनाओं को बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित करने की उनकी प्रणाली देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है। समयानुकूल आकांक्षा, प्रेम, क्षोभ, क्रोध, चिंता, प्रतीक्षा, आत्मग्लानि, घबराहट, उदासीनता, विह्वलता, सहृदयता, कोमलता, उदारता आदि के शब्द-चित्र बहुत ही सुन्दर उतरते हैं। आशा-निराशा के मानसिक-द्वन्द्व का एक चित्र देखिए :

'धनिया सन्नाटे में आ गयी। एक ही क्षण में उसके जीवन का मृदु स्वप्न जैसे टूट गया। अब तक वह मन में प्रसन्न थी कि उसका दुःख-दरिद्र सब दूर हो गया। जब से गोबर घर आया उसके मुख पर हास की एक छटा खिली रहती थी। उसकी वाणी में मृदुता और व्यवहारों में उदारता आ गई। भग-

वान् ने उसपर दया की है तो उसे सिर झुका कर चलना चाहिए। भीतर की शांति बाहर सौजन्य बन गयी थी। ये शब्द तपते हुए बालू की तरह हृदय पर पड़े और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गये। उसका सारा घमंड चूर-चूर हो गया। इतना सुन लेने के बाद जीवन में क्या रह गया। जिस नौका पर बैठकर इस जीवन-सागर को पार करना चाहती थी वही टूट गयी, तो किस सुख के लिए जिये।'

ईर्ष्याग्नि नारी की कोमल भावनाओं को झुलसाकर उसकी मृदुता को सुखाकर कितना भीषण रूप धारण कर लेती है, इसका एक उदाहरण देखिए:

'देखो सिल्लो, मुझसे साफ़-साफ़ बता दो, नहीं तो मैं तुम्हारे सामने यहीं, अपनी गरदन पर गँडासा मार लूँगी। फिर तुम मेरी सौत बनकर राज करना। देखो, वह गँडासा सामने पड़ा है। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं।'

संवेदना हृदय को द्रवित करके मोम-सा पिघला देती है। सहृदयता से सहृदयता उत्पन्न होती है। निम्नलिखित पंक्तियों में न जाने कितने दिनों की कितनी भारी प्रणय-ममता उभरी पड़ रही है :—

'जब गोबर उसके चरणों पर झुका तो होरी रो पड़ा, मानो फिर उसे पुत्र के दर्शन न होंगे। उसकी आत्मा में उल्लास था, गर्व था, संकल्प था। पुत्र से श्रद्धा और स्नेह पाकर वह तेजवान् हो गया है, विशाल हो गया है। कई दिन पहले उस पर जो अवसाद-सा छा गया था, एक अंधकार-सा, जहाँ वह अपना मार्ग भूल जाता था, वहाँ अब उत्साह है और प्रकाश है।'

करुणा का कितना मार्मिक चित्रण हुआ है—देखिए :

'धनिया को दीन आँखों से देखा, दोनों कोयों से आँसू की दो बूँदें ढुलक पड़ीं। क्षीण स्वर में बोला—मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गयी। रो मत धनिया, कब तक जिलायेगी। सब दुर्दशा तो हो गयी। अब मरने दे।'

वर्णन-शक्ति भी उनकी बड़ी ही प्रबल है। नीचे के उद्धरणों को पढ़कर दृश्य-चित्र बिल्कुल नेत्रों के समक्ष आ जाता है।

'जनता बूढ़े कुलेलों पर हँसती थी, तालियाँ बजाती थी, गालियाँ देती थी,

ललकारती थी, बाजियाँ लगाती थी। वाह ! ज़रा इन बूढ़े बाबा को देखो। किस शान से जा रहे हैं, जैसे सब को मार कर ही लौटेंगे। अच्छा, दूसरी तरफ़ से भी उन्हीं के बड़े भाई निकले। दोनों कैसे पैतरें बदल रहे हैं। इन हड्डियों में अभी बहुत जान है भाई ! इन लोगों ने जितना घी खाया है, उतना अब हमें पानी भी मयस्सर नहीं। लोग कहते हैं, भारत धनी हो रहा है। होता होगा। हम तो यही देखते हैं कि इन बुड्ढों-जैसे जीवट के जवान भी आज मुश्किल से निकलेंगे। वह उधरवाले बुड्ढे ने इसे दबोच लिया। बेचारा छूट निकलने के लिए कितना जोर मार रहा है। मगर अब नहीं जा सकते बच्चा ! एक को तीन लिपट गये।'

'वहीं रुपहली चाँदनी अब भी छायी हुई थी। नदी की लहरें अब भी चाँद की किरणों में नहा रही थीं और सिल्ला विक्षिप्त-सो स्वप्न-छाया की भाँति नदी में चली जा रही थी।'

प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में कथोपकथन भी एक मुख्य तत्व है, जिसके द्वारा उन्होंने अपने विचारों, आदर्शों और सिद्धांतों को प्रकट किया है। उनके कथोपकथन बहुत ही सजीव, पात्रों के अनुकूल, सारगर्भित और प्रभावशाली होते हैं। वे नपे-तुले, अधिक बड़े न अधिक छोटे और व्यर्थ के शब्दाडम्बर से विनिर्मुक्त होते हैं।

आरोप-प्रत्यारोप का एक दृश्य देखिए :

'मिस मालती ने तंखा को तिरस्कार भरी आँखों से देखा।

'आप लोग इतने कायर हैं, यह मैं न समझती थी।'

'मैं भी यह न समझता था कि आपको रुपये इतने प्यारे हैं और वह भी मुफ्त के।'

'जब आप लोग मेरा अपमान देख सकते हैं, तो अपने घर की स्त्रियों का भी अपमान देख सकते होंगे।'

'तो आप भी पैसे के लिए घर के पुरुषों को होम करने में संकोच न करेंगी।'

एक औपन्यासिक के लिए जिस प्रकार की भाषा वांच्छनीय है वैसी ही प्रेमचन्दजी को प्राप्त है। उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा है और वह सृजनात्मक कल्पना है जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा अत्यन्त मधुर, ओजपूर्ण, मुहावरेदार

और रचना-कौशल एवं आकर्षक शब्दावली से युक्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उसमें नैसर्गिक प्रवाह है और वह स्वयमेव कलम से फिसलती चलती है। प्रत्येक पात्र की चारित्रिक विशेषताओं, योग्यता, परिस्थिति और अवस्था के अनुरूप कहीं तो भाषा अत्यन्त परिमार्जित, सारगर्भित, साहित्यिक और संस्कृतमय हो गयी है :

'वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन-भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से मानों हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन-रव हम तक नहीं पहुँचता।'

कहीं इतनी उर्दूमय हो गयी है कि जिसका आशय उर्दू के अच्छे जानकार ही समझ सकते हैं।

'मैं इखराज की तहरीक पर एतराज करने की जुरअत कर सकता हूँ।' कहीं सरल, कहीं साहित्यिक, कहीं उर्दूमय, कहीं संस्कृतगर्भित, कहीं क्लिष्ट, तो कहीं ग्रामीण—कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी भाषा को पात्र, परिस्थिति और प्रसंगानुकूल मोड़ने-तोड़ने में वे अत्यन्त सिद्धहस्त थे। हिंदी-उर्दू की उन्हें पूर्ण जानकारी थी।

कुछ साहित्यिक विद्वानों के मतानुसार प्रेमचन्दजी नारी के चरित्र-चित्रण में असफल हुए हैं, किन्तु हमें तो लगता है कि नारी की शक्ति और दुर्बलताओं का, उनके सामाजिक, नैतिक और शारीरिक स्वभाव एवं विशेषताओं का, उनकी रुचि, आदर्श, भावना तथा चारित्रिक उत्थान-पतन आदि का जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रेमचन्दजी ने किया है उतना अन्य किसी आधुनिक उपन्यासकार ने नहीं। नारी कब प्रेम करती है, कब द्वेष करती है, कब उसके हृदय के तार सहसा झनझना उठते हैं, कब वह पश्चात्ताप और आत्मग्लानि

से भर जाती है, प्रेम में वह कितनी द्रवीभूत हो उठती है, क्रोध और प्रतिशोध के समय वह किस प्रकार चण्डी का रूप धारण कर लेती है, लज्जा से वह कितनी मर-सी जाती है और गर्वोन्मत्त वह कितनी उज्ज्वल और गौरवमयी हो उठती है—इसका जितना ज्ञान प्रेमचन्दजी को था, उतना कदाचित् ही अन्य किसी को। सुमन, धनिया जालपा, निर्मला, झुनिया, सिलिया, गोविंदी आदि के चरित्र क्या भुलाये जा सकते हैं ?

कहानी-क्षेत्र में भी प्रेमचन्दजी ने अद्वितीय कार्य किया है। उनकी कहानियों में मार्मिक प्रसंगों और दृश्यों का चुनाव, प्रभाव की व्यंजना एवं निगूढ़ मनोगतियों का निदर्शन हुआ है। वस्तुतः यदि मार्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उनका महत्त्व उपन्यासों से कम नहीं है ; वरन् यों कहना चाहिए कि उनकी कहानियों में जो जीवन-सम्पर्क और सहानुभूति है, कल्पना की मनोरमता के साथ-साथ मानव-स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण और वैचित्र्य है तथा कहानी कहने के ढंग में जो नैसर्गिक प्रवाह एवं प्रतिभा है—उसी के कारण वे हिंदी-कहानो के जन्मदाता कहे गये हैं और उसी का परिणाम है कि हमारा कहानी-साहित्य विश्व-साहित्य में कुछ स्थान पा सका है।

उनकी कई कहानियों के अनुवाद जापानी, अंग्रेजी, रूसी तथा कई भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ग्राम्य-जीवन का जो यथार्थ एवं स्वाभाविक चित्रण, वस्तुविन्यास की अकृत्रिमता एवं अनुभूति-प्रवणता जो हमें इनके उपन्यासों और कहानियों में मिलती है—वह बेजोड़ है। निःसन्देह, हिंदी-कथा-साहित्य में एक ये ही ऐसे अन्तर्द्रष्टा कलाकार हुए हैं, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है और जो निर्विवाद रूप से भारतीय उपन्यास तथा कहानी-साहित्य के प्रतिनिधि माने गये हैं।

———

प्रेमचन्द : एक परिचय

[श्री अमृतराय]

प्रेमचन्द का जन्म लगभग उसी समय हुआ था जब कि इंडियन नेशनल कांग्रेस का।

कांग्रेस का जन्म इस बात की परोक्ष स्वीकृति थी कि देश में स्वतंत्रता की काफी सशक्त चेतना उस समय वर्तमान थी। स्वतंत्रता की भावना वातावरण में थी। इसलिए यह स्वाभाविक था कि आरम्भ से ही प्रेमचन्द पर उसका प्रभाव पड़े।

प्रेमचन्द का जन्म १८८१ में हुआ था और उनकी साहित्यिक प्रौढ़ता का काल वही था जब कि बंगाल में बंगभंग-विरोधी और स्वदेशी आन्दोलन जोरों के साथ चल रहे थे। ये आन्दोलन इतने शक्तिशाली थे कि वे आसानी से बंगाल की भौगोलिक सीमा को पारकर समस्त देश के और नहीं तो कम-से कम पढ़े-लिखे और सोचनेवाले वर्ग की चेतना को प्रभावित कर सकें। इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस की मुहरवाली राजनीति अभी विधानवाद के दलदल में ही फँसी हुई थी, लेकिन उसके साथ-ही-साथ ऐसे कुछ दूसरे माध्यम भी थे, जिनमें देश की स्वातंत्र्य-चेतना अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज रही थी। जब एक समूचे देश में आजादी की भावना घर कर जाती है तब अकेली ठप्पेवाली राज-नीति का ब्यौरा देने से काम नहीं चलता। भीतर-ही-भीतर न जाने कितने आवेग-उद्वेग जन-मन को आलोड़ित करते रहते हैं। वे सदा इतने शक्तिशाली तो नहीं होते कि घटनाचक्र को बदल दें; लेकिन उनका प्रभाव भी धीरे-धीरे पड़ता रहता है और उस हद तक वे इतिहास के निर्माण में योग देते हैं। यह भी सच है कि बहुधा अखबार की सुर्खियों में उनका नाम नहीं आता, मगर वह लेखक किस काम का जो केवल उन्हीं बातों का हवाला देता है जिनका नाम मोटी-मोटी सुर्खियों में आता है। लेखक का काम वस्तु-जगत् के परिवर्तनों को ही लिपिबद्ध करना नहीं है; उसका काम यह भी है कि वह मनुष्य के भीतर होनेवाले परिवर्तनों को भी लिपिबद्ध करे। और जैसा कि हम जानते ही हैं,

भारतीय मानव का मन उस काल में अत्यन्त आन्दोलित एवं क्षुब्ध था। उसकी अभिव्यक्ति मिली राष्ट्रीय आन्दोलन में जो विधानवाद की अप्राकृतिक सीमाओं से अवरुद्ध होते हुए भी उस परिस्थिति में एक जाग्रत देश का सबसे मजबूत, संगठित, आगे बढ़ा हुआ कदम था। मगर कांग्रेस के नेतृत्व में चलनेवाले इस आन्दोलन के अलावा एक आन्दोलन और था, आतंकवाद का आन्दोलन, जो व्यक्ति की वीरता और आत्मोत्सर्ग की भावना पर आधारित था। राष्ट्रीय-स्वतंत्रता के जन-आन्दोलन के हथियार के रूप में इस आन्दोलन की विफलता अवश्यम्भावी थी, क्योंकि उसका आधार जनचेतना नहीं थी; मगर इतना होते हुए भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आतंकवादी 'ऐक्शनों' ने भी उस समय हमारी जनता के मन में अंग्रेज गुलाम बनानेवालों के विरुद्ध पवित्र घृणा का संचार किया और उसे आजादी के लिए लड़ने को जगाया। सन् १९०८ में भारतीय श्रमिकवर्ग ने पहली बार राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया। उसी वर्ष बम्बई के श्रमिकवर्ग ने लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में हड़ताल की। इसलिए यह कहना ठीक है कि इस शती के पहले दशाब्द में ही सतेज श्रमिक आन्दोलन का प्रथम उन्मेष दिखायी दिया, वही आन्दोलन जो आज हमारे समूचे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अपरिहार्य अंग बन गया है।

कांग्रेस की सीमा के बाहर चलनेवाले ये आन्दोलन समस्त राष्ट्रीय आन्दोलन की गहराई और उसके प्रसार को कई गुना बढ़ा रहे थे। उन्हीं के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन सजे-सजाये ड्राइंगरूम के बाहर निकलकर सड़क पर आ सका, जहाँ लोग संघर्ष कर रहे थे, आहुति दे रहे थे, लड़ रहे थे। उनके बिना कदाचित् वह आन्दोलन सजे-सजाये कमरों में ही सीमित रह जाता जहाँ कुछ बड़े विचक्षण उदारपंथी राजनीतिज्ञ शासकों के समक्ष पेश की जानेवाली स्मारकलिपि का मसविदा बैठे तैयार किया करते थे।

प्रेमचन्द ने इसी गम्भीरतर राष्ट्रीय जागरण का अभिनन्दन किया, केवल उदार-पंथियों के नेतृत्व में चलनेवाले कांग्रेस आन्दोलन का नहीं। सन् १९०१ के आसपास प्रेमचन्द ने अपना पहला उपन्यास 'श्यामा' लिखा। मुझे बताया गया है (किताब अब उपलब्ध नहीं है) कि उसमें प्रेमचन्द ने बड़े सतेज,

साहसपूर्ण स्वर में ब्रिटिश कुशासन की निन्दा की है। वही भावधारा उस काल की नयी कहानियों में मिलती है। इन कहानियों का संग्रह, संभवतः १९०६ में 'सोजेवतन' के नाम से हुआ। यह किताब फौरन जब्त कर ली गयी। इस किताब के प्रकाशन से उसके लेखक को, जो उस समय गवर्नमेंट नार्मल स्कूल में अध्यापक था, बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यहाँ तक कि लेखक को अपना असली नाम 'धनपतराय' त्यागकर एक छद्मनाम या उपनाम 'प्रेमचन्द' अपनाना पड़ा। इस पीढ़ी के लोगों के लिए यह एक खासी रोमांचकारी कहानी है; लेकिन इससे इस बात का कुछ आभास मिलता है कि अभी कुछ ही काल पहले तक हमारे शासक देश पर कैसे विकट ढंग से डण्डे के जोर पर राज करते थे, और तब से अब हम कितना आगे बढ़ आये हैं।

अपने जीवन और साहित्य दोनों में प्रेमचन्द पूर्णरूप से जनवादी थे। वे अपनी जनता को अच्छी तरह जानते थे; वे उसे बहुत प्यार करते थे और उन्होंने अपनी कलम का इस्तेमाल जनता के हित में लड़नेवाली चमकदार तलवार के रूप में किया। सभी मामलों में, चाहे वे राजनीतिक हों, चाहे आर्थिक, चाहे सामाजिक, किसी बात के अच्छे-बुरे की उनकी एक और अकेली कसौटी यह थी कि उससे जनता को फायदा पहुँचता है या चोट लगती है। इसी लिए उनकी रचनाओं में हमें एक व्यावहारिक ढङ्ग का 'समाजवाद' दिखायी पड़ता है। यह सही है कि उसमें बहुत-सी खामियाँ हैं, जिनमें से कुछ बड़ी संगीन हैं; लेकिन मोटे रूप में उनके निष्कर्ष अधिकांशतः सही हैं। उनके सामाजिक निष्कर्षों में कोई गलती न रह जाये, इसके लिए प्रेमचन्द को वैज्ञानिक समाजवादी बनना पड़ता, जो कि वे नहीं थे। लेकिन वे जनता के संग कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़े हुए, इसी लिए सत्य उनके साथ था, इतिहास उनके साथ था। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह बात स्वाभाविक जान पड़ती है कि भारतीय पुनर्जागरण के महान् लेखकों में वे ही ऐसे हैं, जो अपने सामाजिक निष्कर्षों में क्रांतिकारी या वैज्ञानिक समाजवाद के सबसे समीप हैं। वैज्ञानिक समाजवाद और प्रेमचन्द के अपने वैचारिक विकास में सामंजस्य स्थापित करनेवाला तत्त्व है जनता। यही सबसे बड़ा कारण है कि क्यों प्रेमचन्द अपने वैचारिक जगत् में भ्रमण करते हुए भी कभी सत्य के पथ से,

समाजवाद के पथ से, बहुत दूर नहीं भटके। उनके निजी अनुभवों ने उनके विचारों का निर्माण किया था। पढ़ने के व्यसनी होने के नाते किताबों से भी उन्हीने सीखा अवश्य; लेकिन उससे कहीं अधिक उन्होंने सीखा जीवन से। इसी लिए अगर कोई रचना-कालक्रम से प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों को पढ़े, तो बहुत सूक्ष्म अध्ययन के बिना भी वह इस बात को सहज ही लक्ष्य कर सकता है कि प्रेमचन्द विचारों की दिशा में क्रमशः समाजवाद के पास पहुँचते जा रहे थे।

प्रेमचन्द की पुस्तक में समाजवादी या समाजवाद-उन्मुख विचारों का निरन्तर स्थायी रूप से प्रवेश राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास से पृथक् तो नहीं है, अग्रगामी अवश्य है। सभी समस्याओं के समाधान के लिए हर दशा में जानवाद के सिद्धान्तों का ही आश्रय लेते हुए, उन्होंने अपने उपन्यासों व कहानियों में ऐसे विचारों का प्रचार किया जिन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन ने क्रमशः स्वीकार किया। जैसे-जैसे आन्दोलन का आधार और व्यापक हुआ और उसमें जनता के नये और अधिक क्रान्तिकारी अंशों का प्रवेश हुआ, वैसे-वैसे इन नये अंशों के प्रभावस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन की मान्यताएँ भी बदलीं और वह क्रान्तिकारी जनता की आर्थिक सामाजिक न्याय की माँगों को स्वीकार करने पर विवश हुआ। इस तरह प्रेमचन्द ने प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया कि एक महान् लेखक सामाजिक जीवन का इतिवृत्तकार ही नहीं होता, बल्कि द्रष्टा भी होता है जो अपने स्वप्न को भविष्य के पर्दे पर फेंकता है।

जीवन में जनवादी, साहित्य में यथार्थवादी प्रेमचन्द ने जीवन को जैसा देखा वैसा ही उसे चित्रित किया। उन्होंने रोमांस के इन्द्रधनुषी रंगों या अध्यात्मवाद के गहरे खाकी रंगों को सत्यदर्शन में बाधक नहीं होने दिया। इसी लिए उनका चित्रण इतना सच्चा और प्रभावोत्पादक है।

लेकिन उनके उपन्यासों और कहानियों में अनेक स्थलों पर गलत सुर बज उठता है। पाठकों ने लक्ष्य किया होगा कि कभी-कभी कहानी का अन्त बाकी कहानी से बिलकुल मेल नहीं खाता। ऐसी दशा में लेखक कथा के स्वाभाविक विकास पर अपने आपको लादता-सा जान पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि कहानी का प्राकृतिक विकास तो उसे एक प्रकार के उपसंहार की ओर ले

जाता है, और कहानीकार की पूर्व-निश्चित योजना उसे भिन्न या कभी-कभी विपरीत दिशा में जाने को विवश करती है। जब भी ऐसा हो, उसे कहानी का बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझना चाहिए। और अब यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है ?

ऐसा इसलिए होता है कि लेखक अब तक पूँजीवाद द्वारा पोषित कुछ भ्रान्तियों का बन्दी है। पूँजीपतिवर्ग स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व के आदर्शों की घोषणा करता है लेकिन उन साधनों का आयोजन नहीं करता जिनके द्वारा इस मौखिक आदर्श को जीवन में चरितार्थ किया जा सके। और इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि वह वास्तविक समता स्थापित कर नहीं सकता, क्योंकि वह स्वयं विषमता पर आधारित है—जाति-जाति में वैषम्य, स्त्री-पुरुष में वैषम्य, अमीर-गरीब में वैषम्य। इसलिए यह कहा जाता है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत 'स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व' केवल एक युद्ध का नारा है, जिसका उपयोग वर्द्धिष्णु पूँजीपतिवर्ग सामंतवादी एकतन्त्र के विरुद्ध लड़ते समय करता है। मगर धीरे-धीरे जब स्वयं उसका ह्रास होने लगता है और उसके अन्दर विकास के तत्त्व एकदम निःशेष हो जाते हैं तब यह नारा पहले से भी अधिक खोखला हो जाता है, क्योंकि विकास अवरुद्ध होने और ह्रास आरम्भ होने के साथ-साथ उसकी रही-सही वास्तविकता भी नष्ट हो गयी रहती है और वह क्रमशः एक ऐसा झूठा नारा हो जाता है जिसे सुनकर सभी सच्चे जनवादियों के कान जैसे जल उठते हैं। लोग अगर पूँजीवाद के वास्तविक रूप को जान जायेंगे, तो उसका खेल-तमाशा खत्म। इसी लिए पूँजीवाद हर तरह के भ्रामक परिधान से अपने को ढँक कर अपनी उस वास्तविकता को छिपाना चाहता है। ऐसी स्थिति में दोनों ही बातें संभव हैं; लेखक इस जाल को समझ भी सकता है और नहीं भी समझ सकता। अगर समझ लेता है, तो वह उस मार्ग पर पहुँच जाता है जो उसे अनिवार्यतः समाजवाद की ओर ले जाता है; और जब तक वह नहीं समझता तब तक वह भूलभुलैया में चक्कर-सा खाया करता है, और कभी अपने गन्तव्य पर नहीं पहुँचता। सत्य तब तक उसके हाथ से छूटा रहता है।

इस छोटी-सी टिप्पणी के द्वारा हमारा उद्देश्य केवल यह दिखलाना है कि

जीवनपर्यन्त काल्पनिक स्वतन्त्रता, काल्पनिक समता और काल्पनिक न्याय की बुर्जुआ भ्रान्तियों से संघर्ष करने के बाद प्रेमचन्द अपने अन्तिम दिनों में निश्चय ही उस मार्ग पर आ गये थे, जो समाजवाद की ओर ले जाता है। इसका पहला इंगित 'गोदान' में है, होरी के चरित्र में। यही बात प्रेमचन्द ने और भी विस्तार के साथ और एक वैचारिक गुत्थी का सुलझाने के रूप में 'मंगलसूत्र' में कही है जो उनका अन्तिम और अपूर्ण उपन्यास है। अपनी बात के प्रमाण में मैं 'मंगलसूत्र' से एक छोटा-सा उद्धरण देना चाहता हूँ :

'पं० देवकुमार (उपन्यास के नायक—ले०) को धमकियों से झुकाना असंभव था, मगर तर्क के सामने उनकी गर्दन आप ही आप झुक जाती थी। इन दिनों वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है ? कर्म और संस्कार का आश्रय लेकर वह कहीं न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है, तो फिर यह भेद क्यों है ? क्यों एक आदमी जिन्दगी-भर बड़ी-से-बड़ी मेहनत करने पर भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है ? यह सर्वात्म है या घोर अनात्म ! बुद्धि जवाब देती है : यहाँ सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधना के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती, सबको समान अवसर कहाँ है ? बाजार लगा हुआ है जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं। और जब उसके पास पैसे नहीं हैं, तो सब को बराबर का अधिकार कैसे माना जाय ? इस तरह का आत्ममंथन उनके जीवन में कभी न हुआ था। उनकी साहित्यिक बुद्धि ऐसी व्यवस्था से सन्तुष्ट तो हो ही न सकती थी, पर उनके सामने ऐसी कोई गुत्थी न पड़ी थी जो इस प्रश्न को वैयक्तिक अंत तक ले जाती।...कहाँ है न्याय ? कहाँ है ? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोचकर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिनदहाड़े दूसरों को लूटता है, और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नामों से उसे लूटना शुरू करते हैं, और

आप लंबा-लंबा वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रंगरेलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार ? यही न्याय है ?

'हाँ, देवता हमेशा रहे हैं और हमेशा रहेंगे। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है, वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो ? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है, तो धर्म से गिरता है। अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं, तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी; देवता किसी तरह नहीं। और यहाँ देवता बनने की जरूरत भी नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर द्वारा भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने कब का इसका अन्त कर दिया होता, या समाज का ही अन्त कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं है, जड़ता है। आज जो इतने ताल्लुकेदार और राजे हैं, वह अपने पूर्वजों की लूट का ही आनन्द तो उठा रहे हैं !.......'

अब इसके बाद क्या कुछ कहने की गुञ्जायश रह जाती है ?

प्रेमचन्द और भारतीय नारी

[डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित]

एक जागरूक कलाकार अपने युग का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। देश एवं काल की स्थितियाँ एवं प्रवृतियाँ उसके साहित्य में लहरें लेती रहती हैं। जीवन का यह सूक्ष्म पर्यालोचक राष्ट्र को आलोकमय कल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर करने के हेतु ध्रुव नक्षत्र का-सा कार्य करता है। अतः उसका दृष्टि-कोण बड़ा व्यापक एवं संवेदनशील होता है। वह समाज एव जीवन के प्रत्येक पहलू तथा अंग को निकट से परीक्षण कर अपनी कला के योग से उसे उन्नत बनाने के हेतु प्रयत्नशील रहता है। समाज के लिए नारी एवं पुरुष अनिवार्य है। इसी प्रकार कला एवं साहित्य में भी उनका अत्यन्त महत्वशाली स्थान है। साहित्य तथा नारी का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। प्रत्येक युग के हर एक देश का साहित्य इस भावना से ओत-प्रोत तथा अनुप्राणित है। कलाकारों के दृष्टि-कोण में अन्तर एवं भेद अवश्यम्भावी हैं, पर समय तथा देश की साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ही इसके लिए उत्तरदायी ठहरायी जा सकती हैं। साहित्य एवं कला न तो कभी नारी को पीछे छोड़कर आगे बढ़ सके हैं न उसे विसर ही सके हैं। कलाकार ने सदैव ही नारी को कोमल भावना से देखा है और इस अनुभूति के आधार पर ही उसने नारी के मनोहर तथा आकर्षक चित्रों को अपनी तूलिका के द्वारा व्यक्त किया है। साहित्यकार ने प्रत्येक युग में नारी को एक अभिनव दृष्टि-कोण से देखने का प्रयास किया है, कभी नारी उसके लिए एक पहेली रही, कभी पुस्तक का खुला हुआ पृष्ठ। कभी उसने नारी को आराध्या और माता के रूप में देखा, तो कभी विलास के साधन के रूप में। कभी वह नारी के प्रति अत्यधिक उदार एवं अनुरक्त रहा तो कभी आवश्यकता से भी अधिक अनुदार एवं विरक्त। जहाँ एक ओर पुरुष को इन विषम दृष्टि-कोणों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, वहाँ नारी भी इसका कारण अवश्य है। दृष्टि-कोणों में भेद एवं एकांगीपन के लिए समान रूप से दोनों उत्तरदायी हैं। हिन्दी साहित्य के

प्रत्येक युग में नारी एक भिन्न दृष्टिकोण से देखी गयी। रीतिकाल तक पहुँचते-पहुँचते नारी विलास, कामुकता और भोग की सामग्री-मात्र रह गयी थी। युग के साथ उस युग की मान्यताएँ और मानदण्ड भी बदल जाते हैं। वर्तमान काल में साहित्यकारों ने प्रेरक शक्ति के रूप में नारी के दर्शन किये। प्रेमचन्द ने नारी को न केवल प्रेरक शक्ति के रूप में देखा वरन् राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में कन्धा-से-कन्धा लगाकर कार्य करनेवाले साथी के रूप में देखा। साहित्य और व्यावहारिक जीवन में उन्हें नारी अत्यधिक प्रगतिशील तथा कर्तव्य-परायणा मिली है। व्यष्टि रूप में प्रेमचन्द ने नारी को पत्नी, माता आदि पदों पर पाया है और समष्टि रूप में उसके स्वरूप में वह वस्तु देखी जो हमारे सामाजिक, राजनैतिक जीवन का स्पर्श करती है। अनुभूति एवं कल्पना की सम्मिलित शक्ति के आधार पर प्रेमचन्द ने नारी के मनोगत भावों का विश्लेषण और विवेचन किया है। प्रेमचन्द का महत्व इसलिए भी है कि उन्होंने नारी जीवन के सर्वांगीण पक्ष एवं व्यक्तित्व को ग्रहण किया है। एक मानव-विज्ञान के वेत्ता रूप में प्रेमचन्द ने नारी के व्यक्तित्व के सभी पक्षों का अध्ययन किया। उसी गहन अध्ययन एवं अनुभूति के आधार पर उन्होंने नारी जीवन के जिन सुन्दर चित्रों को अंकित किया है वे बहुत समय तक पुराने न होंगे। उन्होंने नारी-हृदय की उन शाश्वत भावनाओं को लेकर उपन्यास और कहानियों की कथा को बल दिया है जो युगों से उपेक्षित रहे हैं।

हिन्दी साहित्यकारों ने भिन्न-भिन्न युगों में नारी को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखा है। कभी वह योग-साधना में सहायक, सृष्टि की विधायिनी पवित्र तथा स्नेह की आगार भगिनी के रूप में देखी गयी और कभी वह नितान्त भोग्य, शृंगार तथा कामिनी के रूप में देखी गयी है। सिद्ध साहित्य में नारी के दो रूप व्यक्त हुए हैं, एक रूप त्याग एवं सेवा का है, द्वितीय उपभोग की सामग्री का। नारी के व्यक्तित्व का यह द्वितीय रूप अधिक प्रखर रहा और इसी लिए सामाजिक मर्यादा के साथ ही नारी सम्बन्धी भावना पतन के मार्ग पर अग्रसर रही। वीरगाथा काल में अनेकानेक युद्ध सुन्दरी राजकुमारियों के लिए ही हुए। इस युग की समस्त चेतना दो शब्दों पर केन्द्रित हो जाती है, एक है वीरता और दूसरी है शृंगार। वीरता का अवसान शृंगार और विलास में होता था। इस युग

की नारी का प्रेम वीरता का आलम्बन चाहता था। पर अन्ततोगत्वा युद्ध-क्षेत्र में सहस्रों नर-बलिदान के अनन्तर प्राप्त नारी ऐन्द्रिक पिपासा को शांत करने का साधन मात्र रह जाती थी। विद्यापति की राधा में तत्कालीन नारी भावना मानों झाँक-सी रही है। भक्तियुग के कवियों में भी नारी विषयक दो प्रकार की भावनाएँ उपलब्ध होती हैं। निर्गुण भक्तों ने बड़ी ईमानदारी के साथ साधना में बाधक नारी की आलोचना की। उसे बाघिनी, सर्पिणी आदि शब्दों से सम्बोधित किया। परन्तु उसके सती रूप की प्रशंसा उन्मुक्त कण्ठ से की। सगुणवादी कवियों ने केवल वर्गीय नारी स्तुति की है। कैकेई, कौशल्या, सुमित्रा आदि की जो प्रशंसा हुई है वह इस कारण कि अयोध्या के शासक महाराज दशरथ की राज्य-महिषी तथा रघुकुल तिलक महाराज रामचन्द्र की माता हैं अन्यथा नारी की भर्त्सना और कटुतम आलोचना तुलसी ऐसे महाकवि भी करने में संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने राधा में प्रेम का आदर्श स्थापित किया, जो कालान्तर में मुगलों की विलासिता में उद्दीपन मात्र बन गया। रीति कालीन कवियों के हाथ में पड़कर नारी की जो छीछालेदर हुई उससे हिन्दी का कौन विद्यार्थी अनभिज्ञ है। अमर्यादित, असंयमित, असंतुलित, छिछले और ओछे प्रेमों का जितना विस्तृत वर्णन इन कवियों ने किया है वह अन्यत्र सम्भव नहीं हो सका। श्रीमानों और सामन्तों की कृपा के भिखारी इन कवियों की दृष्टि में नारी केवल खिलवाड़ की सामग्री मात्र रह गयी थी। रीति काव्य से नारी की तत्कालीन दशा उद्घाटित होती है। अतः उस युग में सौन्दर्य-सम्पन्न होते हुए भी नारी, कामिनी, विलासिनी, निष्क्रिय, मनोरंजन की साधन बनकर तथा अपदस्थ-सी थी। परन्तु भारतेन्दु युग के उदय के साथ इस भावना में भी महान् परिवर्तन हो गया। इस समय जीवन साहित्य और कला का आधार बन गया और साथ ही साहित्य की विधायिनी शक्ति में बड़ा सराहनीय विकास हो गया। इस युग के कलाकारों ने जीवन के सर्वांगीण पक्षों पर दृष्टिपात किया और नारी के जीवन को सम्मानित दृष्टिकोण से देखा। भारतेन्दु ने नारी के चेतनाहीन एवं अपमानित व्यक्तित्व को हार्दिक समवेदना से देखकर लिखा था, 'जिस भाँति अंग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, अपने सन्तान-गण को शिक्षा देती हैं....उसी भाँति हमारी गृह देवियाँ

भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें; यही लालसा है—'(भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग पृष्ठ १०५)। भारतेन्दु ने 'नीलदेवी' में नारी के जिस स्वरूप की अभिव्यक्ति की है वह अत्यन्त गौरवपूर्ण है। भारतेन्दु युग के अन्य उपन्यासकारों ने सामन्तों की प्रेमलीला के सम्बन्ध में ऐयारी तिलस्मात तथा कौतूहल से पूर्ण जिस कथा का वर्णन किया है उसमें नारी अधिक सम्मानित स्थान नहीं प्राप्त कर सकी। ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्यामा स्वप्न' इंशा के 'रानी केतकी की कहानी' तथा अन्य लेखकों की 'चपला' 'कुसुमकुमारी' 'नयन मोहनी' 'चन्द्रकांता' 'गुलबदन' 'तारा' 'नूतन ब्रह्मचारी' 'सौ अजान का एक सुजान' आदि में नारी का जो स्वरूप व्यक्त हुआ है वह संक्षेपतः काल्पनिक, कुलटा, कामिनी, एकांगी, और विलास-पूर्ण है। भारतेन्दु युग की नारी-भावना में व्यापक भावना, संयम और चरित्र विकास का अभाव है। अंग्रेजी और बंगला साहित्य के प्रभाव में आकर द्विवेदी युग के साहित्यकारों का दृष्टिकोण अधिक व्यापक और उदार बन गया। कवियों में निराला, मैथिलीशरण गुप्त, और हरिऔध ने नारी को बड़ी ही संवेदनाशील भावना से देखा। मानवतावाद, स्वच्छन्दतावाद, बुद्धिवाद और यथार्थवाद के सहारे इस युग के कलाकारों ने चेतना, जाग्रति और औदार्य के चित्रपट पर नारी के सुन्दर चित्रों को अंकित किया है। इन्होंने नारी को जाग्रत करके उसके कान में क्रांति और नवजीवन का संदेश-सा फूँक दिया। आज नारी कामिनी मात्र ही नहीं है वह बल, त्याग, साहस, ममत्व, और प्रेरणा की स्रोत भी है। प्रेमचन्द ने नारी के इसी स्वरूप को अपने उपन्यासों में अंकित किया है। उन्होंने नारी के चरित्र में स्वाभाविक दृष्टि से उज्ज्वल पक्ष को भी देखा और चरित्र के दुर्गुणों की भी व्याख्या की। संक्षेपतः प्रेमचन्द ने नारी को एक सहृदय मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से देखा है।

साहित्यकार युग की देन होता है। अतीत उसे अनुभव प्रदान करता है, भविष्य उसमें आशा का संचार कर प्रगतिशील बना देता है। परन्तु युग साहित्यकार का निर्माण करता है। साहित्यकार युग चेतना से प्रभावित रहता है। साहित्यकार की रचना युग की परिस्थितियों से प्रभावित रहती है। प्रेमचन्द का नारी-चित्रण भी युग की परिस्थितियों का प्रसाद है। प्रेमचन्द अपने युग

की चेतना से प्रभावित थे और उन्होंने युग चेतना को भलीभाँति आत्मसात कर लिया था, परन्तु इतना सब होते हुए भी वे अपने युग से ऊपर उठे हुए थे। दूसरे शब्दों में वे अपने युग के अभाव की पूर्ति थे। प्रेमचन्द ने शोषक और शोषित की करुण गाथा लेकर साहित्य के क्षेत्र में उपन्यासों के प्रासाद का जो निर्माण किया है उसमें नारी का जो भी चित्रण आया है वह बड़ा सफल एवं व्यक्तित्वपूर्ण है। ज़मींदार-किसान, मजदूर-मिल-मालिक, साहूकार, महाजन-कर्जी किसान के संघर्ष-चित्रण में नारी को गौण स्थान प्रदान करते हुए भी प्रेमचन्द ने उसे व्यापक और विशद रूप प्रदान किया है।

प्रेमचन्द के युग में देश की आर्थिक दशा अत्यधिक असंतोषपूर्ण थी। उस युग के किसानों की दशा शोचनीय थी। किसानों के पास धन उगलने वाली धरती अवश्य थी, पर उसका वैभव महाजन और ज़मींदार भोग रहे थे। निरंतर शोषण और आर्थिक वैषम्य के कारण किसानों का जी अत्यधिक संकट-ग्रस्त था। आधी रोटी खाकर और आधी धोती पहनकर जीवन के दिनों का निर्वाह करनेवाले किसानों के दारिद्र्य-ग्रस्त और अभिशप्त जीवन का निकट से उन्हें अनुभव था। कृषकों के आर्थिक वैषम्य के प्रभाव से नारी वंचित न रह सकी। 'गोदान' की धनिया और 'प्रेमाश्रम' की बिलासी आर्थिक संघर्षों की सृष्टि थी। 'प्रतिज्ञा' 'वरदान' तथा 'सेवासदन' के अतिरिक्त अन्य उपन्यासों में प्रेमचन्द ने कृषक-दम्पत्ति की इसी आर्थिक दुर्दशा का चित्रण किया है। इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने किसानों की दुर्दशा से प्रभावित होकर देश दशा में सुधार करने के हेतु सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया। प्रेमचन्द इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे। पूँजीपतियों के इस शोषण के पीछे और दारिद्र्य के अकांड ताडव की ओट में अंग्रेजों की सत्ता का प्रमुख हाथ है। वे देश की इस सामूहिक ज़ाग्रति और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कारादि से पूर्ण परिचित थे, इसी लिए 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' में तत्कालीन वातावरण चित्रित हुआ है। 'कर्मभूमि' की मुन्नी, नैना एवं सुखदा गांधीजी के आंदोलनों से प्रभावित थीं। प्रेमचन्द स्त्री-स्वातंत्र्य के संबंध में सुधारवादी दृष्टिकोण रखते थे। परदा, वेश्यावृत्ति, बाल-विवाह, वैधव्य आदि कुरीतियों से भली भाँति परिचित थे। 'सेवासदन' में नारी

जीवन की समस्याएँ साकार हो उठी हैं। प्रेमचन्द के इस उपन्यास को पढ़ जाने के अनन्तर हमारी आँखें खुलती हैं और हम सोचते हैं, अरे, नारी इतनी अभिशप्त रही है। 'गोदान' की धनिया भारतीय नारी की प्रतीक है जो आजीवन अधखाये और अर्धनग्न रहकर परिवार के हित के लिए स्व-व्यक्तित्व का बलिदान कर देती है। साम्यवाद ने भारत में जिस नारी एवं पुरुष की समानता का संदेश जनता के कान में फूँका था, उससे प्रेमचन्द प्रभावित थे और इसी लिए उन्होंने आडम्बरों और चरित्र के मिथ्या पक्ष की तीव्रालोचना की।

प्रेमचन्द का नारी चित्रण इस बात का द्योतक है कि उन्होंने नारी का अध्ययन निकट से किया था। नारी का चित्रण करते समय उनका ध्यान पूर्णरूपेण आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पर रहा था। उन्होंने नारी के चरित्र को अंकित करते समय उसके मानसिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व का जो चित्रण किया है वह नारी की अनेक समस्याओं को प्रकट करता है। प्रेमचन्द की नारी पारिवारिक तथा सामाजिक संघर्षों के मध्य और भी निखरी और स्पष्ट बन गयी है। भारतीय नारी का व्यक्तित्व कौटुम्बिक व्यवस्थाओं तक सीमित रहा है। चूल्हा-चौका ही उसके जीवन का ध्येय रहा है। जो स्वतंत्रता उसने यवनों के आने के साथ खो दी थी वह आज तक उसे फिर न मिल पायी। इस स्वातंत्र्य-अभाव का प्रभाव उसके शारीरिक और मानसिक विकास पर भी पड़ा। प्रेमचन्द संयम और मर्यादा के समर्थक थे और इसी कारण उनके 'गबन' में जालपा के चरित्र का विकास उस समय से होता है जब वह रमानाथ को उन्मुक्त कराने के हेतु घर से निकल कर बाहर संघर्ष करती है। 'रंगभूमि' में सोफी भी इसी का उदाहरण है। प्रेमचन्द नारी की स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। समाज चाहे जितना भी उन्नत बन गया हो, पर दहेज प्रथा का अन्त आज भी नहीं हो पाया है। प्रेमचन्द इस ओर से भी अत्यधिक चिंतित थे। उनकी निर्मला और सुमन इसी विनाशकारी कुप्रथा की शिकार बनीं। बहुविवाह समस्या की ओर भी लेखक का ध्यान गया था। 'कायाकल्प' में राजा साहब चार विवाह करके भी नहीं अघाते प्रतीत होते हैं। रोहिणी इसके विरुद्ध विद्रोह करती है—'...आपने वही किया जो सभी स्त्री-पुरुष करते हैं। और लोग छिप-छिपकर करते हैं, राजा लोग वही काम खुले-खुले करते हैं। स्त्री कभी पुरुषों का खिलौना है, कभी

उनके पाँव की जूति। इन्हीं दो अवस्थाओं में उसकी उम्र बीत जाती है...,
प्रेमचन्द नारी की ओर अधिक व्यापक, उदार और क्षमापूर्ण दृष्टिकोण की आशा रखते थे। बाबा तुलसीदास की भाँति उन्होंने नारी को ताड़ना की सामग्री मात्र नहीं माना वरन् उसे पुरुष के अभाव की पूर्ति, स्नेह का आगार, मानवता की पूर्ति, औदार्य की साक्षात् देवी, जगत् की जननी एवं भगिनी के रूप में भी देखा और पाया था। स्त्री पुरुष को संतुलित करने का माध्यम है। वह अकर्मण्य को कर्मक्षेत्र की ओर प्रवृत्त करने के लिए अद्वितीय साधन है। प्रेमचन्द की सोफी, सुमन, जालपा, मनोरमा, धनिया, मुन्नी और सुखदा ऐसे ही पात्रों का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती हैं। प्रेमचन्द ने हिंदू विधवा नारी के सामाजिक अधिकार का भी समर्थन 'गबन' में किया था। रतन धनी वकील की पत्नी होते हुए भी विधवा होते ही पैसे-पैसे के लिए मोहताज हो जाती है और उसका भतीजा मणिभूषण समस्त चल और अचल सम्पत्ति का अधिकारी बन जाता है। इसी प्रकार के नारी पात्रों में 'पूर्णा' भी उल्लेखनीय है। पति के देहावसान के अनन्तर वह अपने ही घर में कमलाचरण की दासी के समान जीवन यापन करती है। स्वावलम्बन मानव की आदिम प्रवृत्ति है और नारी इसका अपवाद नहीं है। प्रेमचन्द नारी के स्वावलम्बन के समर्थक थे। उनकी सुमन को जब समाज में सम्मानित रूप से जीवन-यापन का अवसर न मिला तो उसने वेश्यावृत्ति के द्वारा जीवन-यापन का उपाय खोज निकाला। धनी परिवार की सुखदा स्वावलम्बन के लिए ही नौकरी कर लेती है। अहिल्या कलम की मेहनत से परिवार चलाती है और मालती भी स्वावलम्बन के द्वारा अपने परिवार की रक्षा करती है। पर कतिपय नारी-पात्र ऐसे भी हैं जो इच्छा रखते हुए भी स्वावलम्बन में सफल नहीं हो पाते। इस कोटि के पात्रों में रतन तथा जोहरा का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। इसके लिए कौन उत्तरदायी है—समाज या सरकार ? इसके अनन्तर भारतीय नारी के पारिवारिक जीवन का उल्लेख आवश्यक है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि गृह लक्ष्मी होते हुए भी वह अपमानित है और गृह स्वामिनी होते हुए भी दासी की भाँति जीवन व्यतीत करती है। समाज के व्यक्तित्व प्रकाशन और कर्मक्षेत्र में अवतरित होना उसके लिए कलंक बन गया है। प्रेमचन्द ने नारी को उन्नतिशील

और समाज में पुरुष की अर्द्धांगिनी के रूप में देखा था। प्रेमचन्द की दृष्टि में नारी पुरुष की सहचरी ही नहीं वरन् अर्द्धांगिनी भी है। विवाह और प्रेम के सूत्रों में दो व्यक्तियों के बँध जाने के अनन्तर उनमें शारीरिक पार्थक्य भले ही हो जाय पर आध्यात्मिक पार्थक्य कभी भी सम्भव नहीं है। पाश्चात्य देशों की तलाक प्रणाली पर उन्हें विश्वास नहीं था। 'सुखदा', और 'अमर' के पथ भिन्न-भिन्न हैं। अपने कलहपूर्ण जीवन से ऊबकर सुखदा कहती है 'मैं कुल की मर्यादा के नाम को रोया करूँ, लेकिन यह अत्याचार बहुत दिन न चलेगा। अब कोई इस भ्रम में न रहे कि पति चाहे जो करे उसकी स्त्री उसके पाँव धो-धोकर पियेगी।' सुखदा तलाक शब्द से भी परिचित है वह कहती है, 'अगर देख-भालकर विवाह करने में कभी-कभी धोखा हो सकता है, तो बिना देखे-भाले करने में बराबर धोखा होता है। तलाक की प्रथा यहाँ हो जाने दो फिर मालूम होगा कि हमारा जीवन कितना सुखी है।' उपर्युक्त उद्धरण में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रेमचन्द वर और कन्या दोनों के एक दूसरे को विवाह के पूर्व परख लेने के पक्षपाती थे। सुखदा को ही भाँति 'गोदान' की गोबिन्दी भी तलाक के प्रश्न को गम्भीरतापूर्वक सोचती है। उसके पति मिस्टर खन्ना उसके प्रति उदासीन ही नहीं विमुख हैं। अंततोगत्वा गोबिन्दी एक दिन घर त्याग देने के हेतु उद्यत होती है। इसी प्रकार 'गोदान' के राय साहब की पुत्री मीनाक्षी भी अपने पति के प्रति गुजारे का दावा दायर करती है। पर प्रेमचन्द तलाक को पारिवारिक जीवन में शांति का साधन नहीं मानते हैं। उनके अनुसार दाम्पत्य जीवन में प्रेम का अंकुर सेवा और त्याग के बल पर ही विकसित हो सकता है। गोबिन्दी अपने त्याग और सेवा के बल पर ही मिस्टर खन्ना का प्रेम प्राप्त करती है और इसी प्रकार सुखदा और अमर अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करके पुनः ऐक्य के सूत्र में निबद्ध हो जाते हैं। प्रेमचन्द को तलाक अपनी संस्कृति के प्रतिकूल और स्वादर्शों से नितान्त भिन्न प्रतीत होता था। पर इसका यह आशय नहीं कि नारी अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह न करे। विवाह के क्षेत्र में प्रेमचन्द अन्तर्राष्ट्रीयता के भी समर्थक थे। धर्म-भेद विवाह के क्षेत्र में बाधा नहीं है, इसीलिए सोफी और विनय बाधाओं के होते हुए भी प्रेम के सूत्र में बँध गये। इसी प्रकार प्रेमचन्द ने हिन्दू विधवा के करुण, दयनीय और अतृप्त प्रेम का भी

विशद चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। हिन्दू विधवा समाज में अनादृत, अशुभ और हेय समझी जाती है। 'गायत्री' एवं 'पूर्णा' के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार ने इन्द्रिय-दमन के विकृत परिणामों का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। प्रेमचन्द ने इन्हीं प्रसंगों में वैधव्य जीवन की कुंठित अभिलाषाओं और सामाजिक अत्याचारों का भी वर्णन करके पाठकों की सहानुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। क्या यह सत्य नहीं है कि भग्न आशा, विवश एवं निःसहाय नारी सर्वथा सहायता और सहानुभूति की पात्र होती है। प्रेमचन्द का व्यक्तिगत जीवन इस बात की पुष्टि करता है कि वे विधवा-विवाह के समर्थक थे। वेश्यावृति नारी के स्वावलम्बन का निम्नतम स्वरूप है, प्रेमचन्द इसे (वैश्या-वर्ग) समाज का गलित अंग मानते थे। वे वेश्या को नारीत्व का सबसे बड़ा अपमान, सबसे बड़ा अनादर, और सबसे निम्न पतन मानते थे। 'सेवा-सदन' में नारी की यही वेश्या-समस्या सविस्तार चित्रित हुई है। यह वेश्या वर्ग युग-युग से पुरुष की काम-क्रीड़ा और समाज की घृणा का विषय रही है। 'गोदान' में भी तंखा और मेहता में वेश्या-समस्या पर वाद-विवाद होता है। 'ग़बन' में वेश्या ज़ोहरा का चित्रण हुआ है। उल्लेखनीय बात यह है कि प्रेमचन्द ने जितनी भी वेश्याओं का चित्रण किया है उन सभी में विवेक बुद्धि है और सदासद का ज्ञान है। सुमन और जोहरा दोनों ही वेश्यावृत्ति का परित्याग करके सम्मानित जीवन व्यतीत करने लग जाती हैं। नैतिकता का महत्व दैनिक जीवन में कितना महान और व्यापक है इस बात को प्रेमचन्द की सभी वेश्या-पात्र जानती हैं।

साहित्य हो वा जीवन प्रेमचन्द प्रत्येक दिशा में 'उपयोगिता' का ध्यान रखते हैं। प्रेमचन्द के अनुसार वही साहित्य उच्च है, वही साहित्य महान् है जो मानवता के लिए कल्याणकारी हो, जो ध्रुवतारा के समान पथ-भ्रष्ट मानवता को मार्ग प्रदर्शित कर सके, जो जन-जन के हृदय में आशा का संचार कर सके। सौंदर्य के परम्परागत मापदण्ड में प्रेमचन्द को विश्वास नहीं था। अपने उपन्यासों के नायकत्व के हेतु उन्होंने धीरोदात्त पात्रों को नहीं खोजने का प्रयत्न किया वरन् निम्नवर्गीय उन नर-नारियों को नायक एवं नायिका बनाया है, जिनके चरित्र में सौंदर्य, ईमान की कमाई खाने की प्रवृत्ति, विक़ास एवं मान-

सिक सम्वेदना उपलब्ध होती है। इससे अभिजात वर्ग को बारम्बार ठेस लगी। भले ही प्रेमचन्द एक ह्रासोन्मुख सीमित वर्ग के लिए अप्रिय बन गये हों पर उन्होंने दलित मानवता को उठाने का प्रयत्न किया, उन्होंने वंचित और शोषित समाज और व्यक्ति की हिमायत और वकालत की। प्रेमचन्द के मत से वही सच्चा साहित्यकार है जिसकी 'विशाल आत्मा अपने देश-बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और उस तीव्र विकलता में वह रो उठती है और उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।'[1] इन सूत्रों की घोषणा करनेवाले प्रेमचन्द ने जन-उद्बोधन के लिए इन आदर्शों की संस्थापना की, परन्तु आदर्शों के रहस्योद्घाटन के हेतु उन्हें यथार्थ बहुत प्रिय था। इसी यथार्थ का आधार लेकर प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य लिखा गया था। प्रेमचन्द के नारी-पात्र इसके अपवाद नहीं हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ से पुरुष का नारी से अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है। दोनों एक दूसरे के पूरक रहे हैं। नारी के अभाव में पुरुष और पुरुष के अभाव में नारी की स्थिति कल्पनातीत होती है। नारी पुरुष की जननी, पुत्री, भगिनी, सहचरी, पत्नी, और प्रेयसि के रूप में सम्मान्य रही है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी का कोई-न-कोई महत्वपूर्ण स्थान रहा है और रहेगा। प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी का प्रेयसि, मातृत्व एवं सहचरी अथवा अर्द्धांगिनी का रूप अधिक निखरा है। नारी के इन तीनों रूपों के चित्रण में, आशा एवं निराशा, सुख एवं दुःख का एक विचित्र प्रकार का सम्मिश्रण उपलब्ध होता है। इसका एक कारण है। प्रेमचन्द का जीवन स्वतः इस रहस्य या पहेली का उत्तर था। नारी की ओर से उन्हें जीवन में सुखद और कटु दोनों प्रकार के अनुभव हुए थे। और यही सुख और दुःख की मिली हुई धारा गंगा-जमुना के रूप में उनके साहित्य में संयमित रूप से प्रवाहित हुई। प्रेमचन्द का जीवन बतलाता है कि बाल्यावस्था में ही वे माता की प्रेममयी गोद से वञ्चित रहे और विमाता के कटु व्यंग बाणों का लक्ष्य निरंतर बनना पड़ा। अर्द्धांगिनी के रूप में जो प्रथम पत्नी उन्हें मिली वह केवल कुरूप ही नहीं थी वरन् अवस्था में बड़ी और विचारों में नितान्त प्रतिकूल। यह विवाह अनमेल था। तदनन्तर उन्होंने एक बाल-विधवा से विवाह किया। इन द्वितीय पत्नी श्रीमती शिवरानीजी में उन्हें अपना खोया

हुआ सभी कुछ प्राप्त हो गया। प्रेमचन्द के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राष्ट्रीय सभी प्रकार के विचारों की समानान्तर भावना शिवरानी देवी में वर्तमान थी। इसी लिए इन अनुभूतियों के आधार पर प्रेमचन्द ने विमाता, अनमेल विवाह, तलाक आदि के जो चित्र अंकित किये हैं वे यथार्थ के आधार पर व्यक्त होने के कारण कभी फीके नहीं पड़ेंगे। लेखक की यह अनुभूतियाँ, कल्पना-लोक अथवा दार्शनिक के मानसिक-लोक की अनुभूतियाँ नहीं थी वरन् उनका यथार्थ जीवन से निकट एवं घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी कारण प्रेमचन्द के पात्रों में (चाहे नारी हो या पुरुष) दार्शनिक का-सा मानसिक संघर्ष न हो तो कोई आश्चर्य नहीं, कवियों की-सी कल्पना-लोक की अभिव्यक्ति न हो पर उनमें जीवित रहने के लिए साध है और उसी साध के लिए वे संघर्ष करते हैं। उनमें वेदना है और संवेदना भी है। उनका मूल केन्द्र मानवता ही है।

मानव जीवन के दो पक्ष होते हैं। प्रथम पारिवारिक पक्ष है। पारिवारिक पक्ष के अन्तर्गत गार्हस्थ जीवन के विभिन्न रूप दर्शनीय होते हैं और सामाजिक जीवन में समाज के दृष्टिकोण से उसका चरित्र भिन्न-भिन्न दृष्टियों से अध्ययनीय होता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी के दोनों ही रूप सविस्तार व्यक्त हुए हैं। दोनों ही दृष्टियों से नारी के चरित्र का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। यहाँ पर सर्व प्रथम हम नारी जीवन के उस पारिवारिक पक्ष का अध्ययन करेंगे जिसका चित्रण प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के अन्तर्गत किया है।

नारी के विषय में प्रेमचन्द अत्यधिक सुधारवादी थे। रीति-कालीन नारी की शृंगारिक भावना से उन्हें बड़ी घृणा थी। इस विषय में उनका 'साहित्य का उद्देश्य' पठनीय होगा। प्रेम मानव हृदय की शाश्वत, स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृत्ति है। उसी प्रेम को लेकर रीति-कालीन कवियों ने नारी की अवमानना की है। प्रेमचन्द ने रीति-कालीन कवियों के इस दृष्टिकोण की तीव्र आलोचना की है। प्रेमचन्द प्रेम को नारी की अदम्य और अलौकिक शक्ति मानते थे। उनके मत से प्रेम ही वह ज्योति है जिसके सहारे नारी जीवित रहती है, यही उसकी आत्मा का बल है। प्रेमचन्द के नारी-पात्रों के हृदय में प्रेम की यही प्रवृत्ति चरित्र-विकास में सहायता प्रदान करती है। इसी प्रेम को लेकर प्रेमचन्द ने नारी को अपने उपन्यासों में प्रेयसि, पत्नी एवं माता के रूप में व्यक्त किया है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रेयसि के रूप में सकीना, और सोफी (रंगभूमि), विरजन (वरदान), मनोरमा (कायाकल्प), झुनिया, सिलिया और मालती (गोदान), गायत्री (प्रेमाश्रम) आदि का चित्रण हुआ है। पर इन सभी में सोफी का चित्र और चरित्र सबसे अधिक स्पष्ट और रोचक है। इन चरित्रों में उपन्यासकार ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रेम विषयक विभिन्न मनोविकारों के उद्रेक के अनन्तर प्रेयसि रूप में नारी के प्रति समाज, व्यक्ति और जनता की कैसी भावनाएँ, विचार और मनोवृतियाँ होती हैं। प्रेमचन्द की रचनाओं में प्रेयसियों का विधान 'प्रसाद' की प्रेयसियों की भाँति अन्तर्द्वन्द्व के विवेचन के हेतु नहीं हुआ है। उनमें वासना-जनित प्रेम अवश्य है परन्तु इस वासना का भी जीवन और हृदय से सम्बन्ध है। इन प्रेयसि पात्रों का प्रेम नितान्त स्वार्थ के आधार पर ही नहीं निर्मित हुआ है। उनमें बलिदान की भावना है, कष्ट-सहन की प्रवृति है। वे अपने प्रिय के लिए अपने स्वार्थ और जीवन को तुच्छ समझती हैं।

प्रेमचन्द के नारी पात्रों में प्रेम का विकास स्वाभाविक और क्रमिक होता है। उसका उद्रेक किसी विशेष क्षणिक घटना के आश्रित नहीं है। संसार के विविध कार्यों, संघर्षों और कर्त्तव्यों के निर्वाह के मध्य ही प्रेम का बीज अंकुरित होता है। प्रेम का आरम्भ उभय पक्षों में प्रायः सम है। इस प्रेम के विकास और उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों का ही सहयोग है। 'विरजन' में बाल्यावस्था से ही दुलहिन बनने की भावना जाग्रत हो उठती है। मनोरमा के हृदय में चक्रधर के प्रति प्रेम का विकास विचार-विनिमय और उससे पढ़ने के कारण क्रमिक रूप में होता है। सोफी के प्रेम का विकास विनय की कर्मठता एवं कर्तव्य-परायणता के कारण होता है। सोफी के विशुद्ध प्रेम के समक्ष जाति और धर्म के निःसार बन्धन विछिन्न हो जाते हैं। सोफी के ही शब्दों में 'प्रेम और वासना में उतना ही अन्तर है जितना कंचन और काँच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है....भक्ति में सम्मान का और प्रेम में सेवा भाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं है। ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिए हैं जिसका अन्त विवाह है, उस प्रेम के लिए नहीं

जिसका अन्त बलिदान है।' प्रस्तुत पंक्तियों से सोफी का प्रेयसि रूप अत्यधिक स्पष्ट है। प्रेम का अन्तिम लक्ष्य वह विवाह का सम्बन्ध नहीं मानती वरन् त्याग तथा बलिदान मानती है। इन पंक्तियों में वासना पर कितना प्रबल व्यंग व्यक्त हुआ है। सोफी प्रेम को क्रय-विक्रय और भौतिकता की साधना का माध्यम नहीं बनाना चाहती—'प्रेम एक भावनागत विषय है। भावना से ही उसका पोषण होता है। भावना ही से वह जीवित रहता और भावना से ही लुप्त हो जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। 'तुम मेरे हो' यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव और सहिष्णु रखने के लिए काफी है।' इन पंक्तियों को पढ़ जाने के अनन्तर प्रेमचन्द के प्रेयसि पात्रों के हृदयस्थ प्रेम के विषय में क्या अब कोई सन्देह रह जाता है। प्रेम की यह पद्धति नितान्त भारतीय है, जहाँ स्वार्थ की लेश-मात्र भी गंध नहीं है। भारतीय प्रेम आत्मा के लगाव, नैकट्य में विश्वास रखता है। इसी प्रकार 'मनोरमा' का प्रेम है। मनोरमा के प्रेम का विकास श्रद्धा एवं भक्ति से होता है। क्रमशः यही भावना दृढ़ प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। मनोरमा ने चक्रधर को कर्त्तव्य और सेवा भावना को जन-सेवा के लिए सुरक्षित रखने के लिए राजा विशालसिंह से विवाह करके अपने स्वार्थ का बलिदान कर दिया। मनोरमा ने वरदान को तिलांजलि देकर अभिशाप को अंगीकार किया, पर प्रतिदान की आशा को हृदय में स्थान न दिया।

प्रेमचन्द के नारी-पात्र प्रेम के क्षेत्र में मर्यादा और संयम का ध्यान आद्यो-पांत रखते हैं, उनमें विद्रोही भावनाओं का सर्वथा अभाव है। समाज, परिवार, लोक-व्यवस्था या कानून के नियमों में से किसी की भी अवहेलना अथवा तिरस्कार करते हुए नहीं दीख पड़ती हैं। सोफी, विरजन, मनोरमा तथा गायत्री आदि अन्य पात्र सामाजिक नियंत्रणों को स्वीकार करती हुई भी प्रेम-पथ पर अग्रसर रहती हैं। प्रेम-पथ की अनेक बाधाओं को ये नारी-पात्र विद्रोही प्रवृत्ति से विनष्ट करने का प्रयत्न नहीं करते।

प्रेमचन्द को नारी हृदय के बल, सामर्थ्य, त्याग और क्षमता पर बड़ा विश्वास था। उन्हें ज्ञात था कि प्रेम नारी-हृदय का चिर सत्य है, फिर भी वह देश और समाज के हित के लिए अपने स्वार्थ की हत्या कर सकती हैं। 'वरदान' की 'माधवी' इस प्रकार के प्रेम के लिए विशेष उल्लेखनीय है। प्रताप

के लिए माधवी के हृदय में असीम प्रेम है चिर विरह के अनन्तर मिलन के क्षणों के पूर्व ही वह कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर स्वार्थ का बलिदान कर देती है।

प्रेम के क्षेत्र में नारी एकनिष्ठता की आकांक्षा रखती है। वह ऐसे प्रेम की कामना करती है जिसके सहारे वह अपना जीवन यापन कर सके। भारतीय नारी प्रेम के क्षेत्र में जुगुनू की चमक नहीं वरन् स्थायी प्रकाश की अपेक्षा रखती है। गोदान की झुनिया तथा सिलिया निर्धन हैं, अशिक्षित हैं, पर प्रेम का महत्व और गम्भीरता समझती हैं। झुनिया और सिलिया ने प्रेम करके कितने ही कष्टों को सहन किया, समाज के अत्याचार, शिष्टजनों की भर्त्सना तथा स्वजनों की घृणा को सहन किया, पर एकनिष्ठा छोड़कर दूसरे मर्द का हाथ पकड़ना न स्वीकार किया। यही तो भारतीय प्रेम का सच्चा आदर्श है।

पाश्चात्य सभ्यता हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती जा रही है। पाश्चात्य नारी की होड़ में अपने अस्तित्व को नष्ट कर देनेवाली भारतीय नारी को देखकर प्रेमचन्द का चित्त क्षुब्ध हो उठता था। उनका दृढ़ विचार था कि पाश्चत्य नारी और कुछ भी बन सकती है पर सफल गृहस्वामिनी नहीं बन सकती है। पाश्चात्य नारी की नकल करने में अपने को भाग्यवती समझने-वाली इस देश की नारियों को भोग की विदग्ध लालसा ने अत्यन्त उछृङ्खल बना दिया है। 'गोदान' की मालती इसी प्रकार की नारियों में है। वह तितली बनकर जीवन का आनन्द लूटना चाहती है। प्रेम को वह खिलवाड़ समझती है। स्वच्छन्दता उसे प्रिय है और एकनिष्ठा में उसका अविश्वास है। मि० मेहता से प्रेमचन्द ने इस प्रकार की नारियों की कटु आलोचना करवायी है।

प्रेमचन्द की इन्हीं प्रणयिनी नारियों का व्यक्तित्व कौटुम्बिक, सामाजिक एवं गार्हस्थ जीवन के मध्य में और भी अधिक निखर आता है। समाज, परि-वार और कुटुम्ब के मध्य नारी के व्यक्तित्व का विकास पत्नी वा अर्द्धाङ्गिनी के रूप में होता है। इन गृह-देवियों की ओर भी प्रेमचन्द का ध्यान सविस्तार गया है। उन्हें नारी के इस त्याग, क्षमा तथा औदार्य पूर्ण रूप में बड़ी श्रद्धा थी। उनके उपन्यासों में व्यक्त इन गृह-देवियों में कुछ ऐसी विशेषताएँ और गुण वर्तमान हैं जो प्रायः सभी में उपलब्ध होते हैं। ये सभी गृह-लक्ष्मियाँ

अत्यन्त एकनिष्ठ हैं। क्षमा, दया और उदारता इनकी रग-रग में पूर्ण है। त्याग की ये सभी साक्षात् मूर्ति हैं। ये सभी अपमान-अवमानना, उपेक्षा, वंचना तथा शोषण रूपी विष का पान करके परिवार में स्नेह रूपी अमृत की वर्षा करती हैं। इनमें अपने अस्तित्व को मिटाकर परिवार की रक्षा करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। ये नारियाँ अपने आगे परोसी हुई थाली पति-पुत्रों के आगे रख-कर आत्मतुष्टि का अनुभव करती हैं; गृहदेवी होते हुए भी परावलम्बिनी, और गृहलक्ष्मी होते हुए भी ये सभी दूसरों की कृपा की मोहताज हैं। कर्त्तव्य-परायणता की जीवित मूर्ति इन्हीं में दृष्टिगत हो सकती है। वेदना, सहिष्णुता और तपस्या ही जैसे इनके जीवन का वास्तविक अन्तिम लक्ष्य है। प्रेम और स्नेह की वर्षा करके स्वयं अभिशाप से संतप्त भूमि पर निवास करती हैं। यही है भारतीय गृहलक्ष्मी का वह चित्र जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में बार-बार अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमचन्द ने भारतीय नारी के इस पक्ष को निकट से देखा था और जीवन भर का मनोवैज्ञानिक अध्ययन 'गोदान' की धनिया का रूप ग्रहण कर प्रस्फुटित हुआ। वास्तव में धनिया भारतीय गृहदेवियों की यथार्थ चित्र है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में पत्नी अथवा अर्द्धाङ्गिनी के रूप में जिन नारी पात्रों की अभिव्यक्ति हुई है उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं, गोबिन्दी और धनिया (गोदान) कुल्सुम, सुखदा एवं मुन्नी (कर्मभूमि), जालपा (गबन), सुधा, निर्मला (निर्मला) अहिल्या (कायाकल्प), विद्या (प्रेमाश्रम), सुमित्रा और पूर्णा (प्रतिज्ञा), और सुमन (सेवासदन)। उन सभी में धनिया को सर्वाधिक मार्मिक विकास और पाठकों की संवेदना प्राप्त हो सकी है।

प्रेम के क्षेत्र में नारी का हृदय एकाधिकार और अद्वितीय स्वत्व का आकांक्षी रहता है। प्राण रहते नारी अपने अधिकार की वस्तु पर दूसरे का स्पर्श भी नहीं देखना चाहती। यह भारतीय नारी की वास्तविक भावना है। सुधा (निर्मला में) डा० सिन्हा की पत्नी है। डा० सिन्हा के हृदय में निर्मला के लिए प्रेम है, पर यह सुधा को सहन नहीं है। कालान्तर में डा० सिन्हा की मृत्यु के पश्चात् उसके निम्नलिखित भाव पठनीय हैं—

'ईश्वर को जो मंजूर था वह हुआ। ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती। दरिद्र प्राणी उस धनी से कहीं सुखी है, जिसे उसका धन साँप बन

कर काटने दौड़े। उपवास कर लेना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कहीं मुश्किल है।'

भारतीय नारी का सबसे बड़ा धर्म पतिव्रत है। पतिव्रत ही उसका धर्म, कर्म पूजा-पाठ, तीर्थ और व्रत है। पति की मृत्यु के अनन्तर पति की मर्यादा की रक्षा करना ही वह अपना कर्त्तव्य समझती है। वागेश्वरी के निम्नलिखित कथन में हिन्दू विधवा के चरित्र का कितना सौम्य, संयमशील और उदात्त रूप व्यक्त हुआ है—

'कैसा कष्ट बेटी? जब तक स्वामी जीते रहे, उनकी सेवा करने में सुख मानती थी। तीर्थ, व्रत, पुण्य, धर्म सब कुछ उनकी सेवा ही में था। अब वह नहीं हैं। उनकी मर्यादा की सेवा कर रही हूँ। आज भी उनके कितने ही भक्त मेरी मदद करने को तैयार हैं, लेकिन क्यों किसी की मदद लूँ। तुम्हारे दादाजी सदैव दूसरों की सेवा करते रहे। इसी में अपनी उम्र काट दी तो फिर मैं किस मुँह से सहायता के लिए हाथ फैलाऊँ?' (कायाकल्प)

परन्तु इन भावनाओं से प्रेमचन्द के सभी विधवा-पात्र अनुप्राणित नहीं हैं। कतिपय नारी-पात्र वैधव्य के अनन्तर भी अपने हृदय की दुर्बलता, काम-वासना, ऐन्द्रिकता आदि का शमन नहीं कर पाती हैं। इस कोटि की नारियों में 'प्रेमाश्रम' की गायत्री का उल्लेख आवश्यक है। वैधव्य का अभिशाप उसकी काम-वासना को मूल से झुलसा न सका। फलतः ज्ञानशंकर से उसका ऐन्द्रिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की पूर्णा है। परन्तु पूर्णा में गिर कर भी उठने की प्रवृत्ति विद्यमान है। वह कमलाचरण के प्रेम से विचलित तो हो जाती है पर अंततोगत्वा सतीत्व की रक्षा करने में समर्थ रहती है।

'कर्मभूमि' की मुन्नी का चरित्र अत्यन्त दुरूह और रहस्यपूर्ण है। उपन्यास-कार ने नारी के परिवर्तनशील हृदय और मस्तिष्क का मनोवैज्ञानिक एवं स्पष्ट चित्रण मुन्नी के चरित्र के रूप में किया है। मुन्नी एक ग्राम वधू है। वह पति-व्रता है और सतीत्व के महत्व से परिचित है। एक दिन दो गोरों ने बलात्कार करके उसके सतीत्व को नष्ट कर दिया। बस उसी दिन से प्रतिकार की भावना से दग्धा वह चण्डी बन जाती है। अंत में वह दो गोरों की हत्या करके आत्म-

अपमान का बदला चुकाती है। जिस मुन्नी में चरित्र विषयक इतनी जाग्रति और विवेक है, वही आगे चलकर अमरकांत से ऐन्द्रिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अत्यन्त व्यग्र बनी रहती है।

प्रेमचन्द ने गृह देवियों को पति की पूरक और प्रेरक शक्ति के रूप में देखा। दुःख, संकट और विपत्ति के क्षण में भी वे पति को प्रोत्साहित तथा संघर्ष के लिए प्रेरित करती रहती हैं। 'गबन' में जालपा रमानाथ को प्रत्येक बार पतन के गर्त में गिरने से रोकती है। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' की विद्या का चरित्र है। ज्ञानशंकर को उचित और सदाचार के मार्ग पर लाने के लिए वह कौन-सा प्रयत्न शेष रखती है ? 'कर्मभूमि' की सुखदा उपेक्षिता होते हुए भी पति को अपनी सेवा, सहायता तथा प्रेरणा से वञ्चित नहीं करती है। इसी प्रकार 'गोदान' की धनिया है। वह घर के उत्तरदायित्व से लेकर पंचायत-अदालत में जवाबदेही तक सभी कार्यों में होरी का साथ देती है। जिस समय होरी के भाग्य क्षितिज पर आपत्तियों के बादल छा जाते हैं उस समय धनिया की ही अदम्य शक्ति उसका उद्धार करती है। महाजन, सेठ, साहूकार, पुलिस, जमींदार, बिरादरी, पंचायत सभी बड़े-बड़े मगरों की भाँति होरी को निगल जाने के लिए मुँह खोले बैठे हैं, पर धनिया ढाल बनकर अपने पति की रक्षा करती है। वह घर की सीमा में कुशल पत्नी है, कृषक जीवन में सहचरी है, आपत्ति के क्षणों में कुलशतापूर्वक मन्त्रित्व करती है, निराशा के क्षणों में शक्ति और प्रेरणा की विद्युत है और प्रत्येक पग पर पति की छाया है। धर्म, समाज, गृहस्थी, अदालत आदि प्रत्येक क्षेत्र में धनिया सच्ची और उपयुक्त जीवन-संगिनी बनने का प्रमाण देती है। पत्नी के रूप में प्रेमचन्द के नारी पात्रों में जालपा का कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। जालपा की प्रेरणा और सतत प्रयत्न से उसका पति रमानाथ पुनः विवेक बुद्धि प्राप्त करता है, उसमें चारित्रिक बल के दर्शन होते हैं। रमानाथ के घर से भागने के अनन्तर जालपा के चरित्र में जो विकास और परिवर्तन चित्रित हुआ है वह यथार्थ एवं स्वाभाविक है। जालपा, सुखदा, और सुमित्रा आदि का चरित्र इस बात की ओर संकेत करता है कि भारतीय नारी यदि गिर सकती है तो वह परिवार के कल्याण के हेतु अपना बलिदान भी कर सकती है।

गृहस्थ जीवन एवं अर्द्धाङ्गिनी के विषय में प्रेमचन्द की धारणा निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिध्वनित हुई है—

'हम अपने गार्हस्थ्य जीवन की ओर से कितने बेसुध हैं! उसके लिए किसी तैयारी, किसी शिक्षा की जरूरत नहीं समझते। गुड़िया खेलनेवाली बालिका, सहेलियों के साथ विहार करनेवाली युवती, गृहणी बनने योग्य समझी जाती है। अल्हड़ बछड़े के कन्धे पर भारी जुआँ रख दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि हमारा गार्हस्थ्य जीवन आनन्दमय न हो तो कोई आश्चर्य नहीं।'

(सेवासदन)

नारी संसार की जननी है। नारी का सबसे श्रेष्ठ, पूत और त्यागपूर्ण स्वरूप उसके मातृत्व रूप में ही है। उसके गुणों का चरम प्रकाश, विशेषताओं का प्रखर आभास मातृत्व में ही है। उसका मातृत्व रूप, त्याग और ममता की साकार मूर्ति है। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने मेहता के द्वारा नारी विषयक अपने विचारों को निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकट किया है।

'नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ भी है सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना है, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है। एक शब्द में मैं उसे लय कहूँगा—जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।'

(गोदान)

प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी के बड़े ही उदात्त स्वरूप का चित्रण हुआ है। मातृत्व के गौरव से सम्पन्न प्रेमचन्द के नारी पात्रों में रानी जान्हवी देवी (रंगभूमि), जग्गो (गबन), सुषमा एवं सुशीला (वरदान), धनिया (गोदान), विद्या (प्रेमाश्रम), और निर्मला (निर्मला) विशेष उल्लेखनीय हैं।

मातृत्व रूप में रानी जान्हवी का चरित्र बड़ा रोचक है। देश-प्रेम, वीरता और सत्य के लिए बलिदान की भावना उसके रग-रग में प्रवाहमान है। वह अपने पुत्र विनय में भी इन्हीं गुणों को देखने के लिए लालायित रहती है। जिस स्वप्न को वह जीवन भर देखती रही अन्त में वही जाकर घटित होता है। विनय देश और सत्य की रक्षार्थ बलिवेदी पर चढ़ जाता है, विनय के उत्सर्ग के प्रकाश में हमें वीर प्रसूता जान्हवी के मातृत्व, मोह एवं ममता का भी

उत्सर्ग दृष्टिगत होता है। जान्हवी के हृदय में साधारण नारियों की-सी दुर्बलताएँ कहीं पर भी नहीं परिलक्षित होती हैं। पुत्र के बलिदान के अनन्तर उसके ये विचार पठनीय हैं :

'यह तो मेरी चिर अभिलाषा थी...उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी ऐसा ही पुत्र देता जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता जो जीवन देश और जाति के लिए हनन कर देते हैं....मेरी वह कामना भी पूरी हुई। आज मैं एक वीर पुत्र की जननी हूँ।'

(रंगभूमि)

धनिया में एक माता की सच्ची क्षमाशीलता और सहनशीलता के दर्शन होते हैं। गोबर के कुकृत्यों के फलस्वरूप गाँव-भर के व्यंग, पंचायत के दण्ड, महाजनों के तकाजे, और बिरादरी के बहिष्कार को भी वह अंगीकार कर लेती है। माता को अपने पुत्र के दोष भी नगण्य और उपेक्षणीय प्रतीत होते हैं, इसी लिए वह गोबर के दुष्कर्मों के जो भी फल होते हैं उन्हें ओढ़ लेती है। पर गोबर अपनी माता के प्रति कपूत निकला। लखनऊ से जब वह कमाकर लौटता है तो बात-बात में उन्हें डाँटता-फटकारता है। कालांतर में वह अपनी पत्नी झुनिया को लेकर फिर लखनऊ चला जाता है और उसे माता-पिता के दुःख-दारिद्रय का लेशमात्र भी ध्यान नहीं रह जाता है। फलस्वरूप धनिया के मातृत्व को ठेस पहुँचती है और वह गोबर को धिक्कारने लगती है।

विद्या के रूप में उपन्यासकार ने मातृत्व के कल्याणकारी रूप की अभिव्यक्ति की है। विद्या अपने पुत्र में इमानदारी, सच्चाई और चारित्रिक दृढ़ता देखना चाहती है। उसके निम्नलिखित शब्द उसके विशाल उच्च हृदय के द्योतक हैं—

'मेरा लड़का गरीब ही होगा। अपने पसीने की कमाई खायगा, लेकिन जब तक मेरा वश चलेगा मैं उसे इस जायदाद की हवा भी न लगने दूँगी।'

(प्रेमाश्रम)

'गबन' में जग्गो का मातृत्व 'अयं निजः' की सीमा का उल्लंघन कर दूसरे पुत्रों तक पहुँच जाता है। रमानाथ उसका पुत्र नहीं है फिर भी उसके लिए माता का-सा प्रेम विद्यमान है। एक सच्ची माता के समान वह रमानाथ

को पाप की कमाई करने से रोकती है।

'निर्मला' की निर्मला विमाता होते हुए भी अपने सौतेले पुत्रों के प्रति वास्तविक प्रेम रखती है। इस ममता और प्रेम के लिए उसे अपने पति के व्यंग, अपमान, कलंक और घृणा सहन करनी पड़ती है। पर उसका हृदय दुर्बल नहीं पड़ता है। मातृत्व की महत्ता का उसे पूर्ण ध्यान है और उसी को वह व्यावहारिक रूप में परिणत करती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से भी पात्रों का अध्ययन आवश्यक है। प्रेमचन्द के हृदय एवं मस्तिष्क में सामाजिक चेतना की भावना समायी हुई थी। और यही चेतना उनके उपन्यासों में सर्वत्र व्यक्त हुई है। प्रेमचन्द को यह बात असह्य थी कि समाज के संगठन का आधार धन बने। वे जानते थे कि धन किस प्रकार सभी विकारों, दोषों और पापों को उदित करने का साधन है। धन एक बड़ा भारी अभिशाप बनकर हमारे समाज के क्षितिज पर छाया हुआ है। धन ही व्यक्तित्व के बड़प्पन का मापदण्ड है। समाज का श्रेष्ठ शत्रु वह है जो स्वतः उत्पादन में भाग न लेकर दूसरों के उत्पादन का शोषण करता है। इन शोषकों में प्रेमचन्द के साहित्य में महाजन, जमींदार, मिल मालिक, पटवारी, कारिन्दा, और सरकारी अफसर आते हैं और शोषितों में किसान, एवं मजदूर विशेष रूप से व्यक्त हुए हैं। अभिजात वर्ग की द्वितीय वर्ग मेहनत की कमाई पर वैभव की सुनहरी भित्ति खड़ा करता है। एक वर्ग मेहनत को कमाई के आश्रित है और वही उसके जीवन का आधार है और द्वितीय वर्ग प्रथम वग को सब प्रकार से चूसने में व्यस्त है। इस शोषण की सीमा केवल पुरुषों तक ही नहीं सीमित है। प्रेमचन्द के नारी पात्रों में भी कतिपय शोषक हैं और अधिकांश शोषित। उनके नारी पात्रों में कुछ के पास भूख से अधिक अन्न है और कुछ के पास अन्न से अधिक भूख। कुछ रेशमी वस्त्रों से भी नहीं संतुष्ट होते औ कुछ आधी धोती पहनकर जीवन के दिन बिता रही हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास में व्यक्त नारी पात्रों का वर्गीकरण सामाजिक दृष्टि से तीन प्रकार से हो सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग उच्च वर्ग है। इस वर्ग की नारियों में रानी जान्हवी देवी, सोफिया, श्रीमती जॉनसेवक, इन्दु, रानी देवप्रिया, वसुमती, रोहिणी, मनोरमा, गायत्री आदि प्रमुख हैं। इन पात्रों का वर्ग-संघर्ष अथवा शोषक-शोषित

का-सा सीधा संघर्ष नहीं है फिर भी ये समाज की इन प्रवृतियों से अछूती नहीं रह पाती हैं। समाज एवं प्रत्येक वर्ग की पारिवारिक विषमताएँ इन्हीं नारी पात्रों के द्वारा पूर्ण रूपेण व्यक्त हो पायी हैं। 'गोदान' के कृषक जीवन का चित्र धनिया के अभाव में क्या कभी पूर्णता प्राप्त कर सकता था ? इन उच्च वर्गीय नारी पात्रों के चरित्र 'कायाकल्प', 'गोदान', 'रंगभूमि' एवं 'प्रेमाश्रम' में व्यक्त हुए हैं। इसके अनन्तर मध्यवर्गीय नारी का चित्रण है। सुमन, कुल्सुम, रतन, सुखदा, नैना, मालती, सुधा, अहिल्या और प्रेमा आदि मध्यवर्गीय नारियाँ हैं। 'गोदान', 'निर्मला', 'सेवासदन', 'वरदान' आदि उपन्यासों में इनका चित्रण हुआ है। निम्नवर्गीय नारी के यथार्थ चित्रण के लिए 'गोदान' पठनीय है। समस्त निम्नवर्गीय नारियों का धनिया प्रतिनिधित्व करती है।

प्रेमचन्द की आभिजात्य नारी पात्रों में प्रथम वे हैं जिनकी जीविका का आधार ह्रासमान जमींदारी सभ्यता है। इस वर्ग में जमींदारों एव मिल-मालिकों की पत्नी, पुत्री व पुत्र-वधू आती हैं। इस वर्ग की नारियों में जान्हवी देवी उल्लेखनीय हैं। अपने वर्ग में वह अपवाद हैं। उनके हृदय में देश-प्रेम, एवं कर्तव्य-भावना जाग्रत रहती है। 'रंगभूमि' की सोफी भी इन्हीं पात्रों में है। वह उदार और बृहत्तर मानवता में विश्वास रखती है। वही धार्मिक संकीर्णता के विरुद्ध विद्रोह करती है। वह प्रेम ही को श्रेष्ठ धर्म मानती है। क्षमा, दया, करुणा, आदि से उसका हृदय परिपूर्ण है। उच्च वर्ग के ये नारी पात्र पेट और शरीर ढँकने की चिन्ता होने के कारण अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। सोफी धार्मिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करती है। आर्थिक निश्चिन्तता के कारण इन नारी पात्रों में विलासिता और ऐन्द्रिकता भी प्रखर है। 'कायाकल्प' में देवप्रिया और 'प्रेमाश्रम' में गायत्री के चरित्र इसी प्रकार के हैं। देवप्रिया की विलासप्रियता बड़ी वीभत्स है। इन्हीं नारियों के द्वारा प्रेमचन्द ने आभिजात्य वर्ग के नारी-कलह का भी चित्रण किया है। अपने वर्ग की प्रवृत्ति इन नारी-पात्रों में भी उपलब्ध है। इनमें से कतिपय क्रूर और क्रोधी स्वभाव की हैं। 'प्रेमाश्रम' की गायत्री यों तो सामाजिक जीवन में बड़ी मधुर है। पर किसानों के प्रति वह भी कम कठोर नहीं है, बेगार और दस्तूरी देने से इंकार करनेवाले किसानों के घर में वह आग लगवा देने के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

प्रेमचन्द की मध्यवर्गीय नारियों का प्रतिनिधित्व कुलसुम करती है। मध्य-वर्ग अभिशप्त वर्ग है। न वह उच्च वर्ग के समान लक्ष्मी के वरद पुत्रों से सम्पन्न है, न किसानों की भाँति नितान्त साधन-विहीन। उसकी स्थिति समाज में त्रिशंकु की भाँति है। न वह पृथ्वी पर ही है, न आकाश में ही। पति (ताहिर अली) के जेल चले जाने पर कुलसुम अपने गहने बेच-बेचकर बच्चों का पेट पालती है। इसी वर्ग में जालपा जैसी नारियों का भी अभाव नहीं है, जिनके आभूषण-प्रेम के कारण पारिवारिक शांति नष्ट बनी रहती है। वास्तविक स्थिति पर परदा डालने के लिए कर्ज लेने के लिए भी वह तैयार रहती है। आवश्य-कता पड़ने पर भी परिवार के कल्याणार्थ आभूषण बेचने के लिए नहीं देती है। प्रेमचन्द की मध्यवर्गीय नारियाँ स्वावलम्बिनी बनने के लिए उद्यत दृष्टिगत होती हैं और इस दृष्टि से मालती, सुखदा और सकीना के चरित्र उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मध्यवर्ग अनेक दोषों से अभिशप्त है। दहेज ('निर्मला', एवं 'सेवासदन' में), अनमेल विवाह ('वरदान' में), वैधव्य ('प्रतिज्ञा' में) आदि ने उसके अस्तित्व को खोखला कर डाला है, पर सामा-जिक, राजनैतिक चेतना इन मध्यवर्गीय नारियों में अत्यधिक है। यह चेतना उनकी सजीवता का द्योतक है। आज मध्यवर्ग के भाग्य और जीवन-क्षितिज पर भले ही विपत्तियों के बादल छा गये हों, पर वे एक दिन निश्चय ही छँटेंगे और उनके स्थान पर एक दिन इन्द्रधनुष की सतरंगी छटा छिटकेगी अवश्य। मध्यवर्ग का भविष्य उज्ज्वल है।

निम्नवर्गीय नारियों के चरित्रों की अभिव्यक्ति 'गोदान' 'गबन', 'कर्मभूमि' और 'प्रेमाश्रम' में हुई है। इस वर्ग के प्रति प्रेमचन्द की सर्वाधिक सहानुभूति थी। निम्नवर्ग आर्थिक संकटों से ग्रस्त है, पेट की ज्वाला उसे खाये जा रही है। झुनिया के जीवन के दो तिहाई दिन क्षुधा और संताप में ही बीत गये। भूखे और नंगे रहकर भी वह कर्ज और लगान के भार से अवकाश पाने के लिए आकांक्षी है पर वे दोनों अभिशाप भूत की तरह उसका पीछा नहीं छोड़ते हैं। वे निम्नवर्गीय नारियाँ अपमानित और अभावों से पूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं। इस वर्ग की नारियों में ईमानदारी, धर्म-भीरुता और ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा है। क्षमा, दया और त्याग की भावना इनके रग-रग में बहती है। उनमें

सुखमय सम्मानित जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति है, पर समाज की व्यवस्था उन्हें उठने नहीं देती है।

संक्षेपतः प्रेमचन्द ने भारतीय नारी का बड़ा कल्याणकारी रूप अपने उपन्यासों में व्यक्त किया है। भारतीय नारी में मानव सुलभ सभी गुण हैं। उसमें वात्सल्य भाव मूर्त रूप में विद्यमान है। क्षमा की वह देवी है। पर साथ ही उसमें मानव सुलभ दोष भी हैं। प्रेमचन्द ने यदि इन दोषों अथवा दुर्बलताओं को उपन्यास के चित्रपट पर न व्यक्त किया होता तो सम्भवतः ये नारी-पात्र प्रस्तर मूर्तियों के समान प्रतीत होते। ये नारी-पात्र मानवीय शाश्वत प्रवृत्तियों से युक्त हैं। भारतीय नारी कर्तव्य और विवेक-बुद्धि से सम्पन्न है और यह उसके उज्ज्वल भविष्य की द्योतक है।

———

सामाजिक उद्देश्य

[डा० इन्द्रनाथ मदान]

प्रेमचन्द की कला की भावना बड़ी ऊँची थी। जीवन की, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में उनके जो विचार थे, उनको व्यक्त करने का साधन ही वे कला को समझते थे। वही कारण है कि उनके उपन्यासों में सामाजिक उद्देश्य और सामाजिक आलोचना का समावेश है और वे मौलिक सामाजिक समस्याओं पर आधारित हैं। थॉमस हार्डी मानव-चरित्र के द्वारा भाग्य या भावी के विचार को व्यक्त करता है और उपन्यास के दूसरे तत्व इसी के अधीन रहते हैं। इसी प्रकार प्रेमचन्द भी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को प्रमुखता देते हैं और ये समस्याएँ कथा-वस्तु, पात्र, वर्णन तथा कहानी के अन्य तत्वों पर शासन करती हैं। वे इस संसार के सामाजिक-दार्शनिक हैं और उनका प्राथमिक उद्देश्य उस समाज के क्रमिक विकास का प्रदर्शन करना है, जो सामाजिक-आर्थिक विषमता और राजनीतिक दासता पर आधारित है। वे एक ऐसी समाज व्यवस्था का निर्माण करने के लिए लिखते थे, जिसमें किसी प्रकार का भय न होगा। उनका समाजवाद शुद्ध बौद्धिक विश्वास पर और ऊँचे प्रकार की भावुकता पर टिका हुआ है। उनके उपन्यास किसानों और मजदूरों के सामन्ती और आभिजात्य वर्ग के सभी प्रकार के शोषण के खिलाफ एक नैतिकतापूर्ण जिहाद हैं। उनका समाजवाद भी मानव-व्यक्तित्व के प्रति महान् आदर पर आधारित है। वह इसमें विश्वास करते हैं कि सबको समान अवसर मिले। उनके उपन्यासों में समानता के इस आदर्श की निरन्तर पुनरावृत्ति की गयी है। मुझको लिखे गये एक पत्र में उन्होंने कहा—'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रांति होती है। मेरा आदर्श है, प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नही हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रांति का

परिणाम हमारे लिए क्या होगा यह संदेहास्पद है। हो सकता है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीनकर तानाशाही के घृणित रूप में हमारे सामने आ खड़ा हो। मैं शुद्धिकरण के पक्ष में तो हूँ, उसे नष्ट करने के पक्ष में नहीं। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वंस से हमें स्वर्ग मिलेगा तो मैंने ध्वंस की भी चिन्ता नहीं की होती।'

इस प्रकार सैद्धान्तिक परिभाषा में प्रेमचन्द एक विकासवादी समाजवादी हैं। वे कष्ट-सहिष्णुता और अहिंसा द्वारा नैतिक दबाव डालनेवाली गांधीवादी नीति पर विश्वास रखते हैं। वे क्रांति से डरते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में क्रांति यूरोप की भाँति न जाने किस प्रकार की तानाशाही को जन्म दे। इसी भय के कारण वे सर्वहारा क्रांति की अपेक्षा वैधानिक और शांतिपूर्ण विकास के मार्ग पर चलना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

उनकी दृष्टि से साहित्य जीवन की गंभीर समस्याओं के सम्बन्ध में जनमत तैयार करने का शक्तिशाली साधन था। उन्होंने अपना यह दृष्टिकोण साहित्य के कार्य पर बनाया था, जो जीवन की व्याख्या करता है और उसे परिवर्तित करता है। कविता, नाटक, कथा या निबंध किसी भी रूप में क्यों न हो, उसे जीवन के महान् सत्य का उद्घाटन करना चाहिए; उसकी भाषा अत्यंत गठी हुई, प्रौढ़ और सुन्दर होनी चाहिए; तथा उसमें मस्तिष्क और हृदय दोनों को प्रभावित करने की शक्ति होनी चाहिए। प्रेमचन्द जासूसी उपन्यासों, अति प्राकृतिक कहानियों और सस्ती प्रेम-कथाओं का, जो कि उनके पहले प्रचलित थीं, विरोध करते हैं। इस युग के लेखक को जीवन से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था। वे रहस्य और जादू, प्रेम और रोमांस की दुनिया बनाते थे। इन कहानियों का ध्येय पाठकों का मनोरंजन करना और उनके कौतूहल और आद्भुत्य की भावना को शान्त करना था। यह एक शून्य और निर्जीव संसार था। प्रेमचन्द ऐसे साहित्य-सृजन के पक्ष में थे, जिसका सबसे बड़ा उद्देश्य मनुष्य के भीतर उन उच्च प्रवृत्तियों और आध्यात्मिक गुणों का विकास करना है जो उसे एक अच्छे संसार के निर्माण करने में आनेवाली बाधाओं को जीतने की शक्ति दे सकें। उनका कहना था कि यह सामाजिक कार्य अतीत काल में धर्म के द्वारा किया गया है। अतीत कालीन संस्कृति उन धर्मशास्त्रों

पर आधारित थी, जिनमें पाप के भय और पुण्य के पुरस्कार का उल्लेख है। साहित्य ने धर्म का कार्य ले लिया है लेकिन उसी उद्देश्य को प्राप्त करने की इसकी विधि है मनुष्य के भीतर गहन और तीव्र सौंदर्य-प्रेम उत्पन्न करना। साहित्यिक कृति की श्रेष्ठता और महानता मनुष्य के भीतर उसकी इसी सौंदर्य-प्रेम को जगाने की क्षमता पर निर्भर है। वे जीवन के संताप, कुरूपता और दरिद्रता के साथ समझौता करने में कठिनाई अनुभव करते थे। जो कुछ भी अभाव उन्हें मानवता में दिखायी देता था वह उनके लिए असह्य हो जाता था। कलाकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उन लोगों की सहायता करे और उनका पक्ष ले, जो कि सामाजिक तथा आर्थिक अन्याय के शिकार हैं। उसे न्याय और प्रेम की भावना को जागृत करके समाज की अदालत में उनके मामले की वकालत करनी है। जिस समय वह उनके मामले की वकालत कर रहा हो उस समय उसे यह अधिकार नहीं कि वह साधारण वकील की भाँति सत्य को बढ़ा-चढ़ाकर या उसे बिगाड़कर सामने लाये। वह यथार्थवादी ढंग से कहानी लिखते हैं और मनुष्य का सजीव चित्र अंकित करते हैं। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे सावधानी से और निकट से जीवन को देखते हैं, मानव-मन की आन्तरिक हलचल का अध्ययन करते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके पात्र चेतना और जीवन से परिचालित होते रहें।

प्रेमचन्द का मत है कि प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिशील होता है। वे केवल उन फूलों को प्यार करते हैं, जो फल लाते हैं और उन बादलों को प्यार करते हैं, जो पानी बरसाते हैं। वे सौंदर्य के लिए सौंदर्य को प्रेम नहीं करते, वरन् सौंदर्य वह है, जो जीवन को ऊँचा उठा दे। अतीतकाल में इन भावनाओं ने धार्मिक विचारों के आदर्शवादियों और नेताओं को प्रेरणा दी है। वे पृथ्वी पर स्वर्ग बनाने के अपने स्वप्न को पूरा करने में असफल रहे हैं। सामाजिक समता का आदर्श जो कि जीवन का महान् आदर्श है, धर्म के द्वारा प्राप्त नहीं हुआ है। कलाकार केवल धनिकों की विचारधारा को ही व्यक्त करता रहा है। उसकी आँखें सदा उनके विलासपूर्ण प्रासादों पर रही हैं, गरीबों की टूटी-फूटी झोंपड़ियों पर नहीं। यह सत्य ही है कि उसने सदैव इन लोगों को मानवता और संस्कृति के क्षितिज के परे की वस्तु समझा है। यदि उसने

साहित्य में इनका वर्णन किया भी है तो केवल उनके जीवन का उपहास करने के लिए। प्रगतिशील लेखक मनुष्य को समाज से अलग करके नहीं देखता, वरन् वह मनुष्य और समाज के बीच और भी घनिष्ठ सम्बन्ध की कल्पना करता है। मनुष्य मनुष्य का शोषण करने के लिए पैदा नहीं हुआ है, बल्कि उसे ऐसा बना दिया गया है। दोनों में कोई प्राकृतिक विरोध नहीं है। इसके विपरीत उसका जीवन समाज के विकास पर आधारित है। साहित्य का कार्य एक विशेष युग में उत्पन्न विरोध को दूर करके उन्हें परस्पर निकट ला देना है। इसी लिए प्रगतिशील साहित्य कर्मशीलता का पथ-प्रदर्शक है।

ग्राम्य-जीवन का चित्रण करने में प्रेमचन्द अग्रदूत हैं और उन्होंने इस जीवन का चित्रण करते समय—उसके विकास और विस्तार के एक विशेष समय में—अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जमीन जोतने-वाला या कुदाली चलानेवाला व्यक्ति शोषण का सबसे बड़ा शिकार है। एक लेखक दो कामों में से एक ही काम कर सकता है। या तो वह जमींदारों और पूँजीपतियों के विलासी जीवन को अपना आदर्श बना ले या किसानों और मजदूरों के दुखी जीवन के चित्र अंकित करे। प्रेमचंद ने देहाती जीवन की समस्याओं पर अद्भुत सूक्ष्मदर्शिता और सहानुभूति से विचार किया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक उनकी दरिद्रता और भूख का भी वर्णन किया है, जो जमीन जोतते हैं, बीज बोते हैं परन्तु जिनका फसल पर कोई अधिकार नहीं होता। फिर उन्हें देहात के उस खुले जीवन में अत्यंत संतोष मिलता है, जो अभी औद्योगीकरण के कारण विकृत नहीं हुआ है। वे गाँव के शांत वातावरण को अत्यधिक प्यार करते हैं। अमरकांत सुदूर देहात में एक अछूतों की बस्ती देखता है और उसका आदर्श स्थान के रूप में विस्तार से वर्णन करता है, जहाँ कि वह अपना जीवन आराम से बिता सकता है। नगर के क्षयी जीवन का शिकार एक नागरिक इस आदर्श स्थान में शांति और सान्त्वना प्राप्त कर सकता है। गाँवों को आदर्श बनाने की बात उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में बार-बार कही है। वे कहते हैं कि आज का किसान दुखी है, परन्तु भूतकाल में ऐसा नहीं था। वे दो ऐसे किसानों के चित्र देते हैं, जिनमें भारी अन्तर है। उनमें से एक किसान तो ऐसा है, जो सामन्तवादी व्यवस्था में रह रहा

है और उसमें उसके तथा उसके मालिक के सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ प्रत्यक्ष और मानवीय हैं। दूसरा किसान आज का है। प्रेमाश्रम' में दलपतसिंह खेती से समृद्धि की हानि होने पर शोक प्रकट करता है। पैदावार प्रति एकड़ बहुत कम हो गयी है, किसान की खरीदने की ताकत भी घट गयी है और जमीन पर दबाव बढ़ गया है।

प्रेमचन्द ने देहात की दरिद्रता का सच्चा और करुण चित्र अंकित किया है। किसान के घर में न धातु के चौके के बर्तन हैं, न बिस्तर है और न खाट। उसकी झोंपड़ी में जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का भी साधन नहीं है। झोंपड़ी में दो ही छोटी कोठरियाँ हैं—एक आदमियों के लिए और दूसरी जानवरों के लिए। इन कोठरियों में न हवा पहुँच पाती है, न रोशनी। अपने गाँव में इस स्थिति को देखकर मायाशंकर को बड़ा धक्का लगता है। वह देखता है कि वहाँ किसान चिथड़ों में लिपटे हैं और वह उनके लिए भुना हुआ चावल ही जुटा पाता है। उनके पशु दुर्बल हैं, खाने की तंगी है और दूध कम है। उदाहरण के लिए हारी के पास ठण्ड और जाड़े की तीखी हवा से बचने के लिए कपड़े तक नहीं हैं। उसके पास तम्बाकू की पत्तियाँ भी नहीं हैं, जिससे कि वह लम्बी जाड़े की रात को काट सके। तम्बाकू पीना ही एक ऐसा उपाय है, जिससे वह सर्दी के पीड़ा पहुँचानेवाले प्रभाव को भुला सकता है। वह तम्बाकू के अभाव में अपने शरीर को सिकोड़कर और उसे फटे कम्बल में लपेटकर सर्दी के प्रभाव को भुलाने की चेष्टा करता है। उसकी अपनी साँस भी उसके शरीर को गर्म रखने में सहायता देती है। किसान की यही दरिद्रता क्रोध उत्पन्न करती है। संक्रामक रोगों से परिवार-के-परिवार नष्ट हो जाते हैं, बाढ़ें गाँव-के-गाँव बहा ले जाती हैं। बेचारे असहाय ग्रामीण रोगों और मृत्यु को दीर्घकालीन उदासीनता और परम्परागत शान्ति के साथ देखते रहते हैं। वे इन आपत्तियों और दूसरी बाधाओं को इस प्रकार सहते हैं मानों ये अवश्यम्भावी हों। जीवन के संघर्ष ने उनमें से बहुतों को पतित और पशु बना दिया है। वे घृणा और ईर्ष्या, लोभ और स्वार्थ से भरे हैं। 'प्रेमाश्रम' में ऐसे उदाहरणों की भरमार है जैसे एक किसान अपने भाई के साथ इसलिए विश्वासघात करता है क्योंकि जमींदार का कारिन्दा ऐसा चाहता है। 'रंगभूमि' में ऐसे किसानों की भारी

तादाद है, जो अपने नाते-रिश्तेदारों की रिपोर्ट पुलिस में लिखाते हैं। होरी का भाई उसकी गाय को इसलिए नहीं देख सकता कि वह उसकी समृद्धि का प्रतीक है। इस प्रकार दरिद्रता ने इन प्राणियों का, जो कि कभी मनुष्य थे, पतित कर दिया है। सामाजिक रीति-रिवाज उन्हें भारी ऋण में फँसा देते हैं। विवाह, जन्म और मृत्यु के कुछ ऐसे अवसर हैं, जब उन्हें अपनी शक्ति से अधिक काम करना चाहिए। वे साहूकार से रुपया उधार लेने को बाध्य होते हैं। यह ऐसा ऋण होता है, जिसको चुकाने की आशा वे अपने जीवन में नहीं कर सकते। वे ऋण चुकाने के लिए अपने ढोरों, अपने बर्तनों और अपने घर तक को बेचने के लिए बाध्य होते हैं। प्रेमचन्द उनकी देशी शराब पीने की आदत की ओर भी संकेत करते हैं। भोला शराब की दुकान में अपना सब-कुछ दाँव पर लगा देता है। एक समय आता है, जब किसान स्वयं इस विलास में डूबा नहीं रह सकता। गिरधर एक ऐसा ही किसान है, जो दरिद्रता की इस स्थिति तक पहुँच गया है कि वह अपनी साल-भर की कमाई में से ताड़ी या देशी शराब के लिए केवल एक आना ही बचा पाता है।

प्रेमचन्द लोगों को दो वर्गों में चित्रित करते हैं—शोषक और शोषित। शोषकों में उन सबकी गणना करते हैं, जो किसानों और भूमिहीन मजदूरों को दबाते हैं। उनमें जमींदार सबसे पहले आता है। पुराने ढंग का जमींदार-वर्ग लुप्त हो रहा है और उसके स्थान पर एक नये ढंग का ज़मींदार-वर्ग सामने आ रहा है, जो गरीब जनता के ऊपर अत्याचार करने में बहुत अधिक निर्मम है। ज्ञान-शंकर ज़मींदारों के नये वर्ग का प्रतिनिधि है। वह कभी-कभी अपने किसानों में घृणा उत्पन्न कर देता है, जो उसे कलंकित और अपमानित करते हैं। वह पाश्चात्य शिक्षा की उपज है। उसकी आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं—व्यसन कई गुने हो गये हैं। उसे किसानों से अधिक रुपया वसूल करने की आवश्यकता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ये सभी ज़मींदार, जो ग़रीब जनता की कमाई पर जीते हैं, इस उपन्यास के तीसरे अध्याय में उनका वर्णन और आलोचना विद्यमान है। लेखक की तीक्ष्ण दृष्टि से पुलिस और छोटे कर्मचारियों द्वारा किये गये अत्याचार भी नहीं बच पाये हैं। कृषि-सम्बन्धी प्रत्येक उपन्यास में उन्होंने उनका विस्तृत वर्णन किया है। गाँव में समाज के स्तम्भों का इतनी

बुरी तरह भण्डाफोड़ किया गया है कि उनके व्यक्तिगत चरित्र और सामाजिक आचरण के बीच की असंगतियाँ शीशे की तरह साफ हो गयी हैं। उन सर्वशक्तिमान चपरासियों की भी निर्दयतापूर्वक निन्दा की गयी है, जो अपढ़ और असहाय ग्रामीणों पर अनुचित अधिकार जताते रहते हैं। रिश्वत और भ्रष्टाचार की प्रथा का वर्णन इन उपन्यासों में विस्तार के साथ किया गया है। उनमें से रामसेवक नामक एक पात्र तो डाक्टरों, स्कूलों के इन्सपेक्टरों, सिंचाई, लगान, एक्साइज़ और ग्रामसुधार विभाग के अफसरों तक को नहीं छोड़ता। वे सब उसी थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इस निर्मम शोषण के परिणाम बड़े शोकजनक होते हैं। भारतीय किसान मज़दूर बनने को बाध्य किया जाता है। होरी एक कठिन परिश्रम करनेवाले और ईमानदार किसान का ऐसा उदाहरण है, जिसे अपनी ज़मीन को बेचकर मजदूर होने के लिए विवश किया जाता है। बलराज और गोबर नयी चेतना के प्रतिनिधि हैं, और वे अपने वर्ग के निर्मम शोषण के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। वे वर्ग के आधार पर किसानों का संगठन कर उनका नेतृत्व नहीं करते, वरन् उनका नेतृत्व मध्यवर्ग के प्रगतिशील अंश द्वारा होता है। अंतिम उपन्यास में रामसेवक किसानों को संगठित करने के लिए एक सूत्र में बाँधने में सफल हो जाता है। वह कहता है कि उन्हें शोषण के विरुद्ध खड़ा होना चाहिए अन्यथा वे हर एक आदमी द्वारा कुचले जायँगे।

प्रेमचन्द सुधार के ऐसे सुझाव पेश करते हैं, जिनसे कि गरीब किसानों का भला हो सकता है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर, ज्वालासिंह, डाक्टर प्रियनाथ और इरफानअली, 'रंगभूमि' में रानी जाह्नवी और विनयसिंह, 'कर्मभूमि' में अमरकान्त, समरकान्त, प्रोफेसर शांतिकुमार और सलीम गरीबों की सहायता के लिए कष्ट सहते हैं। इन गरीबों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए लेखक गाँवों के औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं है। अपढ़ किसानों को पढ़ाने से ही दरिद्रता की समस्या नहीं सुलझ सकती। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का आधार सहयोग न होकर प्रतियोगिता है, इसलिए उनमें इससे ईर्ष्या, घृणा और अवांछनीय प्रतिस्पर्द्धा पैदा हो जायगी। किसानों की दशा सुधारने के लिए जिन क्रांतिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता है वे विधान-सभाओं की मन्दगति और असमंजसपूर्ण स्थिति से संभव नहीं है। समाज-सुधारक क्रांतिकारी

नारे लगाकर अपने वर्ग का ही हित-साधन करते हैं। जमींदार अपने किसानों को साधारण-सी सहूलियत दे सकते हैं। अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द मौलिक आर्थिक समस्याओं के हल के लिए इधर-उधर भटकते दिखायी देते हैं। बीस और तीस के राष्ट्रीय आन्दोलनों के समय वे गांधीवादी विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित थे। एक ईमानदार कलाकार के नाते उन्होंने इसकी सामर्थ्य की जाँच की और पाया कि भयंकर बीमारी के लिए यह एक साधारण-सा इलाज है। भारतीय किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलनों में जो-जो प्रयत्न हुए हैं, उन सबका वर्णन प्रेमचन्द ने सचाई के साथ किया है। होरी जैसा पहले दुखी था वैसा अब भी है। इन वर्षों में उसकी स्थिति इतनी बिगड़ गयी है कि वह अन्त में उन शक्तिशाली आर्थिक शक्तियों का शिकार हो जाता है जो अपने प्रयोग के समय और भी क्रूर हो उठती हैं।

वैधानिक तरीकों से सामाजिक और आर्थिक सुधार में प्रेमचन्द का विश्वास बहुत कम है। वे वैधानिक सभाओं के उन सदस्यों से अधिक आशा नहीं करते जो कि पीड़ित जनता की भलाई के लिए निरन्तर व्यापक और रचनात्मक कार्यक्रम ही बनाते रहते हैं। अपने निजी स्वार्थों की सिद्धि के लिए चुनाव लड़नेवाले समाज-सुधारकों और विधानवादियों के सम्बन्ध में 'सेवा-सदन' में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। मध्यवर्ग के इन अपने से ही सन्तुष्ट रहनेवाले नेताओं का उन्होने विस्तार से चरित्र-चित्रण किया है। समय-समय पर ये नेता किसानों और मजदूरों की गरीबी से बेचैन हो उठते हैं, लेकिन इन समस्याओं पर कुछ प्रश्न पूछकर वे फिर अपने को शान्त कर लेते हैं। डा० श्यामनारायण, राय कमलानन्द, गाँगुली बाबू विधान सभाओं के कार्य की निरर्थकता का अनुभव करते हैं। वे जानते हैं कि कौंसिलें केवल वाद-विवाद समितियाँ हैं, जो किसी राष्ट्र को स्वतन्त्रता नहीं दिला सकतीं। इन संस्थाओं के खोखलेपन, निरर्थकता और शून्यता का प्रेमचन्द ने खूब भण्डा-फोड़ किया है, क्योंकि ये संसार को धोखा देने के लिए बनायी गयी हैं। प्रति दस वर्ष बाद छेड़े जानेवाले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक जनांदोलन में उनका गहरा विश्वास था। उन्होंने गृह-उद्योग-धंधों, मद्य-निषेध और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के कार्यक्रम का समर्थन किया। उन्होंने सदैव उस किसान

पर अपनी दृष्टि रखी जो कि इस देश की रीढ़ है। उसके अनुसार स्वराज्य उन किसानों की माँग थी, जो सहयोग के आधार पर भूमि का वितरण देखकर फिर नवजीवन प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए जमींदार को बनाये रखने की जरूरत नहीं है। लेकिन साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक आंदोलन से जमींदारों को निकाल दिया जाय। वे भूमि और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के क्रांतिकारी मार्ग की अपेक्षा सुधारों के विकासवादी मार्ग में विश्वास रखते थे। उसके साथ ही वे यह भी नहीं चाहते थे कि एक शोषक के स्थान पर दूसरा शोषक आ जाय। जो लोग राष्ट्रीयता की आड़ में पूँजीवादी हितों की स्थापना करना चाहते हैं, उनके वे घोर विरोधी थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वे एक समाजवादी थे और उनका समाजवाद मार्क्सवाद की नकल पर नहीं बना था वरन् किसानों के जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से ही उसका निर्माण हुआ था। यह अधिक मूल्यवान है, क्योंकि उन्होंने इसे युग के वास्तविकतापूर्ण वातावरण से ग्रहण किया था। उन्होंने स्पष्ट रूप से कम्यूनिज्म के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया है। वे कहते हैं—'कम्यूनिज्म चाहे फैले, चाहे न फैले परन्तु एक आदर्श समाज का आधार बदल गया है। दूसरी दुनिया के बारे में भारतवर्ष जैसा रूढ़िवादी देश विचारमग्न रह सकता है लेकिन सारा संसार समाजवाद की ओर बढ़ रहा है। समाजवादी का नास्तिकतावाद और बिना जन्म और परम्परा का विचार किये सबको समान अवसर देना सच्चे धर्म के अधिक निकट है।'

इस देश की आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते हुए प्रेमचन्द ने इस बात का परिचय दिया है कि इनके सम्बन्ध में उनका ज्ञान कितना विशाल है। उन्होंने राजनीतिक सभाओं, जलूसों, लगानबन्दी आन्दोलनों और पूर्ण स्वराज्य के लिए छेड़े गये जनान्दोलनों के वर्णन में अद्भुत शक्ति का प्रदर्शन किया है। ऐसे आन्दोलनों में उनको अहिंसा के प्रश्न का सामना करना पड़ा है। उन्होंने देखा कि भीड़ सदा अहिंसक नहीं रह सकती और उसे इस हद तक उत्तेजित करना सम्भव है कि वह किसी भी प्रकार की अनुनय-विनय से वश में न रहे। वे अहिंसा में सिद्धान्त के रूप से विश्वास नहीं

रखते थे वरन् उसे स्वराज्य के लिए उचित अस्त्र और नीति समझकर अपनाने के पक्ष में थे। उन्होंने संघर्ष की प्रत्येक स्थिति और स्वरूप को देखा था। उन्होंने इसे विभिन्न वर्गों और सामाजिक दलों के साथ सम्बन्धित करके भी देखा। पूँजीवादी इसमें शामिल हुए और इसका नाश कर दिया, सरकारी अफसर साधारणतः इसके विरोध में थे, मध्यवर्ग ने बहुत कुछ सोच-विचार के बाद इसमें भाग लिया, लेकिन किसानों और मजदूरों ने इसे शक्ति और सामर्थ्य दी। इतना होते हुए भी उन्हें इससे कोई लाभ नहीं हुआ। इसने मध्य और उच्चवर्गों को ही लाभ पहुँचाया है। जीवन की आर्थिक समस्या पर अधिकाधिक बल देने के कारण वे समाज में वर्ग-चेतना पर अपना ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं। यही कटु अनुभव था, जिसके कारण कि वे नयी परिस्थिति को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए। किसानों के प्रति तीव्र प्रेम ने उन्हें समाजवाद में निष्ठा रखने के लिए बाध्य किया और इस नये दृष्टिकोण ने उनके पिछले ग्रन्थों को नवीन सामाजिक उद्देश्य से पूर्ण बनाया।

प्रेमचन्द परम्परा के अन्धानुयायी नहीं थे, तो भी वे प्राचीन सामाजिक ढाँचे की कुछ मौलिक मान्यताओं और आदर्शों को अपनाये रखना चाहते थे। उन आदर्शों में एक है सम्मिलित परिवार प्रथा, जिसने कि समाज के हित के लिए बहुत कुछ किया है। चूँकि सामाजिक सुधारों पर उन्होंने नैतिक दृष्टि से विचार किया है, इसलिए उन्होंने परिवार में सामाजिक सम्बन्ध पर जोर दिया है। समाज केवल एक बड़ा परिवार है। सम्मिलित परिवार ने अपने सदस्यों के बीच केवल प्रेम और सहयोगी प्रयत्नों को ही प्रोत्साहन नहीं दिया वरन् इसने उन लोगों को आर्थिक सुविधा भी दी, जो कि इसकी आवश्यकता अनुभव करते थे। यह कार्य गाँवों में विशेष रूप से हुआ, क्योंकि वहाँ एक व्यक्ति के लिए अकेले अपने खेत को कमाना कठिन था। परिवार में मतभेदों और झगड़ों के होते हुए भी सहयोगी प्रयत्न आगे बढ़ सकते थे। देहात में जमीन और जायदाद के बँटवारे ने परिवार के सभी सदस्यों को संकट में डाल दिया था। प्रेमचन्द ने इस समस्या से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कहानियों में इस बात को दिखाया है। वे पारस्परिक सहायता और सहयोग पर आधारित सम्मिलित परिवार की संस्था को आदर्श का रूप देते थे। इसके छिन्न-भिन्न

ने का कारण वे स्त्रियों के झगड़ों, विमाताओं की उपस्थिति, बड़ी उम्र में होने-
ाली आदमियों की शादियों और समाज में विधवाओं की समस्याओ को
ताते थे। उन्होंने उस नयी आर्थिक व्यवस्था पर कभी विचार नहीं किया जो
के परिवार-प्रथा और ग्राम्य-जीवन को छिन्न-भिन्न करने की उत्तरदायी है।
वाधीन ग्राम्य-समाज और जाति-प्रथा ये दो प्राचीन सामाजिक ढाँचे की विशेष
ातें थीं। तीसरी सम्मिलित परिवार-प्रथा थी, जिसे लेखक ने अपने ग्रन्थों में
आदर्श का रूप दिया है। सम्मिलित सम्पत्ति परिवार के सभी सदस्यों की
आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन समझी जाती थी, भले ही वे काम करने-
वाले हों या काम न करनेवाले हों। इसका अर्थ था सबके लिए कम-से-कम
सम्पत्ति की व्यवस्था। यह एक प्रकार का बीमा था, जिसमें नाबालिग और
शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अशक्त लोगों का भी भाग था। व्यक्तिगत
लाभ या महत्वाकाँक्षा पर जोर न देकर समूह पर जोर दिया जाता था।
सम्मिलित परिवार में रहने का अभिप्राय समाजीकरण की क्षमता का सम्पादित
करना था। समाजवाद में विश्वास रखनेवाले प्रेमचन्द इन संस्थाओं को
इसलिए बनाये रखना चाहते थे कि उनका उद्देश्य सामाजिक संरक्षण, स्था-
यित्व और समूह अर्थात् समाज का स्थिर बना रहना था। प्रगति उद्देश्य नहीं
था इसलिए प्रगति में बाधा पड़ी। पश्चिम की अत्यधिक व्यक्तिवादी सभ्यता
जिस प्रगतिको प्रोत्साहन देती है, वह लेखक को रुचिकर नहीं थी। सम्मिलित
परिवार और ग्राम्य-व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने से नयी समस्याएँ उठ खड़ी
हुईं और उन्होंने नये दृष्टिकोण का विकास किया। लेखक ने अपने उपन्यासों
और कहानियों में इस पर पश्चात्ताप प्रकट किया।

जनता के जीवन में होनेवाले इन भारी परिवर्तनों को प्रेमचन्द ने देखा
था। उन्होंने इनको अपने उपन्यासों और कहानियों में इसलिए स्थान दिया
कि जिससे उत्साही मध्यवर्ग का ध्यान उन नयी समस्याओं पर केन्द्रित हो जाय
जो पूँजीवादी सभ्यता के कारण उत्पन्न हो गयी थीं। उन्होंने अपनी कला
का प्रयोग ग्रामीण जीवन और उसकी समस्याओं के चित्रण के लिए किया।
महात्मा गाँधी ने लेखकों और कार्यकर्ताओं का ध्यान देहात की ओर खींचा
और उन्होंने इस युग की कला और जीवन पर अत्यधिक प्रभाव डाला।

उन्होंने लेखकों को एक विचारधारा दी, जिसे उन्होंने अपने ग्रन्थों में व्यक्त किया। वे ताजी हवा के उस तीव्र झोंके के समान थे, जो लोगों को थकान दूर करने और गहरी साँस लेने का अवसर देता है; वे प्रकाश की उस किरण के समान थे, जो अन्धकार को वेध देती है और उनकी आँखों की पलकों को खोल देती है; वे उस बवंडर के समान थे, जो बहुत-सी चीजों को अस्त-व्यस्त कर देता है, लेकिन जो सबसे अधिक हलचल मनुष्य के मस्तिष्क में पैदा करता है। वे लाखों भारतवासियों के बीच से ऊपर आये थे। वे उनकी भाषा बोलते थे तथा निरन्तर उनकी और उनकी गरीबी की ओर लोगों का ध्यान खींचते रहते थे। उन्होंने विभिन्न मात्राओं में लाखों ही को प्रभावित किया। प्रेमचन्द ने अपने जीवन का सारा क्रम बदल दिया। वे प्रगतिशील लेखक बन गये और उन्होंने अपना ध्यान प्रमुख रूप से भारतीय किसान पर केन्द्रित कर दिया। उन्होंने [illegible]मक दृष्टि से देहात को अधिक महत्व दिया। उन्होंने मध्यवर्ग पर भी लिखा, जो कि प्रगतिशील और प्रतिगामी दोनों था। प्रगतिशील तो इसलिए कि वे अतीत की कटु आलोचना करते थे और प्रतिगामी इसलिए कि वे कटु वर्तमान की अपेक्षा अतीत को आदर्श मानते थे और उसके पुनर्निर्माण की आशा रखते थे। जैसा कि पहले कहा गया है, प्रेमचन्द ने प्रतिभा का पूरा-पूरा प्रकाशन किया। 'उन्होंने नवीन वर्गचेतन का विकास करते हुए दास और भयभीत किसानों के सम्बन्ध में लिखा; उन्होंने राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेकर अपने युग-युग के विषाद को नष्ट करनेवाले मध्यवर्ग के लोगों का चित्रण किया; उन्होंने मरती हुई सामन्ती व्यवस्था और तेजी से आती हुई पूँजीवादी सभ्यता का वर्णन किया। वे निश्चय ही एक ऐसे मानवतावादी थे, जिनका कि मनुष्य की गरिमा में अगाध विश्वास होता है।' तीसवर्ष तक साहित्य-सृजन करने का अर्थ यह था कि वे इस बात की उत्कट अभिलाषा रखते थे कि पाठकों में जीवन के प्रति सक्रिय दृष्टिकोण रखने की भावना पैदा हो जाय। उन्होंने उन सभी बुराइयों के विरुद्ध युद्ध किया, जो मनुष्य को उस नवीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करने से रोकती हैं, जिसमें कि सबको समान अवसर मिलता है। इसी सामाजिक उद्देश्य से उनका साहित्य अनुप्राणित था।

———

अ
जिर
(01

